[यह केवल निजी प्रयोग हेतु, **अप्रकाशित तथा संशोधन** अपेक्षित संग्रह है]

॥ ओ३म् ॥

॥ वैशेषिक दर्शन ॥

ब्रह्ममुनि संस्कृत भाष्य सहित

भाष्यकार

पूज्य स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

सूत्रार्थ व भाषार्थ

पूज्य स्वामी ब्रह्मविदानन्द सरस्वती

प्राप्ति स्थान

दर्शन योग धर्मार्थ ट्रस्ट, आर्यवन, रोजड द्वारा संबद्ध ऑनलाइन स्टोर

वैदिक वस्तु भंडार

Online Store- https://vedicbhandar.org

Mob.-+91 94094 15011, 94096 15111

विषय सूची

			पृष्ट
1)	प्रथमोऽध्याय:	प्रथमाह्निकम्	01
2)	प्रथमोऽध्यायः	द्वितीयाह्निकम्	32
3)	द्वितीयोऽध्यायः	प्रथमाह्निकम्	43
4)	द्वितीयोऽध्यायः	द्वितीयाह्निकम्	63
5)	तृतीयोऽध्यायः	प्रथमाह्निकम्	89
6)	तृतीयोऽध्यायः	द्वितीयाह्निकम्	99
7)	चतुर्थोऽध्यायः	प्रथमाह्निकम्	117
8)	चतुर्थोऽध्यायः	द्वितीयाह्निकम्	128
9)	पञ्चमोऽध्यायः	प्रथमाह्निकम्	138
10)	पञ्चमोऽध्यायः	द्वितीयाह्निकम्	149
11)	षष्ठाध्यायः	प्रथमाह्निकम्	171
12)	षष्ठाध्यायः	द्वितीयाह्निकम्	181
13)	सप्तमोऽध्यायः	प्रथमाह्निकम्	191
14)	सप्तमोऽध्यायः	द्वितीयाह्निकम्	210
15)	अष्टमोऽध्यायः	प्रथमाह्निकम्	228
16)	अष्टमोऽध्यायः	द्वितीयाह्निकम्	237
17)	नवमोऽध्यायः	प्रथमाह्निकम्	242
18)	नवमोऽध्याय:	द्वितीयाह्निकं	251
19)	दशमोध्याय:	प्रथमान्हिकम्	259
20)	दशमोध्यायेः	द्वितीयान्हिकम्	257

॥ ओ३म् ॥

वैशेषिक दर्शनं ब्रह्ममुनिभाष्योपेतम्
(स्वामी ब्रह्मविदानन्द सूत्रार्थ भाषार्थ सहित)

प्रथमोऽध्यायः तत्र प्रथमाह्निकम्

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥१॥

(अथ) 'अथ' शब्दोऽधिकारार्थः, अधिकारः प्रस्तावो विषयप्रारम्भः प्रारभ्यते खलु विषयः, सम्प्रति (अतः) हेतौ, मानवस्य प्रयोजनसिद्धिर्भवेदिति हेतोः (धर्मम्) तत्प्रयोजनसाधकं धर्मम् (व्याख्यास्यामः) निरूपयिष्यामः।

धर्मार्थकाममोक्षा इति पदार्थचतुष्टयं हि प्रयोजनं मानवस्य, तत्रार्थकामौ त्वभ्युदयः, मोक्षः खलु निःश्रेयसम्। तथाकृत्वा हि "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" इत्यनन्तरसूत्रम्। किमत्र मनुस्मृत्यादिधर्मशास्त्रेषु वर्णितो वर्णाश्रमधर्मो यद्वा "अथातो धर्मजिज्ञासा" इत्यधिकृत्य जैमिनीयमीमांसाशास्त्रे प्रदर्शितः कर्मकाण्डाख्यो धर्मो व्याख्यास्यते किंवाऽन्यतमः कश्चित् इति जिज्ञासायामस्तीदं वैशेषिकं दर्शनम्, अत्र तु धर्मविशेषस्तद्भिन्न एव व्याख्यातुं युक्तः। उक्तं हि "धर्मविशेषप्रसूतात्" (४)॥१॥

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥१॥

पदार्थ :- (अथ) अब (धर्मं) धर्म की (व्याख्यास्यामः) व्याख्या की जाती है; (अतः) इसलिए कि जिससे मनुष्य का चतुष्ट्य प्रयोजन सिद्ध होवे।

सूत्रार्थ :- अब एक विषय का आरम्भ किया जाता है, कि जिससे मनुष्य का चतुष्ट्य प्रयोजन सिद्ध होवे, इसलिए धर्म की व्याख्या करेंगे ॥१॥

भाषार्थ:- *(अथ)* अथ शब्द यहाँ सूत्र में अधिकार के लिए पढ़ा गया है, अधिकार का अर्थ है प्रस्ताव, विषय का आरम्भ = विषय का आरम्भ किया जाता है, अब *(अतः)* अतः शब्द हेतु अर्थ में पढ़ा गया है, मानव के प्रयोजन की सिद्धि हो, इस हेतु से *(धर्मम्)* उस प्रयोजन को सिद्ध करने वाले धर्म का व्याख्यान, निरूपण, ज्ञापन करेंगे।

धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष ये चार पदार्थ ही मानव के प्रयोजन हैं, उनमें अर्थ और काम ये तो अभ्युदय हैं तथा मोक्ष निःश्रेयस है, धर्म इन दोनों का साधन है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है वह धर्म है, *"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"* (जो इससे अगला सूत्र है)। क्या यहां पर (इन ग्रंथों में) मनुस्मृति आदि धर्म शास्त्रों में वर्णित जो वर्णाश्रम

धर्म है, उसका व्याख्यान करेंगे या जैमिनी ऋषिकृत मीमांसा शास्त्र में प्रदर्शित कर्मकांड नामक धर्म का व्याख्या करेंगे? या अन्य ही कोई धर्म है जिसकी व्याख्या करेंगे ?

इस जिज्ञासा में यह वैशेषिक दर्शन है, इस वैशेषिक दर्शनशास्त्र में धर्म विषय जो मनुस्मृति, जैमिनी आदि से भिन्न की व्याख्या करना युक्त है। कहा भी है :- *"धर्मविशेषप्रसूतात् "*अर्थात् धर्म विशेष से उत्पन्न (तत्त्व ज्ञान से निःश्रेयस होता है) ॥१॥

स च धर्मः किंस्वरूपः किम्फलो वेत्युच्यते –

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥२॥

*(यतः) यस्मात् खलु यदनुष्ठानादिति यावत् (अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः) अभ्युदयस्य – अभिमुखीभूतस्योदयस्य भाविन उत्कर्षस्य – इह परत्र च जन्मनि सांसारिकसुखैश्वर्यस्य * पुनश्च निःश्रेयसस्य नितान्तकल्याणस्य मोक्षस्य सिद्धिर्भवेत् (सः धर्मः) स खलु धर्मो धर्मपदवाच्यः स चात्र व्याख्यातव्यः।*

न केवलं सांसारिकसुखैश्वर्यं धर्मो न च मोक्षमार्गचिन्तनमात्रं धर्मः किन्तूभयसहभावो यद्वोभयसम्पत्तिर्धर्मः। तदत्र वैशिष्ट्यं यदभ्युदयरूपभूमिकोपरि निःश्रेयसमवतिष्ठतेऽथ च निःश्रेयसस्य छायायामभ्युदयः सम्प्रतिष्ठते। धर्ममाश्रित्यार्थकामौ साध्यौ तावेवाभ्युदयः प्रयोजनमेकम्, अपरञ्च धर्ममुपजीव्य निःश्रेयसं मोक्षः साध्यः, इति प्रयोजनं द्वितीयम्। एवं प्रयोजनद्वयं साध्यं धर्मतः ॥२॥

वह धर्म कैसा स्वरूपवाला है (किस प्रकार का है) उसका फल क्या होता है? आदि के विषय में कहते हैं-

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥२॥

सूत्रार्थ :- *(यतः)* जिस साधन से *(अभ्युदय)* तत्व ज्ञान, निष्काम कर्म और ईश्वर उपासना "अर्थ और काम" आदि तथा *(निःश्रेयस)* मोक्ष की *(सिद्धिः)* सिद्धि होती है; *(स धर्मः)* उसे धर्म कहते हैं।

भाषार्थः- *(यतः)* जिससे अर्थात् जिस का अनुष्ठान=व्यवहार करने से= आचरण करने से *(अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः)* अभ्युदय - सामने आने वाली या समूह को प्राप्त हुए का, व आगे आने वाले उत्कर्ष - इस जन्म में या दूसरे जन्म में सांसारिक सुख ऐश्वर्य की सिद्धि और निःश्रेयस = नितांत कल्याण मार्ग = मोक्ष की सिद्धि होती *(सः - धर्मः)* वह धर्म है अर्थात् जिससे सांसारिक सुख ऐश्वर्य और मोक्ष की प्राप्ति होती है, उस धर्म की शास्त्र में व्याख्या करने योग्य है।

केवल सांसारिक सुख ऐश्वर्य धर्म नहीं और ना केवल मोक्ष मार्ग के लिए चिंतन मात्र करना धर्म है; किंतु दोनों का सहभाव या दोनों की संपत्ति बनना अर्थात् अभ्युदयपूर्वक

निःश्रेयस को प्राप्त करना “धर्म” है। यहां पर यह विशेषता है कि अभ्युदय के ऊपर ही निःश्रेयस टिका हुआ है और निःश्रेयस की छाया में अभ्युदय प्रतिष्ठित है। धर्म को आश्रय करके अर्थ और काम साध्य है, यही अभ्युदय पहला प्रयोजन है और धर्म का आश्रय लेकर निःश्रेयस अर्थात् अत्यंत दुख से छूट जाना, जो मोक्ष है वह भी साध्य है; ये दूसरा प्रयोजन है। दोनों प्रयोजन धर्म से साधने योग्य है ॥२॥

किञ्च मनुस्मृत्यादिधर्मशास्त्रेषु प्रतिपादितस्य तथा पूर्वमीमांसायां वर्णितस्य धर्मस्य व्याख्यानमत्र लक्ष्यं नास्ति ? पुनः किमन्यतमं धर्मं व्याख्यातुं निजाधिकारमथ च तथाकरणे स्वात्मानं प्रमाणीभूतं मन्यते भवान् ? उच्यते नैवम्, किन्तु –

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥३॥

*(तद्वचनात्) ‘तत्’ शब्देन प्रकृतो धर्मशब्दो गृह्यते। तस्य धर्मस्य वचनं तद्वचनम्, उच्यतेऽस्मिन्निति वचनम् ** प्रवचनशास्त्रं धर्मप्रवचनशास्त्रं तस्माद् धर्मप्रवचनशास्त्रत्वात् (आम्नायस्य प्रमाण्यम्) वेदस्य प्रमाणत्वं स्वीकुर्वे। आम्नायो वेदः खलु धर्मप्रवचनशास्त्रम्, उक्तं हि मनुना “वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (मनु. २।६) “धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः” (मनु. २।१३)।*

मान लिया मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित अथवा पूर्व मीमांसा में वर्णित धर्म की व्याख्या करना आपका उद्देश्य नहीं है, तो क्या इनसे भिन्न किसी अन्य धर्म की व्याख्या करने के लिए अपनी योग्यता को तथा अपने आपको आप प्रामाणिक समझते हैं? तो ऋषि ने कहा – ऐसी बात नहीं है, मै अपने आपको न तो दिखाना चाहता हूँ और न कोई नई बात रहा हूँ, अपितु जो कुछ वेदोक्त है उसे ही सबके सामने रख रहा हूँ – अतः मै अपनी बात नहीं कह रहा हूँ, किन्तु –

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥३॥

सूत्रार्थ :- धर्म का प्रवचन करनेवाला होने से मेरे द्वारा कथित धर्म के विषय में भी वेद की प्रामाणिकता ही सर्वोपरि है ॥३॥

भाषार्थ :- सूत्रोक्त ‘तत्’ शब्द से पीछे से आ रहे धर्म शब्द का ग्रहण इस सूत्र के साथ होता है, उस धर्म का प्रवचन। वचन शब्द की व्युत्पत्ति – जिसके अन्दर कुछ कहा जाए, उसे वचन कहते है अर्थात् प्रवचन शास्त्र अर्थात् धर्मप्रवचन शास्त्र इस कारण से, धर्मप्रवचन शास्त्र होने से, वेद की प्रामाणिकता स्वीकार करता हूँ *(आम्नायस्य प्रमाण्यम्)* ‘आम्नाय’ का अर्थ वेद होता है। यह ‘वेद’ धर्म प्रवचन शास्त्र है। जो मूल रूप में किया है, उसका व्याख्यान ऋषियों ने किया है जैसे मनु जी के द्वारा *“वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (मनु. २।६)* वेद समस्त धर्म का मूल

। *“धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः” (मनु. २।१३)*। जो धर्म को जानने की इच्छा करते हैं, वे श्रुति अर्थात् वेद का आश्रय लेवे ॥३॥

अथवा- सूत्र का दूसरा अर्थ इस प्रकार से भी संभव है –

मनुस्मृत्यादिधर्मशास्त्राण्युनुसृत्य यद्वा पूर्वमीमांसादर्शनं लक्ष्यीकृत्य धर्मव्याख्यानं न करोतु, तत्र भवतो धर्मव्याख्याने ततः किं वैशिष्ट्यमथ च किं लक्ष्यीकृत्य तद्वयाख्यानं क्रियते। अत्रोच्यते –

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥३॥

*(आम्नायस्य प्रामाण्यम्) मयाऽत्र व्याख्यातव्ये धर्मे वेदस्य प्रमाणत्वं स्वीक्रियते, वेदं लक्ष्यीकृत्य धर्मो व्याख्यास्यते। यतः (तद्वचनात्) ईश्वरवचनात् – ईश्वरस्य * प्रवचनात्, वेदः खलु ईश्वरप्रवचनम् “प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्” (यजु. ३४।५७) तथा च प्रशस्तपादः “ तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव” (प्रशस्तपादः) ॥३॥*

....

*। ‘तत्’ इति सर्वनाम प्रसिद्धमिदं ब्रह्मनाम “ओ३म् तत् सत्” :

मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र का अनुसरण करते हुए या मीमांसादर्शन को सामने रखते हुए धर्म की व्याख्या मत करो, तो भी आपके द्वारा व्याख्यात धर्म की विशेषता क्या है? आपने किसको लक्ष्य करके धर्म की व्याख्या कर रहे है? इस विषय में कनाद मुनि कहते है–

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥३॥

सूत्रार्थ :- *(तत्)* ईश्वर का *(प्रवचनात्)* वचन होने से हमारे धर्म की व्याख्या में *(आम्नायस्य)* वेद की प्रमाणिकता है ॥३॥

भाषार्थ :- *(आम्नायस्य प्रामाण्यम्)* मेंरे द्वारा इस व्याख्यान करने योग्य धर्म में वेद की प्रमाणिकता स्वीकार की गई है। वेद को लक्षित करके ही धर्म का व्याख्यान करेंगे क्योंकि *(तद्वचनात्)* तत् यह सर्वनाम ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध है *“ओ३म् तत्सत्”* में तो ‘तत्’ से ईश्वर का ग्रहण है। ईश्वर कथन होने से, ईश्वर का प्रवचन होने से वेद ईश्वर का है। इसमें प्रमाण देते हैं *“प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्” (यजु. ३४।५७)* वेद विद्या का रक्षक जगदीश्वर प्रशंसनीय पदार्थ में श्रेष्ठ वेद रूप मंत्र भाग को निश्चय कर अच्छे प्रकार कहता है ॥३॥

अस्मिञ्छास्त्रे व्याख्यातव्यो धर्मो न चैहिक इह लोके फलप्रदो मनुस्मृत्यादिधर्मशास्त्रप्रतिपाद्यो वर्णाश्रमधर्मो न चामुष्मिकः परजन्मनि फलप्रदो

मीमांसाशास्त्रवर्णितः कर्मकाण्डाख्यः, अपि तूभाभ्यां भिन्नो निःश्रेयसफलो धर्मविशेषस्तत्त्वज्ञानाख्यः। उच्यते च –

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसम् ॥४॥

*(द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमयवायानां पदार्थानाम्) द्रव्यादीनां षण्णां पदार्थपदवाच्यानाम् (साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्) अन्यैः सह समानधर्मत्वेन तुल्यधर्मत्वेन तथा विरुद्धधर्मत्वेनान्योन्यव्यावर्तकधर्मत्वेन नैजिकगुणवत्त्वेन च (धर्मविशेषप्रसूतात् तत्त्वज्ञानात्) आत्मनिप्रकटीभूतधर्मविशेषात् ** तत्त्वज्ञानात् तत्त्वज्ञानाख्यादेव धर्मविशेषप्रसूतात्, तत्त्वज्ञानमेवात्मनि प्रकटीभूतो धर्मविशेषः, ऐहिकामुष्मिकधर्माभ्यां वर्णाश्रमकर्मकाण्डरूपाभ्यां स्मृतिशास्त्रमीमांसा दर्शनप्रतिपादिताभ्यां विशिष्टो यतस्तस्मात् (निःश्रेयसम्) नितान्तं श्रेयसं कल्याणं परमकल्याणं मोक्षो भवतीति शेषः ॥४॥*

....

** धर्मविशेषश्चासौ प्रसूतश्च धर्मविशेषप्रसूतः तस्माद् धर्मविशेषप्रसूतात्। प्रसूतशब्दस्य परनिपात आर्षो राजदन्तादिषु परं तस्याकृतिगणत्वात्।

इस वैशेषिक शास्त्र में व्याख्या करने योग्य धर्म न तो ऐहिक = इस लोक में, व्यवहारिक जीवन में फल देने जो मनुस्मृति, गृह्यसूत्र आदि में प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म है और न आमुष्मिक = पर जन्म में फल देनेवाला मीमांसा में वर्णित कर्मकाण्ड = स्वर्ग आदि फल देनेवाला यज्ञानुष्ठान धर्म है, अपितु इन दोनों से भिन्न (ऐहिक सहित) निःश्रेयस फल देने वाला तत्वज्ञान नामक धर्मविशेष है। अब उसको सूत्र में बताते हैं –

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसम् ॥४॥

सूत्रार्थ :- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय नामक पदार्थों के साधर्म्य व वैधर्म्य के द्वारा धर्मविशेष से = समाधि से उत्पन्न तत्वज्ञान से निःश्रेयस की सिद्धि होती है ॥४॥

भाषार्थ :- *(द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानाम्)* द्रव्य आदि ६ पदार्थ, पदार्थ को कहने योग्य हैं, उन पदार्थों के *(साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्)* दूसरे के साथ *(साधर्म्य)* समान धर्म होने से तथा दूसरों के साथ वैधर्म्य = विरुद्ध धर्म = विरोधी धर्म होने से और अपने गुणों की विशेषताओं से युक्त होने से *(धर्मविशेषप्रसूतात् तत्त्वज्ञानात्)* आत्मा में धर्म विशेष प्रकट होता है; तब तत्वज्ञान नामक धर्मविशेष से उत्पन्न होने से; अर्थात् तत्वज्ञान आत्मा में ही प्रकट हुआ यह धर्म विशेष है। स्मृति आदि वर्णाश्रम धर्म और पूर्व मीमांसा में प्रतिपादित ही कर्मकांड नामक धर्म जो इस जन्म और अगले जन्म में फल को देने वालों से विशिष्ट अथवा भिन्न है। क्योंकि इससे *(निःश्रेयसम्)* अत्यंत दुखों से छूटकर जो परम कल्याण मोक्ष होता है॥४॥

तत्र षट्सु पदार्थेषु क्रमानुरोधेन द्रव्याण्युदिश्यन्ते –

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥५॥

(पृथिवी – आपः – तेजः – वायुः – आकाशं – कालः – दिक् – आत्मा – मनः - इति द्रव्याणि)

'पृथिवी, आपः, अग्निः, वायुः, आकाशः, कालः, दिक्- दिशा, आत्मा, मनः' इत्येतानि द्रव्याणि नव सन्ति ॥५॥

उन छः पदार्थों में क्रम अनुसार द्रव्यों को बताते हैं -

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥५॥

सूत्रार्थ :- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, कॉल, दिशा, आत्मा और मन ये द्रव्य है ॥५॥

भाषार्थ :- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन ये कुल नौ द्रव्य हैं ॥५॥

गुणा उच्यन्ते –

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ
परत्वापरत्वे बुद्ध्यः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥६॥

(रूपरसगन्धस्पर्शाः) इन्द्रियैर्द्रव्याणां प्रत्यक्षत्वे रूपगुणस्य प्राधान्यं प्रत्यक्षशब्दे साक्षात् 'अक्ष' शब्दस्य नेत्रेन्द्रियवाचित्वात्, नेत्रेन्द्रियग्राह्यो रूपगुणस्तस्मात् प्रथमं रूपगुणउपात्तः, रसस्य च गन्धापेक्षया मुख्यत्वं तस्माद्रसगुणस्ततः पूर्वं गृहीतः, भूतेष्वाकाशस्याव्यक्तत्वात्तद्गुणस्यानुमेयत्वात् परीक्षणीयत्वाच्च सोऽत्र न पठितः (संख्याः) एकादिकाः परार्द्धान्ताः (परिमाणानि) इयत्ताकराणि बहुविधानि मानज्ञानानि (पृथक्त्वं संयोगविभागौ) स्वतः पृथग्भावः पृथकत्वम्, संयोगः सङ्गतिः, विभागो वियोगः (परत्वापरत्वे) दिक्कालावाश्रित्य परस्परापेक्षाबुद्धिजन्यौ दूरसमीपलक्षणौ व्यवहारौ (बुद्धयः) अनेकविधानि ज्ञानानि प्रात्यक्षिकानुमानिकशाब्दादीनि (सुखदुःखे) हर्षखेदौ (इच्छाद्वेषौ) अभिलाषाभिद्रोहौ (प्रयत्नाः - च गुणाः) वागिन्द्रियशरीरव्यवहाराः चकारो लोकप्रसिद्धगुणानां समुच्चयार्थस्ते च गुरुत्वद्रव्यत्वस्नेहसंस्कारधर्माधर्मशब्दाः, एवं चतुर्विंशतिर्गुणाः। "रूपरसगन्धस्पर्शपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रव्यत्वस्नेहवेगा मूर्तानां गुणाः, बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा अमूर्तानां गुणाः, संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागा उभयेषां गुणाः" इति प्रशस्तपादः ॥६॥

अब गुणों को कहते हैं-

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ
परत्वापरत्वे बुद्ध्यः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥६॥

सूत्रार्थ :- रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, दूर, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म, ये चौबीस गुण हैं ॥६॥

भाषार्थ :- *(रूपरसगन्धस्पर्शाः)* इन्द्रियों के द्वारा द्रव्यों के प्रत्यक्ष करने में रूप गुण की प्रधानता रहती है। 'प्रत्यक्ष' शब्द में साक्षात् पठित 'अक्ष' शब्द का नेत्रेन्द्रिय वाची होने से = रूप गुण का ग्रहण नेत्र इन्द्रिय से होता है। इस कारण से सूत्र में रूप शब्द को प्रथम पढ़ा है। गंध की अपेक्षा रस गुण प्रधान है अतः गन्ध शब्द से पूर्व रस शब्द का ग्रहण किया = पढ़ा गया । पञ्च भूतों में आकाश के अव्यक्त = अप्रकट होने से उसका गुण, शब्द, अनुमान से ज्ञात होने और परीक्षा योग्य होने से उसको नहीं पढ़ा है। *(संख्याः)* एक से लेकर परार्ध्द पर्यन्त *(परिमाणानि)* इतनेपने का ज्ञान करने वाली बहुत प्रकार के प्रमाण का ज्ञान कराने वाली है *(पृथक्त्वं संयोगविभागौ)* स्वयं ही अलग होने का भाव पृथकता गुण है संयोग = सङ्गति = जोड़। विभागः = वियोग = तोड़, *(परत्व – अपरत्वे)* दिशा व काल के आश्रय से परस्पर अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न दूर व निकट लक्षणवाला व्यवहार होता है। *(बुद्ध्यः)* अनेक प्रकार का ज्ञान प्रात्याक्षिक अर्थात् प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने वाला, अनुमानिक = अनुमान से ज्ञान होने वाला और शाब्दिक= जो शास्त्रों को पढ़कर ज्ञान होने वाला। *(सुख-दुःखे)* हर्ष= प्रसन्न और खेद= दुःख की अनुभूति करना। *(इच्छाद्वेषौ)* प्राप्त करने की कामना=इच्छा, दूर हटने की कामना=द्वेष। जो वाणी से पुरुषार्थ, मन से प्रयास और शरीर से व्यवहार किया जाता है यह प्रयत्न है। सूत्र में चकार से लोक प्रसिद्ध गुणों का समुचय के लिए है गुरुत्व (भारी) द्रव्यत्व (तरलीय) स्नेह (स्निग्ध, चिकना) संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द यह सब मिलकर 24 गुण होते हैं। विशेष संस्कार तीन प्रकार के होते हैं *रूपरसगन्धस्पर्शपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रव्यत्वस्नेहवेग* 'रुप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग ये जड़ों के गुण हैं। *बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दः* बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना व शब्द ये अमूर्तों = निराकारों के गुण हैं। *संख्यापरिमाण-पृथक्त्वसंयोगविभागः* संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग ये दोनों मूर्तामूर्तों के गुण हैं" ऐसा प्रशस्तपाद में कहा है ॥६॥

१. वेग संस्कार= जैसे गेंद को फेंकने से पूर्व वेग संस्कार उत्पन्न होता है।
२. स्थितिस्थापक संस्कार= जैसे पेड़ की टहनी को खींचकर छोड़ने पर पुनः अपनी स्थिति में आना है, यह स्थितिस्थापक संस्कार है।
३. भावना संस्कार= जो हम कार्य करते हैं, उसका संस्कार चित्त पर पड़ता है यह भावना संस्कार है।
४. धर्माधर्मा= अदृष्ट अर्थात् अच्छे कार्य और बुरे कार्य।

कर्माणि खल्वपि प्रदर्श्यन्ते –

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणम्गमनमिति कर्माणि ॥७॥

(उत्क्षेपणम्) क्रियाया ऊर्ध्वंप्रवृत्तिः,यथा मुषलोत्थापनम् (अवक्षेपणम्) क्रियाया अधःप्रवृत्तिः, यथा मुषलादिकस्याधः पतनम् (आकुञ्चनम्) समन्ताद् वेष्टनं समूहनं सम्मूच्छनं पिण्डीभवनम् (प्रसारणम्) पिण्डस्य राशेर्वा विकीर्णीभवनं विकीर्णीकरणं वा (गमनम्) गतिकर्म नानागतयोऽनुक्ताः सर्वाः क्रियाः खलु गमननाम्ना विज्ञेयाः, यथा नर्तनस्पन्दनपरिभ्रमणधावनविरेचनाद्याः (कर्माणि) कर्मनामानि सन्ति ॥७॥

अब कर्मों को प्रदर्शित करते हैं-

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणम्गमनमिति कर्माणि ॥७॥

सूत्रार्थ :- ऊपर को फेंकना, नीचे गिराना, सिकोड़ना, फैलाना, गति करना ये पाँच प्रकार के कर्म होते हैं ॥७॥

भाषार्थ :- *(उत्क्षेपणम्)* क्रिया का ऊपर की ओर प्रवृत्त होना; जैसे मूसल को ऊपर की ओर उठाते हैं कूटने के लिए। क्रिया का ऊपर की ओर प्रवृत्ति होना उत्क्षेपण कर्म है *(अवक्षेपणम्)* क्रिया का नीचे की ओर प्रवृत्त होना। जैसे मूसल को नीचे की ओर गिराते हैं कूटने के लिए; ये नीचे की ओर प्रवृत्ति अवक्षेपण है *(आकुञ्चनम्)* चारों ओर से सिकुड़ना पिंडरूप में लाना *(प्रसारणम्)* पिंड या राशि का फैलाना अथवा फैलना, बिखेरना या बिखरना *(गमनम्)* अनेक प्रकार की गति जो ऊपर नहीं कही गई। वे सभी प्रकार की क्रियाएँ गमन नाम से जानने योग्य हैं। जैसे- नाचना, स्पंदन, भ्रमण, विरेचन (दस्त आदि) ॥७॥

द्रव्यगुणकर्माणि खल्वर्थाः, तदवस्थितास्तत्समवेताः सामान्यविशेषसमवाया अर्थशब्दवाच्यानां द्रव्यगुणकर्मणां तत्त्वज्ञानाय तावत्तेषां साधर्म्यमुच्यते –

सदनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः॥८॥

(द्रव्यगुणकर्मणाम्) द्रव्यगुणकर्मणां त्रयाणां खलु (अविशेषः) समानो धर्मः साधर्म्यम् (सत्) सत्ता वर्तमानत्वं स्वोपलब्धिकाले विद्यमानत्वम् (अनित्यम्) अनित्यत्वं विनाशित्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः (द्रव्यवत्) द्रव्याश्रयित्वं समवायिद्रव्यवत्त्वं स्वकारणद्रव्येऽन्वयित्वेन वर्तमानत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः, कार्यद्रव्यं स्वकारणद्रव्यमाश्रयति हि तथा गुणकर्मणी तु द्रव्यवर्तिनी भवत एव द्रव्यमन्तरेण न तयोः स्वरूपोपलब्धिः(कार्यम्) कार्यत्वं कार्यद्रव्ये हि, कार्यद्रव्यं कार्यगुणः कार्यकर्म (कारणम्) कारणत्वम्, कार्यद्रव्यस्य द्रव्यं कारणं गुणश्च कारणं गुणान्तरस्य कर्मापि कारणं भवति हि संयोगविभागवेगानाम् (सामान्यविशेषवत्) सामान्यं च विशेषश्च सामान्यविशेषौ तद्वत्त्वं सामान्यवत्त्वं विशेषवत्त्वं च, अनुवृत्तिधर्मत्वं सामान्यं

व्यावृत्तिधर्मत्वं विशेषः, सामान्यं यथा द्रव्यं सद् गुणः सन् कर्म सत् तदिदं सत्तावत्त्वं सामान्यं तथा द्रव्येषु द्रव्यत्वं गुणेषु गुणत्वं कर्मसु कर्मत्वं सामान्यं तद्वत्त्वं जातिमत्त्वम्। विशेषो यथा द्रव्यं गुणकर्मभ्यां विशिष्टधर्मं, गुणो द्रव्यकर्मभ्यां विशिष्टधर्मःकर्म द्रव्यगुणाभ्यां विशिष्टधर्मम्,एवं विशेषवत्त्वं द्रव्यगुणकर्मणां स्वस्वरूपे हि खल्वन्योऽन्यभिन्नधर्मवत्त्वं भवति विशेषः, तथा द्रव्यादिषु गवादयो द्रव्याणि रूपादयो गुणा उत्क्षेपणादीनि कर्माणि व्यक्तयो विशेषाः, तद्वत्त्वं च तेषामपि विशेषवत्त्वमित्युत्प्रेक्ष्यम् ॥८॥

अर्थ का अभिप्राय होता है – द्रव्य, गुण, कर्म। (इन्हें ही अर्थ कहते हैं।) इन्हीं में सामान्य, विशेष और समवाय तीन अन्य पदार्थ स्थित रहते हैं। अब अर्थ शब्द से गृहीत द्रव्य, गुण, कर्म, के तत्वज्ञान हेतु उनके परस्पर साधर्म्य को बताते हैं –

सदनित्यं द्रव्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः॥८॥

सूत्रार्थ :- द्रव्य, गुण व कर्म में सत्ता वाला होना, द्रव्याश्रित् होना, किसी का कार्य होना, किसी का कारण होना और सामान्य तथा विशेष होना समान धर्म हैं ॥८॥

भाषार्थ :- *(द्रव्यगुणकर्मणाम्)* द्रव्य-गुण-कर्म ये तीनों का *(अविशेषः)* समान-समान धर्म साधर्म्य है *(सत्)* सत्ता वर्तमानता अपने उपलब्धि के समय में विद्यमान रहता है *(अनित्यम्)* अनित्यता- नित्य द्रव्य को छोड़कर विनाश होना (द्रव्यवत्) द्रव्य के आश्रित होना, समवायि द्रव्य वाला होना, अपने समवायि कारण द्रव्य में नित्य रूप से विद्यमान रहते हैं , नित्य द्रव्य *(आकाश-आत्मा)* को छोड़कर, कार्य द्रव्य अपने कारण द्रव्य के आश्रित रहता है और जो गुण व कर्म है वे द्रव्य में ही आश्रित रहते हैं। द्रव्य के विना गुण कर्म की उपलब्धि नहीं होती है। *(कार्यम्)* द्रव्य-गुण-कर्म कार्य रूप होते हैं, जब द्रव्य कार्यरूप में होगा तब कार्य द्रव्य और जब गुण कार्यरूप में होता है तब कार्यगुण, जब कर्म कार्यरूप में होगा तब कार्यकर्म होता है *(कारणम्)* द्रव्य-गुण-कर्म कारण भी होते हैं कार्यद्रव्य का कारण द्रव्य, कारणगुण का कारण गुण, कार्यकर्म का कारण कर्म और संयोग-विभाग और वेग का कारण भी कर्म होता है *(सामान्यविशेषवत्)* द्रव्य-गुण-कर्म का सामान्य और विशेष धर्म से युक्त होना, एक ही धर्म की बार –बार आवृति सामान्य, एक धर्म की एक बार आवृति विशेष है।

सामान्यता- जैसे द्रव्य होना, गुण होना, कर्म होना इन तीनों का सत्तावाला होना समानता है।

विशेषता- जैसे द्रव्य है ये गुण और कर्म से विशेष धर्म वाला, गुण द्रव्य और कर्म से विशेष धर्म वाला, कर्म द्रव्य और गुण से विशेष धर्म वाला है। इस प्रकार से द्रव्य-गुण-कर्म का विशेष धर्म है। और अपने-अपने स्वरूप से भिन्न-भिन्न धर्म का होना भी विशेष है। जैसे द्रव्यों में गाय

आदि विशेष द्रव्य है, रूप आदि गुण है और उत्क्षेपण आदि कर्म व्यक्ति विशेष है। इस प्रकार से विशेषता और समानता समझनी चाहिए ॥८॥

द्रव्यगुणयोः साधर्म्यं समानधर्मः प्रोच्यते –

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥९॥

(द्रव्यगुणयोः) द्रव्याणां गुणानां च (सजातीयारम्भकत्वम्) समानजातीयानामुत्पादकत्वम् (साधर्म्यम्) समानधर्मवत्त्वमस्ति ॥९॥

अब द्रव्यों में समान धर्म बताया जाता है-

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥९॥

सूत्रार्थ :- अपने समान जाति वाले को उत्पन्न करना यह द्रव्य और गुण दोनों का समान धर्म है ॥९॥

भाषार्थ :- *(द्रव्यगुणयोः)* द्रव्य और गुण दोनों का *(सजातीयारम्भकत्वम्)* समान जातीय को उत्पन्न करना *(साधर्म्यम्)* ये समान धर्मत्व है ॥९॥

तदेवोच्यते –

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥१०॥

*(द्रव्याणि द्रव्यान्तरम्) द्रव्याणि * खलु स्वसमानमन्यसत्ताकं द्रव्यमेव (च) अथ च (गुणाः – गुणान्तरम्) गुणा अपरगुणम् ** (आरभन्ते) उत्पादयन्तिः ॥१०॥*

-- --- ---

*। अन्त्यावयविद्रव्याणि विभुद्रव्याणि च विहाय, न ह्येतानि स्वसदृशद्रव्याणि खलूत्पादयन्ति।

**। अन्त्यावयविगुणान् द्वित्वद्विपृथक्त्वपरत्वापरत्वादींश्च गुणान् परित्यज्य

उसी प्रकार कहते हैं -

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥१०॥

सूत्रार्थ :- द्रव्य अपने समान दूसरे द्रव्य को उत्पन्न करते हैं और गुण अपने समान दूसरे गुण को उत्पन्न करते है ॥१०॥

भाषार्थ :- (द्रव्याणि द्रव्यान्तरम्) द्रव्य अपने समान अन्य = अपने से भिन्न सत्ता वाले द्रव्य को (गुणाः – गुणान्तरम्) गुण अपने से भिन्न सत्तावाले अन्य गुण को (आरभन्ते) उत्पन्न करते हैं ॥१०॥

-- --- ---

*। अंतिम अवयवि वाला द्रव्य तथा विभु द्रव्य को छोड़ कर शेष द्रव्य, न कि अपने के समान द्रव्यों को उत्पन्न कर सकते है।

**। अंतिम अवयवि वाला गुण द्वित्व-द्विपृथक्त्व-परत्व-अपरत्व आदि गुणों को छोड़ कर।

किन्तु –

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥११॥

(कर्म) कर्म खलु (कर्मसाध्यम्) कर्म [अस्ति] साध्यं यस्य तथाभूतम् (न विद्यते) न लभ्यते, तस्य क्षणिकत्वात् तस्य तथास्वभावात् कर्मसाध्यत्वाभावात् कर्मसाध्यसामर्थ्याभावात् ॥११॥

परन्तु –

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥११॥

सूत्रार्थ :- एक कर्म दूसरे कर्म से उत्पन्न नहीं होता॥११॥

भाषार्थ:- *(कर्म)* कर्म निश्चित रूप में *(कर्मसाध्यम्)* किसी कर्म को उत्पन्न करने वाला हो *(न विद्यते)* ऐसा नहीं होता है, कर्म क्षणिक होने से, कर्म का वैसा स्वभाव होने से और कर्मों को उत्पन्न करने का सामर्थ्य न होने से ॥११॥

अथ वैधर्म्ये, द्रव्यस्य गुणकर्मभ्यां वैधर्म्यं प्रदर्श्यते –

न द्रव्यं कार्यं कारणं च वधति ॥१२॥

(द्रव्यम्) द्रव्यपदवाच्यं वस्तु (कार्यं कारणं च न वधति) स्वकार्यं स्वान्वयि द्रव्यं कार्यभूतं तथानुगतगुणं कार्यमेवं कारणं च स्वकारणं समवायिकारणद्रव्यमथासमवायिकारणं संयोगादिगुणं च न हन्ति ॥१२॥

अब वैधर्म्य के प्रसंग में, द्रव्य का गुण व कर्म से वैधर्म्य दिखाते हैं।

न द्रव्यं कार्यं कारणं च वधति ॥१२॥

सूत्रार्थ :- मिट्टी अपने कार्य द्रव्य और कारण द्रव्य परमाणु को नहीं मारता है ॥१२॥

भाषार्थ:- *(द्रव्यम्)* द्रव्य पद से कही जाने वाली वस्तु *(कार्यं कारणं च न वधति)* अपने कार्य जिसमें द्रव्य अन्वित रहता है और जो कारण जो अपने समवायी कारण द्रव्य रूप समवायिकारण द्रव्य और असमवायिकारण संयोग आदि गुणों को नहीं छोड़ता है ॥१२॥

गुणाः कीदृशा इत्यत्रोच्यते –

उभयथा गुणाः ॥१३॥

(गुणाः – उभयथा) गुणाः खलूभयथाप्रकाराः, ते कार्यं कारणं घ्नन्ति नापि घ्नन्ति। सूत्रशैल्याऽयमर्थोऽभिव्यज्यते सूत्रस्यार्थस्वारस्यमत्रैवास्ति। उभयथा शब्देन नकारस्वीकारावेव ग्रहीतुं युज्येते, यदि तूभयथा शब्देन कार्यकारणयोर्ग्रहणमभीष्टं स्यात् तदा तु “न तथा गुणाः इति सूत्रेण भवितव्यम्। ते गुणास्तु कार्यकारणवधका एवेत्यर्थः समापद्येतानायसेन। यद्यप्युपस्कारविवृत्तिव्याख्ययोरेषोऽर्थो विहितः परन्तु न स

सूत्रशैल्या लभ्यते। चन्द्रकान्तभाष्यं तु सूत्रानुसारि प्रतिभाति 'वधति च नापि वधति' उभयथा प्रवृत्तिर्गुणानाम्। यथा हरिद्राचूर्णयोः पीतत्वश्वेतत्वे उभे कारणभूते तत्कार्येण लोहितेन रूपेण गुणेन हन्येते, तन्तूनां रूपं वस्त्रगतरूपस्य कारणं तन्न वस्त्रगतेन कार्येण रूपेण हन्यते, आद्यः शब्दः कारणभूतः स्वानन्तरं कार्यं न हन्ति, संयोगाज्जायमानः शब्दः स्वकारणस्य संयोगस्य स्थितत्वान्नश्यति हि ॥१३॥

गुण कैसे होते हैं? इस विषय में कहते हैं –

उभयथा गुणाः ॥१३॥

सूत्रार्थ :- गुण दोनों प्रकार के हैं अर्थात् कार्य अपने कारण को मारते भी है और नहीं भी मारते हैं ॥१३॥

भाषार्थ:- *(गुणाः – उभयथा)* गुण दोनों प्रकार के होते हैं। वे अपने कार्य और कारण को नष्ट करते हैं और नहीं भी करते हैं। सूत्र की शैली से यही अर्थ निकलता है। सूत्र का अर्थ इसी अवस्था में स्वाभाविक रहता है। शब्द से 'स्वीकार व प्रतिषेध' का ही ग्रहण करना ठीक है। यदि उयभथा शब्द से कार्य-कारण का ग्रहण अभीष्ट होवें तो *"न तथा गुणाः"* यह सूत्र होना चाहिए। यह गुण तो कार्य कारण का विनाश करने वाले हैं यही अर्थ अनायास प्राप्त होता है। यद्यपि उपस्कार वृति में यह अर्थ माना है परंतु सूत्रशैली प्राप्त नहीं होती है। चंद्रकांत भाष्य तो सूत्र अनुसार दिखाता है *"वधति च नापि वधति"* गुणों की दोनों प्रकृति है। गुण अपने कार्य कारण को मारता भी है नहीं भी। जैसे - पीला हल्दी और सफेद चूना से दोनों, जो कारणभूत है; अपने कार्यभूत लोहित रूप के द्वारा नष्ट किया जाता है और तंतु रूप वस्त्रगत रूप का कारण है, परंतु वस्त्र के प्राप्त हो जाने पर वे अपने कारण को नहीं मारते हैं। जो उत्पन्न शब्द है जो कारणभूत अपने अनंतर कार्य को नहीं मारता, संयोग से उत्पन्न शब्द अपने कारण के संयोग के स्थित रहने से नाश को प्राप्त होता है ॥१३॥

कर्म पुनः कीदृशमिति कथ्यते –

कार्यविरोधि कर्म ॥१४॥

(कार्यविरोधि कर्म) कार्यं विरोधि यस्य तथाभूतं कर्म, कर्मखलु स्वकार्येण विरुध्यते विरम्यते विनश्यते, यद्वा कार्यस्य विरोधि कर्म कार्यकाले नावतिष्ठते। कर्म खलु न कारणवधकं नापि कार्यवधकं किन्तु तत्तु वध्यमेवास्ति संयोगादिना स्वकार्येण कार्यद्वारेण कर्मणो वध्यत्वात्, अथ च पुनः प्रवृत्तं कर्म पूर्वोत्पादितं संयोगं कार्यं विरुणद्धि विनाशयतीति द्रव्यगुणाभ्यां वैधर्म्यं कर्मणः॥१४॥

कर्म किस स्वभाव का होता है, उसको कहते हैं –

कार्यविरोधि कर्म ॥१४॥

सूत्रार्थ :- कार्य है विरोधी जिसका ऐसा, स्वरूप वाला कर्म होता है ॥१४॥

भाषार्थः- *(कार्यविरोधि कर्म)* कार्य जिसका विरोधी है, ऐसा स्वभाववाला कर्म होता है। कर्म अपने कार्य से रुकता है=ठहरता है=नष्ट होता है। अथवा कर्म अपने कार्य का विरोधी होता है, अपने कार्य की विद्यमानता में नहीं रहता है, (उसको छोड़कर नष्ट हो जाता है।) कर्म न तो अपने कारण को मारता है, न कार्य को मारता है; किंतु स्वयं नष्ट हो जाता है। संयोग आदि अपने कार्य के द्वारा कर्म नष्टता को प्राप्त होता है। और पुनः कर्म पूर्व उत्पन्न हुए संयोग को कर्म को नष्ट कर देता है। इस प्रकार से कर्म को द्रव्य गुण का वैधर्म्य है॥१४॥

द्रव्यगुणकर्मणां साधर्म्यमुक्त्वाऽधुना क्रमेण तेषां लक्षणमर्थात् परस्परतो वैधर्म्यं प्रदर्शयति तत्र तावद् द्रव्यम् –

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्॥१५॥

(क्रियागुणवत्) क्रिया च गुणश्च यस्य यस्मिन् व विद्यते तत् क्रियागुणवत्, क्रिया खलूत्क्षेपणादि कर्म गुणश्च रूपादिः। क्रियागुणावुभौ यद्वा द्वयोरेको गुणो यस्य यस्मिन् वा स्यात् तद् द्रव्यं भवतीति च वक्तुं शक्यते न तु केवला क्रिया विद्यते यस्य यस्मिन् वा न हि गुणमन्तरेण क्वचित् क्रियाऽवतिष्ठते न च गुणहीनानि द्रव्याणि भवन्ति क्रियामन्तरेण गुणोऽवस्थातुं शक्यते निष्क्रियाणि खल्वनवयवानि जडानि द्रव्याणि दिक्कालाकाशास्तु भवन्ति हि तस्मात् तेषां गुणवत्त्वेन द्रव्यसंज्ञा। तथाऽनवयव आत्मा द्रव्यं तस्य क्रियावत्त्वम् क्रियास्वामित्वात् क्रियाकरणे समर्थत्वात् क्रिया यस्यास्तीति हेतोः क्रियावान् खल्वात्मागुणास्तु तत्र ज्ञानादयः सन्ति। अथ क्रिया यस्मिन् विद्यते तद् द्रव्यमित्यपि सावयवेषु जडेषु पृथिव्यादिषु द्रव्येषु तु क्रिया तदवयवेषु व्याप्रियते। अथ चानवयवेषु दिक्कालाकाशेषु व्यापिद्रव्येषु खल्वपि क्रिया प्रवर्तते तेषामनिवार्याधारत्वात् तत्रापि तथाभूतक्रियावत्त्वोत्प्रेक्षणे न क्षतिः (समवायिकारणम्) कार्यद्रव्यं गुणं कर्म च स्वस्मिन् समवेतुं समावेशितुं शीलं यस्य तत् समवायिकारणं कार्यद्रव्योत्पादशक्तिमत्, जाते कार्यद्रव्ये तदन्तरे वर्तमानं कार्यनाशेऽप्यनश्वरं सत्, गुणकर्मभ्यां च लक्षितसत्ताकं गुणकर्मणोरविनाभावाधारः (इति द्रव्यलक्षणम्) इत्थं द्रव्यलक्षणं द्रव्यमस्तीति लक्षितव्यम्। गुणकर्मभ्यां वैधर्म्यमेतद् द्रव्यस्य, गुणा न गुणवन्तो न च कर्मवन्तः, कर्माणि न गुणवन्ति न कर्मवन्ति। न च गुणाः कर्माणि वा समवायिकारणानि*

भवन्ति,असमवायिकारणानि तु भवन्ति स्वकार्यस्य, एवं सामान्यादिष्वपि ज्ञातव्यम् ॥१५॥

**उक्तं हि सूत्रकृता "गुणैर्दिग्व्याख्याता" (वै . ५।२।२५) पुर्वस्यामुदितः पश्चिमायामस्तंगतः, पूर्वस्याः आगतः पश्चिमायां गतः, कर्मणो दिगसमवायिकारणमिति दिग्विषये। "कारणेन कालः" (वै . ५।२।२६) दिने*

द्रव्य-गुण-कर्म का साधर्म्य कह कर अब क्रम से द्रव्य गुण कर्म के लक्षण अर्थात् परस्पर वैधर्म्य प्रदर्शित करते हैं। उस में द्रव्य को कहते है-

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्॥१५॥

सूत्रार्थ :- क्रिया और गुण वाला हो अथवा केवल गुण वाला हो किसी द्रव्य-गुण-कर्म का समवायी कारण हो; यह द्रव्य का लक्षण है ॥१५॥

भाषार्थः-*(क्रियागुणवत्)* क्रिया और गुण जिसके या जिसमें होते हैं, उसको क्रिया और गुणवाला कहते हैं। क्रिया का अर्थ है, उत्क्षेपण आदि कर्म और गुण का अर्थ है रुप आदि। क्रिया व गुण दोनों अथवा दोनों में से केवल एक गुण जिसका या जिसमें हों, उसको द्रव्य कहते हैं, (ऐसा तो कहा जा सकता है, क्योंकि गुण के बिना कहीं कोई क्रिया नहीं रहती है, (साथ ही रहती है।)। गुण से रहित कोई द्रव्य नहीं होता है, (किन्तु) क्रियारहित, अवयवहीन जड़ द्रव्य दिशा, काल, आकाश तो होते हैं। इसलिए इनकी गुण वाला होने के कारण ही द्रव्य संज्ञा हो पाती है। आत्मा अनवयवी द्रव्य है क्योंकि आत्मा क्रिया का स्वामी होने से, क्रिया करने में समर्थ होने से और क्रिया जिसकी होती है इस हेतु से क्रियावान् है और उसके अपने ज्ञान आदि गुण होने से द्रव्य है। अब क्रिया जिसमें विद्यमान रहती है, वह द्रव्य है। अवयव सहित जड़ पृथिवी आदि द्रव्यों में क्रिया उसके अवयवों द्वारा होती हैं। जो अनवयव दिशा काल आकाश आदि व्यापक द्रव्यों में भी क्रिया रहती है। उनका अनिवार्य आधारत्व होने से, उसमें क्रिया वाला मानने में भी कोई हानि नहीं है।*

(समवायिकारणम्) कार्य द्रव्य-गुण-कर्म को अन्वित करने का स्वभाव है, जिसका वह समवायि कारण और कार्य द्रव्य को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त है। कार्य द्रव्य के उत्पन्न होने पर उसके बाद भी वर्तमान रहता है और कार्य के नष्ट होने पर नाश न होता हुआ और गुण व कर्मों से सत्ता रूप में जाना जाता है और गुण और कर्म का अविनाभाव आधार अर्थात् अनिवार्य आधार हो *(इति द्रव्य लक्षणम्)* इस प्रकार से द्रव्य के लक्षण बताएं। और जहां-जहां कैसा लक्षण प्राप्त हो वह द्रव्य है ऐसा जाने। द्रव्य का गुण और कर्म से वैधर्म्य हैं। गुण दूसरे गुणों को धारण नहीं करते या आश्रय नहीं होते और गुण कर्मों को भी धारण नहीं करता। और जो कर्म है वह गुण वाले नहीं होते और न कर्म के

आश्रय होते हैं। गुण और कर्म समवायिकारण नहीं होते। अपने कार्य के असमवायी कारण होते हैं। इस प्रकार से सामान्य आदि में भी जान लेना चाहिए ॥१५॥

---

*सूत्रकर्ता कहते ही है "गुणैर्दिग्व्याख्याता" (वै . ५।२।२५) पूर्व से उदय हुआ पश्चिम में अस्त हो गया, पूर्व से आकर पश्चिम को चला गया, कर्म दिशा का असमवायी कारण होता है। दिशा विषय में - "कारणेन कालः" (वै . ५।२।२६) दिने

अथ गुणस्य लक्षणं यद्वा गुणस्य द्रव्यकर्मभ्यां वैधर्म्यमुच्यते –

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥१६॥

(द्रव्याश्रयी) द्रव्यमाश्रयतीति तच्छीलो द्रव्यनिष्ठ इत्यर्थः, गुणो न द्रव्यवत् स्वतन्त्रसत्ताकः, इति गुणस्य कारणद्रव्यतो वैधर्म्यम् (अगुणवान्) न गुणो यस्मिन् स गुणरहितः, गुणे न गुणो भवतीति कार्यद्रव्यतो वैधर्म्यं कार्यद्रव्यं कारणद्रव्यमाश्रयत् सद् गुणवद् भवति हि (संयोग – विभागेषु – अकारणम् – अनपेक्षः) संयोगविभागेषु कारणं न भवति, संयोगविभागान् विहायान्येषु गुणेषु तु गुणः कारणं भवति हि, उक्तं यथा "गुणा गुणान्तरमारभन्ते" संयोगविभागेषु नैष नियमः, संयोगजः संयोगो विभागजश्च विभागस्तु भवति हि। न च गुणः संयोगविभागानपेक्षते तैः सह न सम्बध्यते गुणः, कर्म तु संयोगविभागाननपेक्षमाणं सदपि तेषां कारणं भवतीति कर्मतो वैधर्म्यं गुणस्य। कार्यद्रव्यं स्वकारणद्रव्याणां संयोगमपेक्षते यावत् कार्यद्रव्यं तावत् कारणद्रव्याणां संयोगेन भवितव्यमेव,यद्वा यावत् कारणद्रव्याणां संयोगस्तावदेव कार्यद्रव्यस्य स्थितिः। कारणद्रव्याणि निजस्थितौ निजस्वरूपे वा विभागमपेक्षन्ते हि। संयोगविभागान् विहाय तु खल्वन्यान् गुणान् गुणा अपेक्षेरन्निति सम्भवः, यथारूपं स्पर्शमपेक्षते यत्र रूपं तत्र स्पर्शेनापि भवितव्यमेवेत्येवं गुणलक्षणं भवति ॥१६॥

जातो रात्रौ जातो वसन्ते पुष्प्यन्ते वर्षर्तावुत्पद्यन्ते काले नश्यन्ते, कालः कर्मणो निमित्तकरणम्। इति कालविषये "निष्क्रमणं प्रवेशनिमित्याकाशस्य लिङ्गम्" (वै . २।१।२०) निष्क्रमणप्रवेशनक्रियाया आधार आकाशः, इत्याकाशविषये।

अब हम गुण का लक्षण या गुण का द्रव्य कर्म से वैधर्म्य बताते हैं-

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥१६॥

सूत्रार्थ :- द्रव्य के आश्रित रहने वाला अन्य गुणों से रहित (अर्थात् स्वयं गुण का आश्रय व आधार न होना) संयोग विभाग में कारण न होना और अन्य किसी संयोग विभाग की अपेक्षा न रखना यह गुणों के लक्षण है ॥१६॥

भाषार्थः-*(द्रव्याश्रयी)* द्रव्य का जो आश्रय लेता है, द्रव्य के आश्रित रहना जिसका स्वभाव है, अर्थात् जो द्रव्यनिष्ठ = द्रव्य में स्थित रहता है (वह गुण है)। गुण द्रव्य की तरह स्वतन्त्र सत्तावाला नहीं होता है, यह गुण का कारण द्रव्य से वैधर्म्य है। *(अगुणवान्)* जिसमें दूसरा गुण न हो या गुण में दूसरा गुण नहीं होता है। यह कार्य द्रव्य से वैधर्म्यता है। ये कार्यद्रव्य कारणद्रव्य का आश्रय लेता हुआ गुणवान् होता है। *(संयोग–विभागेषु–अकारणम्–अनपेक्षः)* संयोग-विभाग होने में कोई गुण कारण नहीं होता है, संयोग-विभाग को छोड़कर अन्य गुणों में तो 'गुण' कारण बनता ही है, इसलिए कहा गया *"गुणा गुणान्तरमारभन्ते"* गुण भिन्न गुणों के कारण होते हैं। संयोग-विभाग में ऐसे नियम नहीं है। संयोग से उत्पन्न संयोग और विभाग से उत्पन्न विभाग तो होता है। न कि गुण संयोग-विभाग की अपेक्षा रखता है, न इन दोनों से कोई संबद्ध गुण रखता है, किन्तु कर्म संयोग-विभाग के साथ अपेक्षा न रखता हुआ भी इन दोनों का कारण बनता है। यह है, गुण का कर्म से वैधर्म्य। कार्यद्रव्य अपने कारणद्रव्यों के साथ एक दूसरे से संयोग की अपेक्षा रखता है, जब तक कार्यद्रव्य है तब तक कारणद्रव्यों के साथ संयोग होना रहेगा अथवा जब तक कारणद्रव्यों में संयोग है तब तक कार्यद्रव्य की स्थिति रहेगी। कारणद्रव्य अपनी स्थिति में व अपना स्वरूप में विभाग की अपेक्षा रखेगा ही। संयोग-विभाग को छोड़कर तो निश्चित रूप में अन्य गुण-गुण की अपेक्षा रखना संभव है। जैसे 'रूप' स्पर्श की अपेक्षा रखता है, जहाँ रूप है वहाँ स्पर्श से ही होने योग्य है; इस प्रकार यह गुण के लक्षण है ॥१६॥

अधुना कर्मणो लक्षणं किंवा तस्य द्रव्यगुणाभ्यां वैधर्म्यमुच्यते –

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥१७॥

(एकद्रव्यम्) एकं द्रव्यं यस्याश्रय इति तदेकद्रव्यमेकद्रव्यवर्ति, एकैकं द्रव्यमाश्रयत् सदेकैकं कर्म भवति न खल्वनेकद्रव्यवर्ति भवत्येकं कर्म, अवयविद्रव्ये यद्वाऽवयवद्रव्ये खल्वेकैकश एव कर्म भवति, तथा परमाणुष्वाद्यं कर्माप्येकैकशोऽनुमेयम्। इति कार्यद्रव्याश्रितो वैधर्म्यमस्ति कार्यद्रव्यमनेककारणद्रव्याश्रितं भवति, तथा गुणतोऽप्यांशिकं वैधर्म्यं यतो गुण एकद्रव्याश्रितोऽवयविद्रव्याश्रितो रूपादिरनेकद्रव्याश्रितोऽनेकावयवाश्रितश्च संयोगादिर्द्वित्वादिश्च गुणो भवति (अगुणम्) न गुणो यस्मिंस्तथा कर्माविद्यमानगुणम्, अभिव्यक्तानभिव्यक्ताभिव्यज्यमान-गुणसम्पर्को यस्मिन् नास्ति तत्खलु कर्म, इति द्रव्यतो वैधर्म्यं विज्ञेयं द्रव्येष्वेवानभिव्यक्ताभिव्यक्ताभिव्यज्यमानगुणयोगो भवति परमाणुद्रव्येष्वनभिव्यक्तगुणत्वमुत्पन्नेऽवयविद्रव्येऽभिव्यक्तगुणभाव उत्पद्यमाने चाभिव्यज्यमानगुणवत्ता भवति हि (संयोगविभागेषु- अनपेक्षकारणम्) संयोगेषु

विभागेषु चानपेक्षं सत् कारणं भवति। संयोगानां विभागानां च कारणं कर्म, कर्मजन्याः संयोगविभागास्तत्र कारणं सदपि भवत्यनपेक्षं तस्यास्थिरत्वात्, इति द्रव्यतो गुणतश्च वैधर्म्यमस्ति द्रव्येण गुणेन च स्वकार्यमपेक्षमाणेन स्थातव्यम्। तथा तस्य संयोगा विभागाश्च कार्याणीत्यपि वैधर्म्यं ताभ्यामिति कर्मलक्षणं विज्ञेयम् ॥१७॥

अब **कर्मों** के लक्षण और उस के द्रव्य-गुण से वैधर्म्य को कहते है –

एकद्रव्यमगुण संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥१७॥

सूत्रार्थ:- एक द्रव्य में रहनेवाला, गुणों को धारण न करनेवाला, संयोग और विभाग को उत्पन्न करने में कारण होता हुआ भी संयोग विभाग की आवश्यकता न रखने वाला पदार्थ कर्म कहलाता है ॥१७॥

भाषार्थ :- *(एकद्रव्यम्)* एक द्रव्य जिस का आश्रय है उस को एकद्रव्य व एकद्रव्य अधीन कहते है, एक-एक द्रव्य में आश्रित से एक- एक कर्म होता है किन्तु अनेक द्रव्य के अधीन एक कर्म नहीं रहता, अवयवी द्रव्य में – अथवा एक-एक अवयव द्रव्य में एक-एक कर्म होता है वैसे ही परमाणुओं में प्रथम कर्म भी एक-एक ही है यह अनुमान से जानना चाहिए।

इस प्रकार कार्यद्रव्य आश्रित दृष्टि से कर्म का वैधर्म्य है जैसे कार्यद्रव्य अनेक कारणद्रव्य के आश्रित होता है, वैसे ही गुणों का आंशिक वैधर्म्य है। जहां गुण एक द्रव्य के आश्रित है अर्थात् अवयवी द्रव्य के आश्रित, रूप आदि अनेक अवयव द्रव्य आश्रित, अनेक द्रव्य आश्रित संयोगादि और द्वित्वादि गुण भी होता है। *(अगुणम्)* जहां गुण नहीं होता; कर्म में गुण अविद्यमान है, अभिव्यक्त-अनभिव्यक्त प्रकटभूत हो व अपरक्त भूत रूप हो गुण से जिस का सम्पर्क नहीं है वही तो कर्म है, इस प्रकार द्रव्य से वैधर्म्य जानना चाहिए, द्रव्यों में ही अप्रकट प्रकट व प्रकटभूत गुण योग होता है। परमाणुद्रव्य में अनभिव्यक्त गुणत्व उत्पन्न में अवयवि द्रव्य में अभिव्यक्त गुणभाव उत्पन्न होने में अभिव्यज्यमानगुणवत्ता होती है। *(संयोगविभागेषु- अनपेक्षकारणम्)* संयोग विभाग में अनपेक्ष कारण होता है। अर्थात् संयोग विभाग की आवश्यकता न रखनेवाला पदार्थ कर्म है। संयोग और विभाग को उत्पन्न करने में कारण है कर्म, कर्म से उत्पन्न होने वाले संयोग-विभाग, वहाँ कारण होने पर भी अनपेक्ष होता है कर्म अस्थिर होने से। इस प्रकार 'कर्म' का द्रव्य से और गुण से वैधर्म्य है द्रव्य और गुण से अपने कार्य की अपेक्षा रखते है। उसी प्रकार उस का संयोग विभाग भी कार्य हैं यह भी वैधर्म्य है इस से भी कर्मलक्षण को जानना चाहिए ॥१७॥

द्रव्यगुणकर्मणां लक्षणं यद्वा तेषामन्योन्यतो वैधर्म्यमुक्त्वाऽधुना तेषामेव त्रयाणां कार्यत्वे कारणसाधर्म्यमाह –

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥१८॥

(द्रव्यगुणकर्मणां कारणं द्रव्यम्) द्रव्यगुणकर्मणां त्रयाणां कारणं द्रव्यमिति (सामान्यम्) तेषां कार्यत्वापन्नानां साधर्म्यमस्ति, यथा कार्यद्रव्याणि कारणद्रव्यमाश्रयन्ति तथा गुणाः कर्माणि चापि तदाश्रयन्ति तेषां त्रयाणां तस्य समवायिकारणत्वात् त्रयाणामपि द्रव्यं समवायिकारणमिति विवेकः ॥१८॥

द्रव्य-गुण-कर्म के लक्षण को तथा उनके एक दूसरे के वैधर्म्य को कहकर अब उन तीनों के कार्यपने कारण साधर्म्य को कहते हैं –

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥१८॥

सूत्रार्थ:- द्रव्य, गुण और कर्म तीनों का समानरूप से आश्रय 'द्रव्य' होता है ॥१८॥

भाषार्थ :-*(द्रव्यगुणकर्मणां कारणं द्रव्यम्)* द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों का कारण द्रव्य है *(सामान्यम्)* उनका कार्य को प्राप्त हुओं का साधर्म्य है। जैसे कार्य द्रव्य कारण द्रव्य के आश्रय से होते हैं वैसे गुण और कर्म भी आश्रय होते हैं; उन तीनों का द्रव्य समवायिकारण होने से, तीनों का द्रव्य ही समवायिकारण है। यही विवेक है यथार्थ है ॥१८॥

गुणश्च खलु –

*उभयथा गुणः * ॥१९॥*

(गुणः) द्रव्यगुणकर्मणां गुणः कारणं सामान्यम् (उभयथा) उभयथा दृश्यते, कश्चिद् गुणो भवति कारणं सामान्यं कश्चन् गुणो नापि भवति। तत्र यथा – अवयवानां संयोगो गुणोऽवयविद्रव्यस्यासमवायिकारणं भवति परन्तु रूपादिगुणो न कारणं भवति द्रव्यस्य। अवयवानां रूपादिगुणोऽवयविद्रव्यस्थरूपादिगुणस्य कारणं भवति परन्तु संख्यादिगुणोऽवयवगतोऽवयविसंख्यागुणस्य न कारणं भवति। अवक्षेपणादिकर्मणो कारणं गुरुत्वादिगुणो भवति परन्तु रूपादिगुणस्तत्र न कारणम्, तदत्र प्रसङ्गे गुणोऽसमवायिकारणं भवति। शङ्करमिश्रजयनारायणाभ्यां सूत्रमन्यथा व्याख्यातम् 'उभयथा' स्थाने 'तथा' शब्दमाश्रित्य ॥१९॥

और गुण के विषय में कहते हैं-

*उभयथा गुणः * ॥१९॥*

सूत्रार्थ :- गुण; द्रव्य - गुण और कर्म का कारण बनता भी है और नहीं भी बनता है ॥१९॥

भाषार्थ :- *(गुणः)* द्रव्य-गुण-कर्म का 'गुण' सामान्य कारण है। *(उभयथा)* दोनों प्रकार दिख जाता है। कोई गुण सामान्य कारण होता भी है, कोई गुण नहीं भी बनता है। जैसे - अवयवों का 'संयोग गुण' अवयवी द्रव्य का असमवायी कारण होता है परंतु 'रूपादि गुण' द्रव्य का समवायी कारण नहीं बनता। अवयवों का रूप आदि गुण अवयवी द्रव्य में स्थित रूपादि गुणों का कारण बनता है परंतु संख्यादि गुण जो अवयवगत है वह अवयवी संख्या गुणों का कारण नहीं बनता है। अवक्षेपण आदि कर्म का कारण गुरुत्व आदि गुण होता है परंतु रूपादि गुण कारण नहीं होता है, इस प्रसंग में गुण असमवायी कारण होता है। शंकर मिश्र जी और जय नारायण जी इस दोनों के द्वारा सूत्र की व्याख्या भिन्न की है। 'उभयथा' के स्थान पर 'तथा' शब्द का आश्रय लेकर किया है ॥१९॥

कर्मविषये खलूच्यते –

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥२०॥

*(संयोगविभागवेगानाम्) विभक्तानां पृथग्भूतानां सहभावः संयोगः, संयुक्तानां पृथग्भावो विभागः, स्वभावप्रतिबन्धकबलं वेगः, एषाम् (कर्म समानम्) कर्म खलु समानं कारणं ** भवति तच्च तेषां साधर्म्यम्। कर्म हि संयोगं विभागं वेगं जनयति। संयोगविभागौ तु खल्वनेकद्रव्येषु भवतो यथा पटोत्पत्तये तन्तुषु संयोगं विदारणाय विभागं जनयति कर्म परन्तु वेगमेकस्मिन्नेव द्रव्ये जनयति, यथा शरे। पुनः 'समानम्' इति शब्दोपादानं पूर्वसूत्रगतगुणविषयकसामान्यस्योभयथात्वं विकल्पं वारयितुम् ॥२०॥*

कर्म के विषय में कहते हैं-–

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥२०॥

सूत्रार्थ :- संयोग विभाग और वेग इन तीनों गुणों का समान रूप से कर्म ही कारण होता है ॥२०॥

भाषार्थ :- *(संयोगविभागवेगानाम्)* विभक्तों का=पृथक-पृथक भूतों का अर्थात् जो अलग-अलग है उनका मिल जाना इकट्ठा हो जाना 'संयोग' है; जो संयुक्त है मिले हुए हैं उनका अलग-अलग हो जाना 'विभाग' है और जो स्वभाव को रोकने वाला बल है वह 'वेग' है।

इनका *(कर्म समानम्)* इन तीनों का असमवायी कारण कर्म होता है, यह उनका साधर्म्य है। कर्म ही संयोग- विभाग-वेग को उत्पन्न करता है। संयोग और विभाग अनेक द्रव्यों में होता है। जैसे पट अर्थात् कपड़े की उत्पत्ति के लिए तन्तुओं का संयोग और विदारण के लिए विभाग गुण कर्म से ही उत्पन्न होता है परंतु वेग एक ही द्रव्य में उत्पन्न होता है जैसे तीर। पुनः 'समानम्' शब्द का ग्रहण पूर्वसूत्रगत विषयक सामान्य का उभयथात्व विकल्प को हटाने के लिए है ॥२०॥

न द्रव्याणां कर्म ॥२१॥
व्यतिरेकात् ॥२२॥

*अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति यद्वा सूत्रमेकं स्याच्चन्द्रकान्तभाष्यानुसारि – (द्रव्याणां कर्म न) द्रव्याणां कर्म कारणमसमवायि वा निमित्तं वा न भवति **। संयोगविभागवेगानां गुणानां तु कर्म कारणं भवति यद्यपि तन्तुषु कर्मणा पटद्रव्यस्योत्पत्तिर्भवति तन्तुषु वर्तमानं तत् कर्म पटद्रव्यस्य कारणं दर्शनशास्त्रे न स्वीक्रियते लोके तथा दृश्यते कर्मकारणमत एवाशङ्क्यते हि तस्य कारणत्वं तस्मात् तदाशंकानिवृत्तयेऽत्रोच्यते कर्म न द्रव्याणां कारणम्। कुतः (व्यतिरेकात्) अनन्वयात् – व्यतिरिक्तत्वात् कर्मणः, व्यतिरिक्तं हि कर्म पटात्, कर्मणा तन्तुषु संयोगो जायते संयोगादनन्तरं पटद्रव्यम्, संयोगस्य कारणं कर्म, संयोगं प्रति कर्मणः कारणत्वं चरितार्थं पुनः संयोगं व्यतिरिच्य व्यतिक्रम्य व्यवधाय कर्मणः कारणत्वं पटं प्रति न यौक्तिकम्। भवतु पटस्य कारणं कर्म परम्परया न तु साक्षादिति सूत्रकारस्य लक्ष्यम्। उक्तं हि स्वयं सूत्रकारेण दशमाध्याये कर्मणोऽसमवायिकारणत्वं परम्परया "कारणे समवायात् कर्मणि" (वै. १०।२।३) 'व्यतिरेकात्' पदमन्यभाष्यकारैरन्यथाव्याख्यातम्। तत्र व्यतिरेकशब्दस्य निवर्तनमभावश्चार्थोविहितो यत् "कर्मणः संयोगो जायते संयोगाद् द्रव्यमुत्पद्यते निवृत्ते कर्मणि यद्वा द्रव्योत्पत्तिसमये कर्मणोऽभावस्तस्मान्न कर्मकारणमिति व्याख्यातम्।"कर्मणोनिवर्तनमभावो वा केवलमुत्पन्ने द्रव्ये हि न किन्तु संयोगे जातेऽपि तु कर्मणो निवर्तनमभावश्च भवति तस्माद् व्यतिरेकशब्दस्यात्रार्थो निवर्तनभावश्च नेष्यते ॥२१-२२॥*

**। पुरुषप्रयत्नं कर्म विहाय, पुरुषप्रयत्नस्तु भवति निमित्तकारणम्।

न द्रव्याणां कर्म ॥२१॥
व्यतिरेकात् ॥२२॥

सूत्रार्थ :- कर्म एक या अनेक द्रव्यों का सामान्य कारण नहीं होता अर्थात् कर्म एक या अनेक द्रव्य पैदा नहीं करते हैं। परंपरा से द्रव्य का कारण होते हुए भी असम्बद्ध होने से ॥२१-२२॥

भाष्यर्थ :- इन दोनों सूत्रों की एक वाक्यता = एक वाक्य में मिलकर अर्थ देने की सामर्थ्य है अथवा दोनों एक ही सूत्र होवे, जैसे कि चन्द्रकान्त भाष्य के अनुसार है।

(द्रव्याणां कर्म न) द्रव्यों का कर्म असमवायि, समवायि व निमित्त कारण नहीं होता है। संयोग विभाग और वेग गुणों का कर्म कारण होता है यद्यपि तंतुओं में कर्म के द्वारा पट द्रव्य की उत्पत्ति होती है, परंतु तंतुओं में वर्तमान वह कर्म पट द्रव्य का कारण दर्शन शास्त्र में स्वीकार नहीं किया गया जैसे कि लोक में कर्म कारण देखा जाता है, इसलिए ही उसके कारण की शंका होती है , उस कारण की शंका की निवृत्ति के लिए यहाँ कहा है कर्म द्रव्यों का कारण नहीं होता है, कैसे-

(व्यतिरेकात्) कर्म के भिन्न होने से, जो कर्म है वह पट द्रव्य से भिन्न है। कर्म के द्वारा तंतुओं में संयोग उत्पन्न होता है, संयोग के अनंतर पट द्रव्य उत्पन्न होता है, संयोग का कारण कर्म है, संयोग के प्रति कर्म का कारणत्व सिद्ध है, संयोग का उलङ्घन करके कर्म का कारणत्व पट के प्रति युक्त नहीं होने पर। पट का कारण कर्म परंपरा से है न तो साक्षात् यह सूत्रकार का लक्ष्य है। स्वयं सूत्रकार ने कहा भी है, दशम अध्याय में कर्म का असमवायिकारण परंपरा से है। *"कारणे समवायात् कर्मणि" (वै. १०।२।३)* व्यतिरेक पद की अन्य भाष्यकारों ने भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। व्यतिरेक शब्द का निवर्तन अर्थात् अभाव अर्थ विहित है कि कर्म से संयोग उत्पन्न होता है संयोग से द्रव्य उत्पन्न होता है कर्म निवृत होने पर अथवा द्रव्य के उत्पत्ति समय में कर्म का अभाव होने से कर्म कारण नहीं है ऐसी व्याख्या की है। कर्म को निवर्तन का अभाव केवल उत्पन्न द्रव्य में ही नहीं, किन्तु संयोग होने पर भी कर्म का निवर्तन या अभाव होता है। इसलिए व्यतिरेक शब्द का यहाँ अर्थ निवर्तन व अभाव इष्ट नहीं है। (किन्तु संयोग के उपरान्त विनाश, पुनः द्रव्य की उत्पत्ति व कर्म का अभाव होने से उल्लंघन, अतिक्रमण अर्थ होना ठीक है) ॥२१-२२॥

कारणसाधर्म्यमुक्त्वा कार्यसाधर्म्यमाह –

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ॥२३॥

(द्रव्याणां द्रव्यं कार्यम्) द्रव्याणामिति बहुवचनमनेकार्थम्, द्वयोरवयवयोर्द्रव्ययोर्बहूनां वाऽवयवानां द्रव्याणां कार्यमेकद्रव्यं यथा द्वयोरर्धगोलयोर्गोलः कलशः कन्दुकं वा बहूनां तन्तूनामेकः पटोऽवयविद्रव्यं भवति। तत् (सामान्यम्) एकद्रव्योत्पादकत्वं द्रव्याणां साधर्म्यमस्ति ॥२३॥

कारण साधर्म्य कहकर अब कार्य साधर्म्य कहते हैं-

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ॥२३॥

सूत्रार्थ= अनेक द्रव्यों का सामान्य कार्य एक द्रव्य होता है, अर्थात् समान रूप से अनेक द्रव्य मिलकर एक द्रव्य उत्पन्न करते हैं ॥२३॥

भाषार्थ:- *(द्रव्याणां द्रव्यं कार्यम्)* द्रव्याणाम् में बहुवचन अनेक के लिए है, दो अवयवी द्रव्यों का बहुत अवयव द्रव्यों का कार्य एक द्रव्य है; जैसे दो अर्ध गोलकों का गोल या कलश या कंदुक, बहुत तंतुओं का एक पट अवयवी द्रव्य होता है। वह *(सामान्यम्)* एक द्रव्य का उत्पादक द्रव्यों में साधर्म्य है ॥२३॥

गुणानां गुणः कार्यं सामान्यं त्वग्रे वक्ष्यते विस्तरेण संक्षिप्तविषयत्वात् कर्मणां कर्मसामान्यविषये पूर्वमुच्यते –

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥२४॥

*(कर्मणां कर्म न) कर्मणां कर्म सामान्यं कार्यं न भवति (गुणवैधर्म्यात्) गुणशब्दोऽत्र स्वभाववाची स्वभाववैधर्म्यात्। अस्थिरत्वं क्षणिकत्वं वा कर्मणां स्वभावः, अस्थिराणां क्षणिकानां न मिश्रीभावः कार्यात्मना सम्भवतीति स्वभाववैधर्म्यम्। द्रव्याणां गुणानां मिश्रीभावस्तु भवति कार्यात्मना तेषां स्थिरत्वात् स्थिरधर्मवत्त्वात् स्थिरस्वभाववत्त्वात् * पूर्वं तु "कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते" इति कारणसामान्येनोक्तम्, अत्र खलु कार्यसामान्येनोच्यते यदनेकेषां कर्मणामेकं कार्यसामान्यमपि न भवतीत्यपौनरुक्त्यम् ॥२४॥*

*। 'गुणवैधर्म्यात्'"द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यं कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते इत्येवात्र सूत्रेणानूद्यते" शङ्करमिश्रः। पूर्वोक्तमेव भिन्नक्रमे सूत्रे हेतुत्वेनोपादानं न सम्यक्। "गुणकर्मणोर्द्रव्यसमवेतत्वं गुणसाधर्म्यं परन्तु कर्मणि गुणतो वैधर्म्यं कर्मत्वं कर्मसंज्ञा" (जयनारायणः) एतदपि न समीचीनं तर्हि नाममात्रतो वैधर्म्यं भवति। "कारणगुणा कार्यगुणमारभन्ते तथा नावयवकर्मावयविनि कर्मारभते इति गुणतो वैधर्म्यम् इति चन्द्रकान्तः। एवं द्रव्यतोऽपि वैधर्म्यं वक्तव्यं स्यात् एतदपि न युक्तम्। हरिप्रसाद वृतौ न विशेषः।

गुणों का गुण कार्य सामान्य है उसको आगे कहेंगे विस्तार से; संक्षिप्त विषय होने से कर्मों का कार्य सामान्य विषय पूर्व बताते हैं-

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥२४॥

सूत्रार्थ= स्वभाव विरुद्ध होने से अनेक कर्मों का एक कर्म सामान्य कर्म नहीं होता (अर्थात् अनेक कर्म मिलकर एक कर्म को उत्पन्न नहीं कर सकते; क्षणिक होने से) ॥२४॥

भाषार्थ= *(कर्मणां कर्म न)* कर्मों का कर्म सामान्य कार्य नहीं होता है *(गुणवैधर्म्यात्)* गुण शब्द यहाँ पर स्वभाववाची है, (अतः अर्थ हुआ) स्वभाव के विरुद्ध होने से। अस्थिरता या क्षणिकत्व कर्म का स्वभाव है, अस्थिरों का = क्षणिकों का कार्यस्वरुप के साथ मेल

विरुद्ध स्वभाव के कारण नहीं होता है। द्रव्यों का, गुणों का मिश्रिभाव = मेल तो कार्यस्वरूप के साथ होता है उनके स्थिर होने से, स्थिर धर्मवाले होने से = स्थिर स्वभाववाले होने से। पहले तो कर्म *"कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते"* यह कारण सामान्य रूप से कहा गया; यहाँ कार्य सामान्य रूप से कहा है कि अनेकों कर्मों का एक कार्य सामान्य भी नहीं होता है। ये पुनरुक्तता नहीं है ॥२४॥

कार्यसामान्यप्रकरणे द्रव्याणां सामान्यं कार्यं प्रकृतं तत्रैवेदमुच्यते –

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथकत्वसंयोगविभागाश्च ॥२५॥

(द्वित्वप्रभृतयः संख्याः) द्वित्वत्रित्वपरार्द्धान्त संख्यात्मको गुणः (पृथक्त्वसंयोगविभागाः च) तथा पृथक्त्वं संयोगो विभागाश्च गुणःसामान्यं कार्यं द्रव्याणां भवति ॥२५॥

कार्य सामान्य प्रकरण में द्रव्यों का सामान्य कार्य प्रसंग चल रहा है, उसी में कहते हैं-

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथकत्वसंयोगविभागाश्च ॥२५॥

सूत्रार्थ:-द्वित्व से लेकर असंख्य तक गुण, पृथकत्व, संयोग और विभाग गुण अनेक द्रव्यों के सामान्य कार्य हैं ॥२५॥

भाषार्थ:- *(द्वित्वप्रभृतयः संख्याः)* द्वित्व त्रित्व आदि असंख्य संख्यात्मक गुण है *(पृथक्त्वसंयोगविभागाः च)* द्रव्यों का सामान्य कार्य पृथकत्व, संयोग, विभाग गुण हैं ॥२५॥

किं द्वित्वादिवत् कर्मापि द्रव्याणां सामान्यं कार्यं भवति न वेत्यत्रोच्यते –

असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ॥२६॥

(सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते) द्रव्ययोर्द्रव्याणां वा सामान्यकार्यं कर्म नोपलभ्यते न सम्भवति (असमवायात्) द्वयोर्द्रव्ययोर्बहुषु द्रव्येषु कर्मणोऽसमवायात्। न हि द्वयोर्द्रव्ययोर्बहुषु द्रव्येषु वैकं कर्म समवायेन निस्तिष्ठति। एकस्य कर्मणः खल्वेकमेव द्रव्यं समवायिकारणं भवति। उक्तं हि कर्मलक्षणे "एकद्रव्यम् ..." (वै. १।१।१७) एकद्रव्याश्रयि कर्म ॥२६॥

क्या द्वित्वादि के समान द्रव्यों का कर्म भी सामान्य कार्य होता है या नहीं; तो कहते हैं -

असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ॥२६॥

सूत्रार्थ:- अनेक द्रव्य का सामान्य कार्य एक कर्म नहीं हो सकता एक कर्म का अनेक द्रव्यों से संबंध न होने से ॥२६॥

भाषार्थ:- *(सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते)* दो द्रव्यों का अनेक द्रव्यों का अथवा सामान्य कर्म उपलब्ध नहीं होता संभव नहीं होता *(असमवायात्)* दो द्रव्यों में वा अनेक द्रव्यों में कर्म का संबंध न होने से। दो द्रव्यों में वा अनेक द्रव्यों में एक कर्म सम्बद्ध से नहीं ठहरता है स्थिर नहीं रहता है। एक कर्म का एक ही द्रव्य समवायिकारण होता है। कहा भी कर्म लक्षण में *"एकद्रव्यम् ..." (वै. १।१।१७)* एक द्रव्य कर्म होता है ॥२६॥

कर्मणस्तु द्रव्यारम्भकत्वं न भवति गुणस्य द्रव्यारम्भकत्वं भवति न वेति कथ्यते –

संयोगानां द्रव्यं ॥२७॥

(संयोगानां द्रव्यम्) बहूनां संयोगानां द्रव्यमेकं सामान्यकार्यं भवति, यथा- तन्तुगतसंयोगानां पटः कार्यमेकं द्रव्यं सामान्यं भवति पार्थिवाद्यणुसंयोगानां पृथिव्यादिस्थूलं द्रव्यं सामान्यं कार्यं भवति ॥२७॥

कर्म से द्रव्य उत्पन्न नहीं होता है तो गुण से द्रव्य उत्पन्न होता है वा नहीं उसको कहते हैं-

संयोगानां द्रव्यम् ॥२७॥

सूत्रार्थ:- अनेक संयोगों का एक सामान्य कार्य द्रव्य होता है ॥२७॥

भाषार्थ:- *(संयोगानां द्रव्यम्)* बहुत संयोग का द्रव्य एक सामान्य कार्य होता है, जैसे तंतुगत संयोगो का पट कार्य एक सामान्य द्रव्य होता है पार्थिवादि अणु सयोगों का पृथ्वी आदि स्थूल द्रव्य सामान्य कार्य होते हैं ॥२७॥

केषाञ्चिद्गुणानां गुणः सामान्यं कार्यं भवतीति दशर्यत्याचार्यः –

रूपाणां रूपम् ॥२८॥

(रूपाणां रूपम्) अवयवद्रव्यस्थरूपाणां नीललोहितादीनामवयविस्थरूपं तथाभूतं सामान्यं कार्यं भवति। "द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यं, द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरमारभन्ते" इति पूर्वोक्तत्वादत्र रूपाणां रूपं कथने खलूभयत्र रूपरसगन्धस्पर्शस्नेहसांसिद्धिकद्रवत्वादीनामपि ग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥२८॥

कुछ गुण का गुण सामान्य कार्य होता है वह कहते हैं-

रूपाणां रूपम् ॥२८॥

सूत्रार्थ:- अनेक रूपों का एक सामान्य कार्य एक रूप होता है ॥२८॥

भाषार्थ:-*(रूपाणां रूपम्)* नीला लाल आदि अवयव द्रव्यस्थ रूपों का सामान्य कार्य अवयवीस्थ रूप होता है। *"द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यं, द्रव्याणि*

द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरमारभन्ते" इति पूर्वोक्त होने से रूपों का रूप ऐसा कहने पर दोनों सूत्रों में रूप, रस, गंध, स्पर्श, स्नेह, स्वाभाविक द्रवत्व आदि का ग्रहण करना चाहिए ॥२८॥

गुणानां कर्मापि सामान्यं कार्यं भवति –

गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ॥२९॥

(गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानाम्) गुरुत्ववतो द्रव्यस्य गुरुत्वम्, आत्मप्रयत्नः, गुरुत्ववता लोष्ठादिना सह हस्तसंयोगः, इत्येषां त्रयाणाम् (उत्क्षेपणम्) ऊर्ध्वं क्षेपणं लोष्ठगतं कर्म कार्यं सामान्यं भवति। अत्रात्मप्रयत्नो निमित्तकारणं, गुरुत्ववद् द्रव्यं लोष्ठादि समवायिकारणं लोष्ठादिकस्य गुरुत्वं लोष्ठादिना सहहस्तसंयोगश्चासमवायिकारणम्, तथावक्षेपणे च गुरुत्वं हस्तशैथिल्यरूपः प्रयत्नश्चासमवायिकारणमुत्प्रेक्ष्यम् ॥२९॥

गुणों का कर्म भी सामान्य कार्य होता है -

गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ॥२९॥

सूत्रार्थः- गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग का उत्क्षेपण कर्म सामान्य कार्य होता है ॥२९॥

भाषार्थः- *(गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानाम्)* गुरुत्व वाले द्रव्य का गुरुपना, जीवात्मा का प्रयत्न, भारवाले लोष्ठ आदि के साथ हाथ का संयोग इन तीनों का *(उत्क्षेपणम्)* ऊपर की प्रवृत्ति होना लोष्ठगत कर्म का कार्य सामान्य होता है। यहाँ आत्मप्रयत्न निमित्त कारण है, गुरुत्व वाला द्रव्य लोष्ठादि समवायि कारण है लोष्ठादि का गुरुपना निमित्त कारण है; लोष्ठ आदि के साथ हाथ का संयोग असमवायि कारण है तथा नीचे की प्रवृत्ति होने पर गुरुपना और हाथ का शिथिलता रूप प्रयत्न ये निमित्त कारण है और हस्तगत विभाग असमवायि कारण जानना चाहिए ॥२९॥

कर्मणामपि सामान्यं कार्यं काचिद् गुणव्यक्तिर्भवतीत्युच्यते –

संयोगविभागाश्च कर्मणाम् ॥३०॥

(कर्मणां संयोगविभागाः च) कर्मणां द्वयोः कर्मणोर्बहूनां वा कर्मणां संयोगो विभागश्चकाराद् वेगश्च गुणः कार्यसामान्यं भवति ॥३०॥

कर्म का भी सामान्य कार्य कोई गुण होता है, वह कहते हैं-

संयोगविभागाश्च कर्मणाम् ॥३०॥

सूत्रार्थः-संयोग विभाग और वेग संस्कार गुण कर्मों के कार्य सामान्य हैं ॥३०॥

भाषार्थः- *(कर्मणां संयोगविभागाः च)* दो कर्मों का वा बहुत कर्मों का संयोग और विभाग, चकार से वेग गुण सामान्य कार्य होते हैं ॥३०॥

परन्तु द्रव्यं कर्म वा कर्मणः सामान्यं कार्यं न भवति, यतः –

कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ॥३१॥

(कारणसामान्ये) कारणसामान्ये प्रकरणे (द्रव्यकर्मणां कर्म- अकारणम् – उक्तम्) द्रव्यस्य कर्मणश्च कर्म सामान्यं कारणं न भवति, उक्तं यथा "न द्रव्याणां कर्म, न कर्म कर्मसाध्यं विद्यते" – "गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म" इत्यपि चोक्तमेव ॥३१॥

परंतु द्रव्य अथवा कर्म, कर्म का सामान्य कार्य नहीं होते हैं, क्योंकि -

कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ॥३१॥

सूत्रार्थः-सामान्य प्रकरण में पहले कहा जा चुका है कि कर्म द्रव्य और कर्मों का कारण नहीं होता ॥३१॥

भाषार्थः- कारण सामान्य प्रकरण में कर्म का सामान्य कारण कर्म नहीं होता है। कहा भी है, जैसे *न द्रव्याणां कर्म, न कर्म कर्मसाध्यं विद्यते" "गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म"*ये पहले कहे जा चुके हैं। ॥३१॥

प्रथमाध्याये प्रथमाह्निकं समाप्तम्

--- --- ---

द्रव्य प्रकरण

	द्रव्य	द्रव्यस्थ/तत्रस्थ गुण
१	पृथ्वी	१४
२	जल	१४
३	तेज	११
४	वायु	९
५	आकाश	६
६	काल	५
७	दिशा	५
८	आत्मा	१४
९	मन	८

द्रव्य सदा समवायि कारण होता हैं,गुण और कर्म नहीं। न द्रव्य कभी असमवायि कारण बनता। द्रव्य निमित्त कारण तो बन जाता है।

पृथ्वी के भेद =

१) नित्य = परमाणु

२) अनित्य = कार्यरूप

अनित्य पृथ्वी के तीन भेद है।

१) शरीर =

(क) योनिज	(अ) जरायुज	मनुष्य पशु आदि।
	(स) अण्डज	पक्षी आदि।
(ख) अयोनिज	(अ) स्वेदज	मच्छरादि
	(स) उद्भिज	वृक्ष बरसाती कीटादि

२) इन्द्रिय = गंधग्राहक नासिकेन्द्रिय

३) विषय = द्वयणुक से लेके पृथ्वी भूत तथा पार्थिव वस्तुएँ (घटादि पर्यन्त।)

पृथ्वी के १४ गुण =

सामान्य गुण १० = संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व , गुरुत्व, वेग (द्रवत्व नैमित्तिक)

- विशेष गुण ४ = गंध, स्पर्श (अनुष्णशीतकठोर), रस (६ प्रकार का), रूप (७ प्रकार का)

जल के भेद =

१) नित्य = परमाणु (रूप)

२) अनित्य = कार्यरूप

अनित्य जल के तीन भेद होते है।

१) शरीर	आयोनिज वरुण लोक में।
२) इंद्रिय	रसग्राहक रसना
३) विषय	नदी समुद्र जलरूपी भूत

जल के १४ गुण =

सामान्य गुण ९ = संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व , गुरुत्व, वेग।

विशेष गुण ५ = रस (मधुर), रूप (शुक्ल), स्पर्श (शीत), द्रवत्व (स्वाभाविक सांसिद्धिक), स्नेह (चिकनापन)।

अग्नि के भेद =

(१) अनित्य कार्यरूप (२) नित्य = परमाणुरूप

अनित्य तेज के तीन भेद

१) शरीर	आयोनिज सूर्य लोक में
२) इंद्रिय	रूप ग्रहण नेत्र
३) विषय	१. मोम – काष्टाग्नि २. दिव्य – विद्युत

	३. औदर्य – जठराग्नि ४. आकारण – सुवर्णादि

तेज के ग्यारह गुण

सामान्य गुण ९ = संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, वेग, द्रवत्व।

विशेष गुण २ = स्पर्श (उष्ण), रूप (भास्कर शुक्ल)

वायु के भेद =

(१) नित्य = परमाणु (२) अनित्य = कार्यरूप

अनित्य के तीन भेद

१) शरीर	आयोनिज (वायव्यलोकमें)
२) इंद्रिय	स्पर्श ग्राहक (त्वगिन्द्रिय)
३) विषय	प्राण अपान (वायुरूपीभूत)

वायु के ९ गुण

८ सामान्य = पृथ्वी के समान गुरुत्व द्रवत्व छोड़कर।

(संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, वेग।)

१ विशेष = स्पर्श (अपमाज, अनुष्णशीत, विलक्षण)

आकाश के ६ गुण

५ सामान्य – संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग।

१ विशेष - शब्द

दिशा व काल समानताएँ

१) दिशा व काल दोनों ही नित्य, सर्व व्यापी व अनन्त है।

२) दोनों ही वास्तव में (संख्या में) एक होते हुए भी उपाधि भेद से नाना प्रतीत होते है।

३) दोनों में पाँच गुण समवेत है। संख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग, विभाग।

विशेषताएँ (अन्तर या भेद)

१) दिशा दुरादि व्यवहार का हेतु है।

काल अतीतादि व्यवहार का हेतु है।

२) उपाधि भेद से काल के तीन भेद होते है।

(१) भूत (२) वर्तमान (३) भविष्य

३) दिशा के दस भेद होते है।

पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान्य, ऊर्ध्वा, ध्रुवा।

४) दिशा और काल दोनों संसार के आश्रय हैं। दिशा का सम्बन्ध दैशिक सम्बन्ध है।

काल का सम्बन्ध कालिक सम्बन्ध है।

आत्मा के भेद =

जीवात्मा - अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान, अनन्त है।

परमात्मा - एक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है।

जीवात्मा के चौदह गुण है।

५ सामान्य – संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग।

९ विशेष – ज्ञान (बुद्धि), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, भावना (संस्कार), धर्म, अधर्म।

परमात्मा के आठ गुण है।

५ सामान्य – संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग।

३ विशेष – ज्ञान (बुद्धि), इच्छा, प्रयत्न। (धर्म)

मन के आठ गुण (mind)

८ सामान्य - संख्या (अनन्त), परिमाण (अणुरुप), पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, वेग।

विशेष – यह प्रत्येक आत्मा में सुख दुख कि उपलब्धि का साधन है।

गुण प्रकरण

		ग्राह्य	प्रकार	
१	रुप	नेत्र	७	श्वेत, नीला, पीला, लाल, हरा, भूरा, मिश्रित, चित्र
२	रस	रसनेन्द्रिय	६	मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़वा, कसैला, तीखा (विचित्र नामक ७वा भी कहा जाता है।)
३	गन्ध	घ्राणेंद्रिय	२	सुगन्ध दुर्गन्ध।
४	स्पर्श	त्वगिन्द्रिय	३	ठंडा, गर्म , न ठंडा न गर्म।
५	शब्द	श्रोत्रम्	२	वर्णात्मक, ध्वन्यात्मक।
६	संख्या	जिसके आधारपर गणना		१,२,३,४,५,६,७,। ० यह अनन्त है। + की ओर तथा - की ओर
७	परिमाण	जिसके आधारपर मापन	४ भेद	अणु, महत्, ह्रस्व, दीर्घ।
८	पृथकत्व		१	यह इसमें अलग है। इस ज्ञान का आधार पृथकत्व गुण होता है। यह एक ही प्रकार का सभी द्रव्यों में होता है।
९	संयोग		३	यह पदार्थ उसके साथ संयुक्त है। इसका आधार 'संयोग गुण' है। यह तीन प्रकार का होता है। १. अन्यतर कर्मज

				२. उभय कर्मज ३. संयोगज
१०	विभाग		३	यह संयोग का नाशक विभाग है। १. अन्यतर विभागज २. उभय विभागज ३. विभागज
११	परत्व	वह दूर है।	२	इस व्यवहार का आधार परत्व गुण है। १) दैशिक २) कालिक
१२	अपरत्व	वह समीप है।	२	इस व्यवहार का आधार अपरत्व गुण है। १) दैशिक २) कालिक
१३	गुरुत्व			जिस गुण के कारण किसी वस्तु का नीचे की ओर स्वाभाविक पतन हो। विना वेग बल के जो पतन है यथा – गेंद का पतन, बालक का कूदना, पत्ते का गिरनादि।
१४	द्रवत्व		२	जिस गुण के कारण कोई वस्तु बहती है। १)स्वाभाविक = जल में। २)नैमित्तिक = मोम आदि में।
१५	स्नेह		२	जिस गुण की द्वारा किसी चूर्ण को सानकर गोला आदि बनाया जा सकता है। १)स्वाभाविक = जल में। २)नैमित्तिक = घी तेल में।(यह किसी का मत है, सब का नहीं।)
१६	संस्कार		३	१) भावना= आत्मा में रहनेवाला संस्कार। २) वेग = तीर में या बंदूक की गोली में ३) स्थिति स्थापक = पेड़ की डाली में, कुत्ते की पूंछ में (जहां से हम नीचे या उपर करते है, वह स्वतः वही पर चली जाती है।)
१७	बुद्धि		६	बुद्धि ज्ञान को कहते है। १) प्रत्यक्ष २) अनुमान ३) शब्द ४) स्मृति ५) स्वप्न ६) सुषुप्ति मुख्य पहिले तीन है। तथा इन सबसे भिन्न आर्ष ज्ञान भी है (आदि सृष्टि के ऋषियों को होनेवाला वेदज्ञान।)
१८	प्रयत्न		३	कार्य के आरम्भक गुण को प्रत्यक्ष कहते है।

				संरम्भ या उत्साह इसके पर्यायवाची शब्द है। १) विहित प्रयत्न = धर्म की प्राप्ति करनेवाला। २) निषिद्ध प्रयत्न = अधर्म की प्राप्ति करनेवाला। ३) उदासीन प्रयत्न = जिसने न धर्म न अधर्म। यथा शरीर खुजलाहट।
१९	सुख			जो सबको अच्छा लगे वह सुख होता है।
२०	दुःख			जो सबको बुरा लगे वह दुःख होता है।
२१	इच्छा		६	किसी वस्तु की कमाना को इच्छा कहते है। १) अभिलाषा = भोजन विषयक इच्छा। २) काम = मैथुनेच्छा। ३) राग = निरन्तर आसक्ति। ४) उपधा = दूसरों को अपमानित करने की इच्छा। ५) चिकीर्षा = कार्य करने की इच्छा। ६) जिघृक्षा = लेने की इच्छा।
२२	द्वेष		५	जिसके द्वारा आत्मा दग्ध सा हो जाय। १)क्रोध २)द्रोह ३)मन्यु ४)अक्षमा ५) अमर्ष (न सहना)
२३	धर्म		२	धर्माधर्म आत्मा के गुण है। धर्म से कर्ता को सुख, सुख के साधन, मुक्ति आदि की प्राप्ति होती है। १) सामान्य सुख = अहिंसा सत्य अस्तेय आदि। २) विशेष सुख = वर्णाश्रम धर्मादि।
२४	अधर्म			अधर्म से कर्ता को दुःख की प्राप्ति होती है। हिंसा, झूठ, चोरी आदि।

--------x--------

॥ प्रथमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ॥

पूर्वाह्निकस्यान्तिमे भागे कारणसामान्यं कार्यसामान्यं च प्रदर्शितम् । तदेतदुभयविधं सामान्यं कार्यकारणयोः सम्बन्धमन्तरेण न स्यात्, स एष कार्यकारणसम्बन्धोऽत्र प्रथमं दर्शयत्याचार्यः –

कारणाभावात् कार्याभावः ॥१॥

(कारणाभावात्) सर्वविधस्य कारणस्य समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्यस्याभावादविद्यमान-त्वात् (कार्याभावः) कार्यस्याभावः कार्यं न निष्पद्यतेऽर्थात् कार्यभावः कार्यनिष्पत्तिः कारणभावाद् भवति नान्यथेति स्थिरनियमः । एवं दुःखाभावोऽपवर्गो भवतु तत्कारणस्य जन्मनोऽविवेकस्य मिथ्याज्ञानस्य वाऽभावादित्युत्प्रेक्ष्यम् ॥१॥

पूर्व आह्निक के अंतिम भाग में कारण सामान्य और कार्य सामान्य बता दिया है । वह दोनों प्रकार का सामान्य, कार्य कारण के सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकता, वह कार्य कारण सम्बन्ध पहले आचार्य बताते हैं-

कारणाभावात् कार्याभावः ॥१॥

सूत्रार्थ :- कारण के न होने से (हट जाने से) कार्य भी नहीं होता (हट जाता) है ॥१॥

भाष्यार्थः-*(कारणाभावात्)* सभी प्रकार के कारण = समवायि, असमवायि और निमित्त कारण का अभाव होने से; अविद्यमान होने से *(कार्याभावः)* कार्य का अभाव होता है, कार्य की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् कारण के होने से कार्य की निष्पत्ति होती है । इससे भिन्न नहीं, ये स्थिर नियम है । इस प्रकार से दु:ख का अभाव अपवर्ग होवे; उस के कारण जन्म का अविवेक का मिथ्याज्ञान का अभाव होने से ऐसा जानना चाहिए ॥१॥

परन्तु –

न तु कार्याभावात् कारणाभावः ॥२॥

(न तु) न खलु (कार्याभावात्) कार्यस्याभावाद विद्यमानत्वादनुत्पादात् (कारणाभावः) कारणस्याभावोऽविद्यमानत्वं भवति । कार्यमन्तरेणापि कारणं स्वरूपेऽवतिष्ठते हि । बीजं कारणं यथाऽङ्कुरात्पूर्वं स्वरूपेऽवतिष्ठते । कार्यं खलु कारणंनातिक्रामति किन्तु कार्यमतिक्रम्य कार्यमनुत्पाद्यापि कारणमवतिष्ठते । कदाचित् कार्याभावात् कारणाभावो न मन्तव्यः, कार्यं तु समयं प्राप्योत्पत्स्यते हि कारणात् । एवं कदाचित् सामयिकदुःखाभावे दुःखकारणस्यापि सर्वथाऽस्त्यभाव इति न मन्तव्यं न हि कृतार्थता सा, नितान्तदुःखाभावः कृतार्थता सा तु नितान्तकारणाभावे नान्यथा ॥२॥

न तु कार्याभावात् कारणाभावः ॥२॥

सूत्रार्थः- कार्य का अभाव होने पर ऐसा नहीं मान लेना चाहिए कि कारण का भी अभाव है ॥२॥

भाष्यार्थः- *(न तु)* नहीं *(कार्याभावात)* कार्य का अभाव होने से, अविद्यमान होने से, उत्पन्न न होने से *(कारणाभावः)* कारण का अभाव वा अविद्यमानता होती है। कार्य के बिना भी कारण अपने स्वरूप में स्थित रहता है। जैसे बीज जो कारण है अंकुर से पूर्व अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। कार्य कारण का अतिक्रमण नहीं करता, किन्तु कार्य का अतिक्रमण करके, करी अको उत्पन्न किए बिना भी कारण रहता है। कभी ऐसा न मान लेना कि कार्य का अभाव होने से कारण का भी अभाव हो जाएगा, कार्य तो समय आने पर कारण से उत्पन्न होगा ही। इसी प्रकार कभ किसी समय दुःख के अभाव होने पर, यह नहीं मानना चाहिए कि दुःख का सर्वथा अभाव हो गया है , ये कृतार्थता नहीं है, सारे नितांत दुःख का अभाव होना ही कृतार्थता है प्रयोजन की सिद्धि है, नितांत कारण का अभाव होने पर, इससे भिन्न नहीं ॥२॥

द्रव्यगुणकर्मणां त्रयाणां षड्भ्यः पदार्थेभ्यो विभक्तानामर्थपदवाच्यानामुद्देशलक्षणे कार्यकारणभावं चोक्त्वा क्रमप्राप्तौ सामान्यविशेषौ लक्षयत्याचार्यः –

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥३॥

(सामान्यं विशेषः – इति) सामान्यं यश्च विशेषः, इत्येतद् वृत्तम् (बुद्ध्यपेक्षम्) बुद्धेरपेक्षा यस्मिन्, असमानविभक्तिर्बहुव्रीहिः, यद्वाऽपेक्षा परस्परापेक्षणकरिणी बुद्धिर्यस्मिन्, विशेषणस्य परनिपात आर्षो राजदन्तादिषु परमित्याश्रयेण वा, अथवा बुद्धिमपेक्षते – इति बुद्ध्यपेक्षम्, न त्वैन्द्रियिकमर्थमपेक्षते इत्यर्थः, एवमुपपदतत्पुरुषसमासः । कश्चिदपि भवतु समासः, सामान्यं तथा विशेषश्च नेन्द्रियगोचरतामापद्येते द्रव्यवत्,किन्तु बुद्ध्या हि तयोः स्वरूपमपेक्ष्यते विवेच्यते ज्ञायते वा ॥३॥

द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों का जो छः पदार्थों से बटे हुओं का 'अर्थ' पद से कथित = कहे जाने योग्य हैं, उनका नाम व लक्षण = कार्य- कारण-भाव को कहकर अब क्रमशः प्राप्त सामान्य और विशेष को आचार्य बताते हैं –

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥३॥

सूत्रार्थ :- सामान्य और विशेष, ये व्यवहार बुद्धि की अपेक्षा से होते हैं ॥३॥

भाष्यार्थ :- *(सामान्यं विशेषः – इति)* सामान्य और विशेष यह व्यवहार *(बुद्ध्यपेक्षम्)* बुद्धि की अपेक्षा जिसमें, वह *बुद्ध्यपेक्षम्* में असमान-विभक्ति-बहुब्रीहि समास है, अथवा परस्पर अपेक्षा करने वाली बुद्धि जिसमें होती है, विशेषण का परनिपात या तो आर्ष प्रयोग मानना

या तो *'राजदंतादिषु परम'* इसके आश्रय से हो जाएगा, अथवा *'बुद्धिमपेक्षते'* , बुद्धि की अपेक्षा करता है, वह बुद्धि अपेक्षम् अर्थात् इंद्रियों के विषय की अपेक्षा नहीं करता है, यह अर्थ है। इस प्रकार से उपपद तत्पुरुष समास हुआ। कोई भी समास होवे, द्रव्य के समान, सामान्य और विशेष इंद्रियों के द्वारा नहीं जाने जाते द्रव्य के समान। किन्तु बुद्धि से ही दोनों सामान्य और विशेष के स्वरूप का ज्ञान होता है ॥३॥

तद् बुद्ध्यपेक्षं कथमिति स्वयं प्रदर्शयत्याचार्य -

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥४॥

(अनुवृत्तेः – एव हेतुत्वात्) अनुवृत्तिबुद्धेर्यद्वाऽनुवृत्तबुद्धेरेव हेतुत्वात् (भावः सामान्यम् – एव) भावः सत्ता सामान्यमेव द्रव्यं सत्, गुणः सन्, कर्म सत्, इति सत्तायाः सर्वत्र द्रव्ये गुणे कर्मणि खल्वनुवर्तमानत्वात्। अत्रार्थादापद्यते यत् "व्यावृत्तेरेव हेतुत्वाद् विशेष एव, व्यावृत्तिबुद्धेर्यद्वा व्यावृत्तबुद्धेरेव हेतुत्वाद् विशेष एव। तथाच यस्मिन् खलु कदाचिदनुवृत्तिबुद्धिः कदाचिद् व्यावृत्तिबुद्धिस्तस्मिन् सामान्यं विशेषश्चेति द्वयं भवति स्वरूपं स्वरूपज्ञानं वा, यथा व्यक्तिषु खलु द्रव्येषु द्रव्यत्वं गुणेषु गुणत्वं कर्मसु कर्मत्वं सामान्यम्। अथ भावापेक्षया यद्वा महासत्तापेक्षया तु विशेषश्चापि भवत्युभयथा । पृथिव्यादिषु व्यक्तिषु विशेषेषु द्रव्यत्वं सामान्यं पृथिव्यादयस्तु व्यक्तयो विशेषा एव परन्तु द्रव्यत्वं सामान्यमपि विशेषोऽपीति विवेकः ॥४॥

वह बुद्धि की अपेक्षा कैसे करता है उसको स्वयं आचार्य प्रदर्शित करते हैं-

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥४॥

सूत्रार्थः- सत्ता अनेक वस्तुओं में उपलब्ध होने के कारण से सामान्य ही है, अनेकत्र उपलब्ध होने से ॥४॥

भाष्यार्थः- *(अनुवृत्तेः–एव हेतुत्वात्)* अनुवृत्ति= आवृत्ति के ज्ञान से, वा आवृत्ति ज्ञान का हेतु होने से *(भावः सामान्यम् – एव)* भावः= सत्ता, जो सत्ता है वह सामान्य है, द्रव्य है, गुण है, कर्म है, इस प्रकार तीनों द्रव्य गुण और कर्म में सत्ता की आवृत्ति होने से सामान्य है। यहाँ पर अर्थापत्ति से जिसकी आवृत्ति नहीं होती है वह विशेष है, पृथक होने के कारण से विशेष है, व्यावृत्ति के ज्ञान के कारण से विशेष की सिद्धि होती है। तथा जिस पदार्थ में कभी अनुवृत्ति बुद्धि (आवृत्ति ज्ञान) कभी व्यावृत्ति बुद्धि (भेद का ज्ञान) होती है तो ऐसा जानना चाहिए कि वह सामान्य भी है और विशेष भी इस प्रकार दो प्रकार का स्वरूप ज्ञान है। जैसे पृथक-पृथक पदार्थों में द्रव्यों में द्रव्यत्व सामान्य है, गुणों में गुणत्व सामान्य है, कर्मों में कर्मत्व सामान्य है। सत्ता की अपेक्षा से या महासत्ता की अपेक्षा से विशेष भी दो प्रकार का होता है। पृथिव्यादि व्यक्ति में विशेषो में द्रव्यत्व सामान्य है। पृथिवि आदि व्यक्ति विशेष ही हैं परंतु उसमें द्रव्यों की अपेक्षा द्रव्यत्व सामान्य है और द्रव्य गुण कर्म आदि की अपेक्षा से विशेष भी है ॥४॥

तदेव विवृणोत्याचार्यः –

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ॥५॥

(द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाः- च) द्रव्येषु द्रव्यत्वं गुणेषु गुणत्वं कर्मसु कर्मत्वमिति त्रीण्यप्यनुवर्तनात् सामान्यानि भवन्त्यथ सत्तापेक्षया विशेषाः, सत्तातो व्यावर्तनाद् द्रव्यत्वादीनां विशेषत्वं भवत्येव यतो द्रव्यत्वादिष्वपि सत्ताया अनुवर्तनात् । एवं द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं सामान्यविशेषोभयविधस्वरूपम् ॥५॥

इस प्रकार विस्तार कहते है, आचार्य जी -

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ॥५॥

सूत्रार्थः- द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व सामान्य भी होते हैं और विशेष भी ॥५॥

भाष्यार्थः- *(द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाः- च)* द्रव्यों में द्रव्य आवृत्ति होने से, गुणों में गुण की आवृत्ति होने से और कर्मों में कर्मों की आवृत्ति होने से सामान्य है और सत्ता की अपेक्षा से विशेष है। सत्ता से भिन्न होने से द्रव्यत्व आदि विशेषत्व होते ही हैं, क्योंकि द्रव्य आदि में भी सत्ता का अनुवर्तन होने से। इस प्रकार से द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के स्वरूप वाले हैं ॥५॥

एकस्मिन्नर्थे सामान्यानि विशेषाश्चेत्येषा सरणिः –

अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥६॥

*(अन्त्येभ्यः – विशेषेभ्यः - अन्यत्र) अन्तेभवाः – अन्त्याः सर्वान्त्यास्तेभ्यो-विशेषेभ्यो द्रव्यगुणकर्मभ्योऽन्यत्रार्थात् तत्पूर्ववर्तिषु ह्यनुयोज्या सरणिरेषा सामान्या विशेषाश्च भवन्तीति। न खल्वन्त्यविशेषा उभयविधत्वमाप्नुवन्ति ते तु विशेषा एव भवन्ति व्यावृत्तेस्तत्र स्थिरत्वात् तेषामग्रे विशेषाभावाच्च । कर्मजातावुत्क्षेपणादि गुणजातौ गन्धादिर्द्रव्यजातौ पृथिव्यादि * ॥६॥*

------------------------------ ---- ---

** गमनमिति सामान्यं गमनत्वार्थकं तद्भेदाश्च भ्रमणपतनस्पन्दनादीनि विशेषा इति प्रशस्तपादः। पृथिवीत्वं सामान्यं पृथिवीविकारा गवादयो घटादयश्च विशेषास्तत्रापि गोत्वं घटत्वं सामान्यं गोव्यक्तिर्घटव्यक्तिर्विशेषः, एवं रूपत्वं सामान्यं रूपव्यक्तिर्विशेष इति च प्रशस्तपादः, लोकप्रसिद्धः खल्वेष व्यवहारः।*

------------------------------ ---- ---

एक ही अर्थ में सामान्य तथा विशेषों में सारणि -

अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥६॥

सूत्रार्थः- एक ही वस्तु में "सामान्य और विशेष" यह कथन अंतिम विशेषों को छोड़कर अन्यत्र लागू होता है ॥६॥

भाष्यार्थ:- *(अन्त्येभ्यः–विशेषेभ्यः -अन्यत्र)* अंत में होने वाला अन्त्य:, जिसके आगे उत्पत्ति नहीं होगी ऐसे जो द्रव्य-गुण-कर्म विशेष से भिन्न अर्थात् उस विशेषों से पूर्व में युक्त क्रमानुसार सामान्य और विशेष होते हैं। जो अन्त्य विशेष है वे दोनों सामान्य और विशेष नहीं होते हैं वे केवल विशेष ही होते हैं, भिन्न होने से, स्थिरत्व होने से, उनके आगे विशेष का अभाव होने से। कर्म जाति में उत्क्षेपण आदि गुण जाति में गंध आदि द्रव्य जाति में पृथिवि आदि विशेष हैं ॥६॥

------------------------------ ---- ---

** गमन सामान्य है, गमनत्व अर्थ वाला होने से। तद्भेदाश्च भ्रमणपतनस्पन्दनादीनि विशेषा इति प्रशस्तपादः। पृथिवीत्वं सामान्यं पृथिवीविकारा गवादयो घटादयश्च विशेषास्तत्रापि गोत्वं घटत्वं सामान्यं गोव्यक्तिर्घटव्यक्तिर्विशेषः, एवं रूपत्वं सामान्यं रूपव्यक्तिर्विशेष इति च प्रशस्तपादः, लोकप्रसिद्धः खल्वेष व्यवहारः।*

------------------------------ ---- ---

अन्त्यविशेषास्तु विशेषा एवेति तूक्तम्, अथ परमं सामान्यं यद्वा महासामान्यमुच्यते –

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥७॥

(द्रव्यगुणकर्मसु) द्रव्ये गुणे कर्मणि च भावात्मकव्यक्तौ (यतः सत् इति) यस्माद्धेतोर्यत्तत्त्वमाश्रित्य वा 'सत्' इति व्यवहारः सद् द्रव्यं सन् गुणः सत् कर्म प्रत्येकं प्रति वर्तते यद्वा सत्प्रत्ययोऽनुवृत्तो भवति सदात्मकत्वात् सत्ता सा महासामान्यं च तद् विशेषलेशाभावात्। द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वादीनि तु सत्तातो विशिष्टत्वान्नाविशेषाः ॥७॥

अन्त्य विशेष तो विशेष ही होते हैं यह तो कह दिया गया, अब 'परम सामान्य' वा 'महा सामान्य' कहते हैं-

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥७॥

सूत्रार्थ:- जिसके आधार पर द्रव्य गुण कर्मों में 'है' यह व्यवहार होता है वह सत्ता कहलाती है ॥७॥

भाष्यार्थ:- *(द्रव्यगुणकर्मसु)* द्रव्य में गुण में और कर्म में सत्तात्मक अभिव्यक्ति होने पर *(यतः सत् इति)* कारण से या जिस तत्व के आश्रय से 'सत् = है' यह व्यवहार होता है। द्रव्य है, गुण है, कर्म है, प्रत्येक के साथ वर्त्तमान होता है अथवा सत् प्रत्यय = है की अनुभूति अनुवृत्ति = आगे-आगे होती जाती है अर्थात् सद् स्वरूप वाला होने से सत्ता, वही महासामान्य है, उसमें विशेष के सम्पर्क का अभाव होने से। द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि सत्ता से भिन्न होने के कारण विशेष रहित है = सामान्य है ॥७॥

अथ च –

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥८॥

(द्रव्यगुणकर्मभ्यः – अर्थान्तरं सत्ता) द्रव्याद् गुणात् कर्मणश्च भिन्नं हि वस्तु भवति सत्ता। यथा पृथिव्यादिद्रव्येषु द्रव्यत्वं सर्वद्रव्यव्यापित्वात् तेभ्यः पृथिव्यादिभ्यो भिन्नं यथा वा रूपादिगुणेषु गुणत्वं सर्वगुणव्यापित्वात् तेभ्योरूपादिभ्यो भिन्नमथ चोत्क्षेपणादिकर्मसु कर्मत्वं सर्वकर्मव्यापित्वात् तेभ्य उत्क्षेपणादिभ्यो भिन्नं तथैव द्रव्यगुणकर्मसु सत्तायाः खल्वेकरूपतया व्यापित्वात् तेभ्यो द्रव्यगुणकर्मभ्यो भिन्नं वस्तु सत्ताऽस्ति ॥८॥

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥८॥

सूत्रार्थ:- सत्ता द्रव्य-गुण और कर्म इन तीन अर्थों से भिन्न वस्तु है ॥८॥

भाष्यार्थ:- *(द्रव्यगुणकर्मभ्यः – अर्थान्तरं सत्ता)* द्रव्य से गुण से और कर्म से भिन्न वस्तु सत्ता है। जैसे पृथिवि आदि द्रव्यों में द्रव्यत्व, क्योंकि द्रव्यत्व सभी द्रव्यों में व्याप्त होने से पृथिवि आदि से भिन्न है या जैसे रूपादि गुणों में गुणत्व, क्योंकि गुणत्व सभी गुणों में व्याप्त होने से रूपादि से भिन्न है और उत्क्षेपण आदि कर्मों में कर्मत्व, सभी कर्मों में कर्मत्व व्याप्त होने से उत्क्षेपण आदि से भिन्न है, वैसे ही द्रव्य-गुण-कर्मों में सत्ता का एक रूप से व्याप्त होने से उन द्रव्य-गुण-कर्म से भिन्न वस्तु द्रव्य है ॥८॥

सत्ता द्रव्ये भवति द्रव्याद् भिन्ना, गुणकर्मणी अपि द्रव्ये भवतो भिन्ने च द्रव्यात् तदा कथं न गुणः कर्म वा सत्ताऽत्रोच्यते –

गुणकर्मसु भावान्न कर्म न गुणः ॥९॥

(गुणकर्मसु भावात्) रुपादिगुणेषूत्क्षेपणादिकर्मसु च सत्ताया विद्यमानत्वात् (न कर्म न गुणः) सत्तानकर्मन गुणः, कर्मणि कर्म न भवति गुणे गुणो न भवति, सत्ता तु कर्मणि च भवति गुणे चापि भवति तस्माद् द्रव्यनिष्ठत्वेन हि सत्ता न कर्म न गुणः। अवयवद्रव्येषु खल्ववयविद्रव्यं भवति तदपि सत्ता न गुणकर्मसु भावादेवेत्यपि चार्थाल्लिभ्यते तथाऽवयविद्रव्ये चापि सत्ताया भावादिति चोत्प्रेक्षणीयम् ॥९॥

सत्ता द्रव्य में है, वह द्रव्य से भिन्न है, गुण और कर्म भी द्रव्य में होते हैं और द्रव्य से भिन्न होते हैं, तो क्यों न गुण वा कर्म को ही सत्ता कहा जाए इस विषय में कहते हैं-

गुणकर्मसु भावान्न कर्म न गुणः ॥९॥

सूत्रार्थ:- गुण और कर्म में विद्यमान होने के कारण सत्ता न कर्म है और न ही गुण है ॥९॥

भाष्यार्थ:- *(गुणकर्मसु भावात्)* रूपादि गुणों में और उत्क्षेपण आदि कर्मों में सत्ता का विद्यमान होने से *(न कर्म न गुणः)* सत्ता न कर्म है, न गुण है। कर्म में कर्म नहीं होता, गुण में गुण नहीं होता है, किन्तु सत्ता तो कर्म में भी और गुण में भी होती है। इसलिए द्रव्य में स्थित होने के कारण सत्ता न कर्म है और न गुण है ॥९॥

अपि च -

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१०॥

(सामान्यविशेषाभावेन च) सत्तायां खलु द्रव्यगुणकर्मस्विव सामान्यं विशेषश्चेति व्यवहारो न वर्तते तस्मात् सत्ता न द्रव्यं न गुणो न कर्म किन्तु तद्भिन्नं वस्तु ॥१०॥

और भी -

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१०॥

सूत्रार्थः- सत्ता में दो प्रकार का व्यवहार (सामान्य और विशेष) न होने से सत्ता द्रव्य-गुण-कर्म से भिन्न वस्तु है ॥१०॥

भाष्यार्थः- *(सामान्यविशेषाभावेन च)* सत्ता में द्रव्य-गुण-कर्म के सदृश सामान्य और विशेष व्यवहार नहीं होता, इसलिए सत्ता न द्रव्य, न गुण, न कर्म है किन्तु उससे भिन्न वस्तु है ॥१०॥

परसामान्यमुक्त्वाऽपरसामान्यविषये ब्रवीत्याचार्यः –

अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥११॥

(द्रव्यत्वम्) द्रव्यत्वं खल्वपरसामान्यम् (अनेकद्रव्यवत्त्वेन- उक्तम्) अनेकानि द्रव्याणि पृथिव्यादीनि यस्य तदनेकद्रव्यवत् – तस्य भावोऽनेकद्रव्यवत्त्वं तेनानेकद्रव्यवत्त्वेनानेकद्रव्येषु पृथिव्यादिषु समानरूपेण भवति हि द्रव्यत्वं तस्माद् द्रव्यव्यक्तितो भिन्नं वस्तु द्रव्यत्वपरसामान्यमुक्तम् ॥११॥

पर सामान्य को कह कर अपर सामान्य के विषय में आचार्य कहते है -

अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥११॥

सूत्रार्थः- अनेक द्रव्यों में रहने से द्रव्यत्व द्रव्य से भिन्न वस्तु है ॥११॥

भाष्यार्थः- *(द्रव्यत्वम्)* द्रव्यत्व अपर सामान्य है *(अनेकद्रव्यवत्त्वेन- उक्तम्)* अनेक पृथिवि आदि द्रव्य जिसके वह अनेक द्रव्यवत् उसका भाव अनेक द्रव्यत्व अनेक पृथिवि आदि द्रव्यों में समान से द्रव्यत्व होता है इसलिए द्रव्य व्यक्ति से भिन्न वस्तु द्रव्यत्व है, जिसे अपर सामान्य कहा है ॥११॥

अथ च -

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१२॥

(सामान्यविशेषाभावेन च) तच्च द्रव्यत्वमपरसामान्यं द्रव्यव्यक्तेर्भिन्नं तत्र द्रव्यवत् सामान्यं विशेषश्चेति व्यवहारो न भवति ॥१२॥

और भी -

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१२॥

सूत्रार्थः- द्रव्य की अपेक्षा से द्रव्यत्व सामान्य – विशेष से रहित होता है, अतः द्रव्य से द्रव्यत्व भिन्न होता है। (जैसे द्रव्यों में पृथिवि, पृथिवित्व होते हैं पर द्रव्यत्व में नहीं, जबकि द्रव्यत्व केवल द्रव्यत्व होता है, यद्यपि सत्ता की अपेक्षा से वह भी सामान्य, विशेष होता है) ॥१२॥

भाष्यार्थः- *(सामान्यविशेषाभावेन च)* वह द्रव्यत्व= अपर सामान्य द्रव्य व्यक्ति से भिन्न है उसममें द्रव्य के समान सामान्य और विशेष व्यवहार न होता है ॥१२॥

तथा –

गुणेषु भावाद् गुणत्वमुक्तम् ॥१३॥

(गुणत्वं गुणेषु भावात् - उक्तम्) गुणत्वमपरसामान्यं रूपादिष्वनेकगुणेषु भावात् खलु रूपादिगुणव्यक्तितोभिन्नं वस्तूक्तम् ॥१३॥

और -

गुणेषु भावाद् गुणत्वमुक्तम् ॥१३॥

सूत्रार्थः- अनेक गुणों में रहने से गुणत्व गुणों से भिन्न है ॥१३॥

भाष्यार्थः- *(गुणत्वं गुणेषु भावात् - उक्तम्)* गुणत्व= अपर सामान्य रूपादि अनेक गुणों में होने से रूपादि गुण व्यक्ति से भिन्न गुणत्व वस्तु कहा है ॥१३॥

अथ च -

सामान्यविशेषभावेन च॥१४॥

(सामान्यविशेषभावेन च) गुणत्वमपरसामान्यं गुणव्यक्तेर्भिन्नं वस्तु, तत्र गुणवत् सामान्यं विशेषश्चेति व्यवहारो न भवति ॥१४॥

और भी -

सामान्यविशेषाभावेन च॥१४॥

सूत्रार्थः- गुणत्व में दो प्रकार का व्यवहार न होने से (सामान्य और विशेष) गुणत्व गुण से भिन्न है ॥१४॥

भाष्यार्थः- *(सामान्यविशेषभावेन च)* गुणत्व= अपर सामान्य गुण व्यक्ति से भिन्न वस्तु है, उसमें गुण के समान सामान्य और विशेष व्यवहार नहीं होता है ॥१४॥

तथा –

कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ॥१५॥

(कर्मत्वं कर्मसु भावात् - उक्तम्) कर्मत्वमपरसामान्यं खलूत्क्षेपणादिषु कर्मसु भावादुत्क्षेपणादिकर्मव्यक्तितो भिन्नं वस्तूक्तम् ॥१५॥

और -

कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ॥१५॥

सूत्रार्थ:- अनेक कर्मों में रहने से कर्मत्व कर्मों से भिन्न है ॥१५॥
भाष्यार्थ:- *(कर्मत्वं कर्मसु भावात् - उक्तम्)* कर्मत्व= अपर सामान्य उत्क्षेपण आदि कर्मों में होने से उत्क्षेपण आदि कर्म व्यक्ति से भिन्न वस्तु कर्मत्व कहा है ॥१५॥

अथ च –

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१६॥

(सामान्यविशेषाभावेन च) कर्मत्वमपरसामान्यं कर्मव्यक्तेर्भिन्नं वस्तु यतस्तत्र कर्मवत् सामान्यं विशेषश्चेति व्यवहारो न भवति ॥१६॥

और भी -

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१६॥

सूत्रार्थ:- कर्मों में दो प्रकार का (सामान्य और विशेष) व्यवहार न होने से कर्मत्व कर्म से भिन्न है ॥१६॥
भाष्यार्थ:- *(सामान्यविशेषाभावेन च)* कर्मत्व=अपर सामान्य कर्म व्यक्ति से भिन्न वस्तु है अत: उसमें कर्म के समान सामान्य और विशेष व्यवहार नहीं होता है ॥१६॥

भावं विवृणोत्याचार्यः –

सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषाभावाच्चैको भावः ॥१७॥

(सत् – इति लिङ्गाविशेषात्) द्रव्ये गुणे कर्मणि 'सत्' शङ्करमिश्रादिभिर्भाष्यकारैरिदं सूत्रमन्यथा व्याख्यातं तत्र सत्तापरकं व्याख्यानं कृतं तन्न सम्यक्, यदि खलु सत्तापरं सूत्रमिदं स्यात् तर्हि "सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" इति सप्तमसूत्रस्यानन्तरमेवानेन सूत्रेण भवितव्यं यद्वा तदेव सप्तमं सूत्रम् "सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता सा चैका" इत्थं भवेत् । पुनश्च ते भाष्यकाराः प्रष्टव्याः किं सत्ता ह्येका ? द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं वा किन्नैकैकम् ? अथ तदप्येकैकम् तर्हि केन सूत्रेणेति प्रश्नः, यदि तन्नैकैकं किन्तु द्रव्येषु द्रव्यत्वानि गुणेषु गुणत्वानि कर्मसु कर्मत्वानि खल्वनेकानि तर्हि द्रव्यद्रव्यत्वयोर्गुणगुणत्वयोः कर्मकर्मत्वयोः को भेदः । तथा द्रव्यत्वस्य गुणत्वस्य कर्मत्वस्य किं स्वरूपम्? न किमपि स्वरूपं तथाव्याख्याने । तस्मान्न सोऽर्थो युक्तः। किन्तु सत्ताद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वानां भावानां प्रत्येकं प्रति समानं विधानमस्ति । यत् (भावः – एकः) यः खलु भावप्रत्ययेन "तस्य भावस्त्वतलौ" (अष्टा. ५.१.११९) 'त्व, तल्-ता' इत्यनेन' द्रव्येषु द्रव्यत्वं तदेकं भिन्नभिन्नद्रव्येषु पृथिव्यादिषु वर्तमानं सदपि तथा गुणेषु गुणत्वं तदेकं भिन्नभिन्नगुणेषु रूपादिषु वर्तमानं सदपि तथा कर्मसु कर्मत्वं तदेकं भिन्नभिन्नकर्मसूत्क्षेपणादिषुवर्तमानं सदपि यदपरसामान्यं तथा च द्रव्यगुणकर्मसु च भावः-

भावप्रत्ययेन 'तल्-ता' इत्यनेन परसामान्यं सत्ता द्रव्यगुणकर्माख्येषु भिन्नभिन्नार्थेषु खल्वेकं वस्तु । तेन द्रव्येषु द्रव्यत्वमेकं गुणेषु गुणत्वमेकं कर्मसु कर्मत्वमेकं सर्वेषु द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता चैकं वस्तु येषां यो भावस्तेषु स एक एव (सत्-इति लिङ्गाविशेषात्) तथा तथा भावेन 'सत्' अस्तित्वमिति लिङ्गस्याभेदात् (विशेषाभावात्-च) तद्विशेषणाभावाच्च न हि भावे जातौ तद्विशेषणं भवति तस्या एकत्वाद्- व्यक्तयो गावोऽश्वा वा विशेष्यन्ते न जातिर्विशेष्यते गोत्वमश्वत्वं वा तथैवार्था विशेष्यन्ते द्रव्यं गुणः कर्मेति नामानि, न सत्ता परमसामान्यं विशेष्यते । तस्माद् द्रव्यगुणकर्मसु सत्ता खल्वेका द्रव्येषु द्रव्यत्वमेकं गुणेषु गुणत्वमेकं कर्मसु कर्मत्वमेकम् ॥१७॥

भाव सत्ता की व्याख्या आचार्य करते हैं-

सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषाभावाच्चैको भावः ॥१७॥

सूत्रार्थः- सत्ता एक है, द्रव्यत्व एक है, गुणत्व एक है, कर्मत्व एक है ये सभी भाव एक-एक हैं क्योंकि इन सबका लक्षण एक समान है और वह लक्षण है "सत"=होना, और इससे भिन्न (विश्लेषण) कोई नहीं है
॥१७॥

भाष्यार्थः- *(सत् – इति लिङ्गाविशेषात्)* द्रव्ये गुणे कर्मणि 'सत्' शंकरमिश्र आदि भाष्यकारों के द्वारा यह सूत्र अन्यथा व्याख्यान किया है, सूत्र में सत्तापरक व्याख्या की है वह ठीक नहीं है । यदि सत्तापरक सूत्र यह होवे तो *"सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता सा चैका"* यह इस सप्तम सूत्र के अनंतर ही होना चाहिए, अथवा वह ही सप्तम सूत्र "सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता साचैका" इस प्रकार होवे । पुन: उन भाष्यकारों से पूछना चाहिए की क्या सत्ता एक है? क्या द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्व एक नहीं है ?

अथवा द्रव्यत्व गुणत्व कर्मत्व एक है तो, किस सूत्र से है यह भी प्रश्न आएगा, यदि ये एक एक नहीं हैं किन्तु द्रव्यों में अनेक अद्रव्यत्व गुणों में अनेक गुणत्व और कर्मों में अनेक कर्मत्व तो द्रव्य और द्रव्यत्व में गुण और गुण और गुणत्व में कर्म और कर्मत्व में क्या भेद होगा? तथा द्रव्यत्व गुणत्व और कर्मत्व का क्या स्वरूप होगा? इस प्रकार से व्याख्यान करने से कोई स्वरूप नहीं है । इसलिए "सत्" का सत्ता परक अर्थ युक्त नहीं है । किन्तु इस सूत्र में सत्ता द्रव्यत्व गुणत्व और कर्मत्व भावों का प्रत्येक के प्रति समान विधान है । क्योंकि *(भावः एक)* जो भाव प्रत्यय है वह *"तस्य भावस्त्वतलौ" (अष्टा. ५.१.११९)* 'त्व, तल्- ता' इससे द्रव्यों में द्रव्यपना= द्रव्यत्व, वह एक है, भिन्न-भिन्न पृथिवि आदि द्रव्यों में विद्यमान रहता हुआ भी, वैसे ही गुणों गुणत्व एक है । भिन्न भिन्न रूपादि गुणों में वर्तमान होते हुए भी एक गुणत्व है तथा कर्मों में कर्मत्व वह एक है, भिन्न-भिन्न उत्क्षेपण आदि कर्मों में वर्तमान होते हुए भी एक कर्मत्व है । और जो अपर सामान्य अर्थात् द्रव्य गुण कर्म का भाव (सत्ता) भाव प्रत्यय से 'तल्- ता' परसामान्य सत्ता द्रव्य गुण कर्म नामक भिन्न-भिन्न अर्थों में वह एक वस्तु है । इस

प्रकार से द्रव्यों में द्रव्यत्व एक, गुणों में गुणत्व एक, कर्मों में कर्मत्व एक। सभी द्रव्यों में सत्ता एक वस्तु है, जिनका जो भाव होनापन है उनमें वह सत्ता एक ही है।

(सत्-इति लिङ्गाविशेषात्) उस उस रूप से सत=होना अस्तित्व है, लिंग=लक्षण के भेद होने से। *(विशेषाभावात्-च)* 'सत्' में विशेषण का अभाव होने से भाव जाति में विशेषण नहीं होता है उसके एक होने से। व्यक्ति जो गाय व अश्व विशेषित होते हैं परंतु जाति विशेषित नहीं होती है, गोत्व अथवा अश्वत्व। इसी प्रकर से अर्थ विशेषित होते हैं, जिनके नाम द्रव्य गुण कर्म है। सत्ता जो पर सामान्य है विशेषित नहीं होती है। द्रव्यों में द्रव्यत्व एक है, गुणों में गुणत्व एक है, कर्मों में कर्मत्व एक है ॥१७॥

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम् समाप्तम्
समाप्ति गतश्च प्रथमोऽध्यायः
--- --- ---

द्वितीयोऽध्यायः तत्र प्रथमाह्निकम्

प्रथमाध्याये द्रव्यादयः पदार्था विभागश उद्दिष्टा अथ च तेषां लक्षणं यथासम्भवं कृतम् । अत्रेदानीं विभक्तानां बाह्यद्रव्याणां क्रमशो विशिष्टलक्षणपरीक्षे क्रियेते ।

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥१॥

(पृथिवी रूपरसगन्धस्पर्शवती) द्रव्येषु पृथिवी खलु रूपरसगन्धस्पर्शैर्गुणैर्लक्ष्यते सा हि तद्वती । पृथिव्या नैजिको गुणस्तु गन्धोऽस्ति वक्ष्यति ह्यग्रे "व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः (वै. २।२।२) परन्तु केवलेन गन्धेन गुणेन सा न लक्षयितुं शक्या रसादिभिर्गुणैः सह सा लक्ष्यते रसादयो गुणास्त्वबादीनां सन्ति । पृथिवी तदपेक्षया स्थूला ते च पृथिव्यपेक्षया सूक्ष्माः सन्ति । स्थूले सूक्ष्माणां प्रवेशेनावश्यं भवितव्यं । तेन तेषां गुणानामपि तत्र वर्तमानत्वं स्यादेव तस्मात् सा रसादिमतीत्युक्तम् । तत्र प्रत्यक्षे रूपगुणस्य प्राधान्यात् प्रथमं रूपं तल्लक्षणे निर्दिष्टं पुनस्तदपेक्षया न्यूनवृत्तिकोऽन्यापेक्षया चाधिकवृत्तिको रसः पश्चाद् गन्धः, पुनः स्पर्शस्याप्रत्यक्षत्वात् सर्वपश्चात् तस्योपादानम् । कृष्णपीतरक्तादि रूपं पृथिव्याम्, कटुकषायादिरसैरसवाती पृथिवी, गन्धोऽपि विविधः परन्तु सुरभिरसुरभिश्चेति भेदद्वयं मुख्यं गन्धस्य स्पर्शस्त्वनुष्णशीतस्तथा कर्कशादिरपि । सूक्ष्मद्रव्याणां तत्र समावेशात् तद्गुणैर्गुणवत्त्वाद् रूपादिमती पृथिवी लक्ष्यते नान्ये गुणाः संख्यादयो लक्षणे भिद्यन्ते ॥१॥

प्रथम अध्याय में द्रव्य आदि पदार्थ का पृथक्- पृथक् रूप से उपदेश किया तथा उनके लक्षणों को यथासंभव किया। अब यह पृथक्-पृथक् रूप से बाह्य द्रव्यों की क्रम से विशिष्ट लक्षण की परीक्षा करते हैं-

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥१॥

सूत्रार्थ:- रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणवाली "पृथिवि" है ॥१॥

भाष्यार्थ:- *(पृथिवी रूपरसगन्धस्पर्शवती)* द्रव्यों में पृथिवि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुणों के द्वारा ज्ञात होती है, वह उन्हीं गुणों वाली है । पृथिवि का अपना गुण तो गन्ध है ही, जैसा कि आगे सूत्रकार कहेंगे "व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः" (वै० २।२।२) परन्तु वह केवल गन्ध गुण से ज्ञापित नहीं हो सकती, किन्तु रस आदि गुणों के साथ भी ज्ञात होती है। रस, स्पर्श आदि गुण तो जल आदि के हैं, पृथिवि जल आदि से स्थूल है और जल आदि पृथिवि से सूक्ष्म हैं, और स्थूल में सूक्ष्म का प्रवेश अवश्य होना चाहिए । इससे उनके गुणों की भी उनमें विद्यमानता होनी चाहिए । इसलिए पृथिवि को रसादि वाली

कहा। प्रत्यक्ष में समय रूप गुण की प्रधानता होने से पहले रूप को ही पृथिवि के लक्षण में निर्देश कर दिया। पुनः रूप की अपेक्षा से कम और गन्ध आदि की अपेक्षा से अधिक अनुभव में आने से रस को पढ़ा और उसमें, पश्चात् गन्ध को पढ़ दिया। पुन: स्पर्श का प्रत्यक्ष न होने से जल के बाद स्पर्श का ग्रहण किया है। काला, पीला, लाल आदि रूप पृथिवि में होते हैं। कटु कषाय आदि रसों से युक्त होने से रस वाली पृथिवि है गंध भी अनेक प्रकार की है परन्तु सुगंध और दुर्गंध ये दो भेद गंध के मुख्य हैं। स्पर्श तो उष्ण, ठंडा, कठोर, कोमल आदि है। सूक्ष्म द्रव्यों का पार्थिव द्रव्य में समावेश होने से उन गुणों के द्वारा गुणवाली होती है, रूप आदि वाली पृथिवि लक्षित की जाती है। अन्य जो संख्या आदि गुण हैं वे पृथिवि के लक्षण से भिन्न नहीं होते ॥१॥

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥२॥

(रूपरसस्पर्शवत्यः- द्रवाः स्निग्धाः- आपः) आपः खलु रूपरसस्पर्शैर्गुणैर्युक्तास्तत्र रूपस्पर्शौ तु गुणावग्निवाय्वोः संसर्गतस्ताभ्यामविनाभावादपामुलब्धेः। गन्धोऽपि गुणः कदाचिदप्सु प्रतिभाति स च पार्थिववस्तुनः सामयिकसम्पर्कतस्तत्सम्पर्काभावेऽप्सु गन्धस्तु नोपलभ्यते । एवं गन्धगुणवत्त्वे तु लक्षणव्यभिचारोऽस्ति तस्मान्नोक्तः। पुनस्तरला संश्लेषधर्माश्चापो भवन्तीति ॥२॥

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥२॥

सूत्रार्थ:- जल रूप, रस और स्पर्श तथा तरल और चिपकने गुणवाला है॥२॥

भाष्यार्थ:- *(रूपरसस्पर्शवत्यः- द्रवाः स्निग्धाः- आपः)* जल रूप, रस स्पर्श गुणों से युक्त हैं, उनमें रूप और स्पर्श गुण अग्नि और वायु के संसर्ग से हैं, अविनाभाव संबन्ध से जल में उपलब्ध होते हैं। गंध गुण भी कभी जल में प्रकट होता है और वह पार्थिव वस्तु के सामयिक=तात्कालिक संपर्क से और उस संपर्क के अभाव होने से जल में भी गन्ध उपलब्ध नहीं होता है। इस प्रकार से गंधगुण मानने पर लक्षण का व्यभिचार (कहीं उपलब्ध होना कहीं न होना) से उसको सूत्र में नहीं कहा है। पुन: तरल और चिकने धर्म वाले भी जल होते हैं ॥२॥

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥३॥

(रूपस्पर्शवत् तेजः) रूपस्पर्शवान्नग्निर्द्रव्यम्, अग्नौ रूपस्पर्शौ गुणौ भवतः । स्पर्शस्तु गुणोऽग्नौ लक्ष्यते वायोर्योगेन, यतो वायुयोगस्य तत्रानिवार्यत्वं तदपेक्षया वायोः सौक्ष्म्यात् ॥३॥

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥३॥

सूत्रार्थ:- अग्नि रूप और स्पर्श गुण वाली है ॥३॥

भाष्यार्थ:- *(रूपस्पर्शवत् तेजः)* रूप, स्पर्श वाला अग्नि द्रव्य होता है। अग्नि में रूप स्पर्श रहते हैं। स्पर्श गुण तो वायु के सम्बन्ध से अग्नि में आता है, क्योंकि वायु का संयोग अग्नि में सूक्ष्मता के कारण अनिवार्य है ॥३॥

स्पर्शवान् वायुः ॥४॥

(स्पर्शवान् वायुः) वायौ स्पर्शो गुणो भवति। वायुर्न दृष्टिपथमागच्छति यदा वायुर्वाति तदा स्पर्शस्तु तस्य त्वगिन्द्रियेण गृह्यते ॥४॥

स्पर्शवान् वायुः ॥४॥

सूत्रार्थ:- वायु स्पर्श गुण वाली है।

भाष्यार्थ:- *(स्पर्शवान् वायुः)* वायु में स्पर्श गुण होता है। वायु आँख से पकड़ में नहीं आती है, जब वायु चलती है, तब उसका स्पर्श त्वक् इन्द्रिय से जाना जाता है ॥४॥

ते आकाशे न विद्यन्ते ॥५॥

(ते - आकाशे न विद्यन्ते) ते गन्धरसरूपस्पर्शा गुणा आकाशे न विद्यन्ते न भवन्ति ॥५॥

ते आकाशे न विद्यन्ते ॥५॥

सूत्रार्थ:- वे रूप आदि चार गुण आकाश में नहीं होते हैं।

भाष्यार्थ:- (ते - आकाशे न विद्यन्ते) वे गंध रूप रस स्पर्श गुण आकाश में नहीं होते हैं।

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥६॥

(सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानाम्)घृतलाक्षासिक्थानां पार्थिववस्तूनाम् (अग्निसंयोगात्) अग्निसंयोगात् - आग्नेयतापात् (द्रवत्वम्) द्रवीभावोऽसांसिद्धिको भवतीति (अद्भिः सामान्यम्) अद्भिः सह सामान्यं सादृश्यमस्ति ॥६॥

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥६॥

सूत्रार्थ:- घी, लाख और मोम ये प्रार्थिव द्रव्यों की अग्नि के संयोग से तरलता हो जाना यह जलों की सूक्ष्म समानता है ॥६॥

भाष्यार्थः- *(सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानाम्)* घृत, लाख और मोम पार्थिव द्रव्यों का *(अग्निसंयोगात्)* अग्नि के संयोग से= ताप से *(द्रवत्वम्)* तरलपना नैमितिक होता है । *(अद्भिः सामान्यम्)* जो इन घृतादि की जल के साथ सामान्यता=सदृशता है ॥६॥

तथा –

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥७॥

(त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानाम्) रङ्गसीसलोहरजतसुवर्णादीनां धातूनां तैजसपदार्थानाम् (अग्निसंयोगात्) प्रखराग्नितापात् (द्रवत्वम्) द्रवीभावोऽसांसिद्धिको भवतीति (अद्भिः सामान्यम्) अद्भिः सह सामान्यं साधर्म्यमस्ति ॥७॥

और -

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥७॥

सूत्रार्थः- रंगा, सीसा, लोहा,चाँदी और सोना ये पार्थिव द्रव्य तीव्र अग्नि के संयोग से पिघल जाते हैं, यह उनकी जल के साथ समानता है ।

भाष्यार्थः- *(त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानाम्)* रंगा, सीसा, लोहा, चाँदी और सोना ये धातुओं का पार्थिव द्रव्यों का *(अग्निसंयोगात्)* तीव्र= प्रखर अग्नि के ताप से *(द्रवत्वम्)* तरलता नैमित्तिक होता है। *(अद्भिः सामान्यम्)* जल के साथ समानता है ॥७॥

विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेवालधिः सास्नावानिति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम् ॥८॥
स्पर्शश्च वायोः ॥९॥ न च दृष्टानां स्पर्शः इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः॥१०॥

एतेषां त्र्याणां सूत्राणामेकवाक्याताऽस्ति तस्मात् सहैव व्याख्यायन्ते -

(विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेवालधिः सास्नावान्) विशिष्टविषाणवान् प्रशस्तशृङ्गवान् प्रशस्तस्कन्धमांसपिण्डवान्, पुच्छाग्रे प्रशस्तवालाधानवान् ** प्रशस्तगलकम्बलवान् (इति दृष्टं लिङ्ग गोत्वे) इत्येवं प्रत्यक्षीभूतं लिङ्गं लक्षणं गुणो गोत्वे जातौ यथा भवति (स्पर्शः – च वायौ) तथा च स्पर्शो लिङ्गं लक्षणं गुणो वायोरस्ति, गुणश्च गुणिनं साधयति यदाश्रितः स भवति, भेदस्त्वियानेव यत् (न दृष्टानां स्पर्शः) दृष्टानां नेत्रेन्द्रियपर्यन्तप्रत्यक्षीभूतानां रूपवतां पृथिव्यप्तेजसां न खलु स्पर्शो लिङ्गमदृष्टमस्ति (इति – अदृष्टलिङ्गः- वायुः) अतो हेतोरदृष्टलिङ्गकः स्पर्शलिङ्गको वायुरस्ति । य एष केवलः स्पर्शस्त्वगिन्द्रियेणानुभूयते गन्धरसरूपवद्द्रव्यप्रत्यक्षमन्तरेण तस्याश्रयेण गुणिना भवितव्यं हि न खलु गुणो गुणिनमन्तरेण भवति न च दृष्टानां गन्धरसरूपवतां पृथिव्यप्तेजसां लिङ्गमिति । अथ च पृथिवीजलाग्निषु पृथुशीतोष्णाः स्पर्शा उपलभ्यन्ते ते वायुसन्नियोगेनैव, वायोस्तदन्तराविष्टत्वात्, तत्र तत्र स्थितं पृथुत्वं शीतत्वमुष्णत्वं*

वायुरेव प्रद्योतयति प्रकटयति वा तद्धर्मरहितः केवलः स्पर्शो वायोर्गुण इति सुतरां सिद्धम् ॥८-१०॥

----------------------------------- --- ---

**। अत्र सर्वत्र प्रशंसायां मतुप् मतुबर्थश्च प्रत्ययः ।*

***। प्रान्ते पुच्छान्ते वाला धीयन्ते धार्यन्तेऽननेति, "सप्तम्या अलुक्" कण्ठेकाल इति यथा ।*

विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेवालधिः सास्नावानिति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम् ॥८॥
स्पर्शश्च वायोः ॥९॥
न दृष्टानां स्पर्शःइत्यदृष्टलिङ्गो वायुः॥१०॥

सूत्रार्थ:- अच्छे सींग ककुद पूंछाग्र में बाल = गुच्छा वाला गल कम्बल वाला होना यह गोत्व का प्रत्यक्ष लिङ्ग है । इसी प्रकार केवल स्पर्श लक्षण वायु का लिङ्ग है । आँख से दिखने वाले पृथिवि- जल- अग्नि का केवल स्पर्श गुण नहीं है । अतः जहां केवल स्पर्श हो वह वायु द्रव्य है॥८-९-१०॥

भाष्यार्थ:- इन तीनों सूत्रों की एक वाक्यता है, इसलिए साथ ही व्याख्या करते हैं- *(विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेवालधिः सास्नावान्)* विशेष सींग वाली विशेष कंधे पर मांस के पिंड वाली, पूंछ के अंतिम भाग में विशेष गुच्छा धारण करने वाली, विशेष गलकंबल वाली *(इति दृष्टं लिङ्ग गोत्वे)* इस प्रकार से प्रत्यक्षीभूत लिंग= लक्षण, गुण गाय जाति में होते हैं *(स्पर्शः – च वायौ)* वैसे ही वायु का लिंग=लक्षण, गुण स्पर्श है। गुण गुणी को प्रकट करता है, जो आश्रित है वह होता है भेद तो केवल इतना ही है कि *(न दृष्टानां स्पर्शः)* दृष्ट नेत्र इन्द्रिय पर्यन्त प्रत्यक्ष होनेवाले रूपवाले पृथिवि, जल, अग्नि का स्पर्श लिङ्ग अदृष्ट नहीं है। *(इति – अदृष्टलिङ्गः- वायुः)* इस हेतु से अदृष्ट लिंग वाला= स्पर्श लिंग वाला वायु है, जो यह केवल स्पर्श त्वक् इंद्रिय के द्वारा अनुभूत होता है, गन्ध, रस, रूप वाले द्रव्यों के प्रत्यक्ष के विना, उसके उस स्पर्श गुण का आश्रय गुणी भी होना ही चाहिए, क्योंकि गुण गुणी के बिना नहीं होता है, और न ही गंध, रस, रूप वाले दृष्टों का पृथिवि, जल, अग्नि का लक्षण है । अत: पृथिवि जल और अग्नि में पृथु (कठोरता, अनुष्णशीत) शीत और उष्ण स्पर्श उपलब्ध होते हैं और वे वायु के संयोग से ही है, वायु उन द्रव्यों में प्रविष्ट होने के कारण से, वहाँ-वहाँ स्थित पृथुत्व, शीतत्व, उष्णत्व वायु ही प्रकट करता है या उस धर्म से रहित केवल स्पर्श जो वायु का गुण है यह अच्छी प्रकर से सिद्ध हुआ ॥८-९-१०॥

विशेष :- (मुनि जी ने यहाँ वायु के स्पर्श को पृथिवि आदि के स्पर्श से पृथक् स्वीकार कर लिया है, इससे वायुस्थ स्पर्श, अग्निस्थ स्पर्श आदि से भिन्न सिद्ध हो रहा है, अर्थात् पृथिवि, जल, अग्नि का स्पर्श उनका स्वाभाविक स्पर्श है यही बात सिद्ध होती है सरलता से)

ननु केवलेन स्पर्शेन गुणेन वायुर्लक्ष्यते न च दृश्यते तदैव दृष्टेभ्यः पृथिव्यादिभ्यो भिन्नोऽदृश्यः सन् किम्प्रकारकं द्रव्यमुच्यते तदाह –

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ॥११॥

(अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम्) पृथिवीजलाग्नयो द्रव्यवन्तोऽन्यद्रव्यसंसंक्ताः सन्तोऽनेकगुणवन्तः। तत्रापि खल्वन्यगुणसंयुक्तः स्पर्शो गुणो लभ्यते । पृथिवी खलु जलाग्निवायुभिः सम्पृक्ता सती गन्धरसरूपस्पर्शवती, जलं त्वग्निवायुभ्यां युक्तं सद् भवति रसरूपस्पर्शवत्, अग्निश्च वायुना संयुक्तः सन् रूपस्पर्शवान् । एते सर्वे स्पर्शवन्तो द्रव्यवत्त्वेन वायुद्रव्यवत्त्वेन वायुमत्त्वेन वायुमाश्रित्येत्यर्थः, परन्तु वायुस्त्वद्रव्यवान् पृथिव्यादिवन्न द्रव्यवान् तेनाद्रव्यवत्त्वेन स्वाश्रयत्वेन स्पर्शवान् स्पर्शगुणवान् वायुर्द्रव्यम् । गुणश्च द्रव्यं न व्यभिचरति यथा स्पर्शो गुणोऽन्यैर्गुणैः सह पृथिव्यादिदृश्येषु द्रव्येषूपलभ्यते, उपलब्धिसामान्यात् केवल उपलब्धः स्पर्शो गुणः स्वकीयगुणिनमदृश्यं वायुं द्रव्यं लक्षयति साधयति । शङ्करमिश्रादिभिरन्यथाव्याख्यातं सूत्रमिदमप्रासङ्गिकी परमाणुकल्पना कृता । चन्द्रकान्तभाष्ये हरिप्रसादवृतौ च 'अद्रव्य' शब्दात् स्पर्शो गुणो गृहीतः सोऽपि न युक्तः "क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाद्" उत्तरसूत्रस्य विद्यमानत्वात् ॥११॥

ठीक है किन्तु स्पर्श गुण से वायु लक्षित होता है, देखा नहीं जाता है, उस दृष्ट पृथिवि आदि से भिन्न अदृश्य होता हुआ, किस प्रकार वाला वह द्रव्य है उसको बताते हैं-

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ॥११॥

सूत्रार्थ:- अन्य द्रव्यों के मिश्रण से रहित स्वरुप वाला वायु द्रव्य स्वयं अकेला ही द्रव्य है ॥११॥

भाष्यार्थ:- *(अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम्)* पृथिवि, जल और अग्नि द्रव्य वाले अन्य द्रव्य से संयुक्त होते हुए अनेक गुण वाले हैं । उन गुणों में भी स्पर्श गुण अन्य गुणों से संयुक्त = शीतोष्णता युक्त उपलब्ध होता है । पृथिवि जल, अग्नि, वायु से सम्बद्ध होती हुई गन्ध, रस, रूप, स्पर्श वाली है, जल अग्नि और वायु से सम्बद्ध होता रस, रूप, स्पर्श वाला है,

अग्नि वायु से सम्बद्ध होती हुई रूप स्पर्श वाली है। ये तीनों स्पर्शवाले = अन्य द्रव्यवाले = वायु द्रव्य = वायु से युक्त अर्थात् वायु के आश्रित होते हैं परन्तु वायु तो अद्रव्यवान् = पृथिवि आदि नहीं है। इससे अपने आश्रय स्पर्श गुण वाला वायु द्रव्य है। गुण द्रव्य का व्यभिचार नहीं करता है, जैसे स्पर्श गुण अन्य गुणों के साथ पृथिवि आदि दृश्य द्रव्यों में उपलब्ध होता है, उपलब्धि सामान्य से केवल उपलब्ध स्पर्श गुण अपने गुणी जो अदृश्य वायु द्रव्य को सिद्ध करता है लक्षित करता है। शंकरमिश्र आदि भाष्यकारों ने यह सूत्र की अन्यथा व्याख्या की है, प्रसंग से हटकर परमाणु की कल्पना अन्यथा की है। चंद्रकांत भाष्य और हरिप्रसाद वृत्ति में अद्रव्य शब्द से स्पर्श गुण ग्रहण किया है, वह भी युक्त नहीं है क्योंकि अग्रिम सूत्र "क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाद्" विद्यमान होने से ॥११॥

अपि च -

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥१२॥

(क्रियावत्त्वात्-गुणवत्त्वात्-च) वायुः क्रियावान् गतिमान् गुणवान् स्पर्शवांश्च वर्तते तस्मात् वायुर्द्रव्यमेव। उक्तं हि "क्रियागुणवत् ... द्रव्यलक्षणम्" ॥१२॥

और भी -

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥१२॥

सूत्रार्थः- क्रियावाला और गुणवाला होने से भी वायु द्रव्य कहलाता है।

भाष्यार्थः- (क्रियावत्त्वात्-गुणवत्त्वात्-च) वायु क्रिया वाला गति वाला और स्पर्श गुण वाला होता है इसलिए वायु द्रव्य ही है, कहा भी है "क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्" ॥१२॥

ननु भवतु स्पर्शेन गुणेन गुणवान् गतिक्रियया क्रियावान् वायुर्द्रव्यं यदा स्पर्शो गात्रैरनुभूयते यदा वा पर्णशाखासु गतिक्रियोपलभ्यते तदा वायोर्वर्तमानत्वं परन्तु यदा न गात्रैः स्पर्शः प्रतीयते न च पर्णशाखासु गतिक्रिया लक्ष्यते तदा वायोर्न वर्तमानत्वमिति तु तस्यानित्यत्वमायाति। अत्रोच्यते –

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥१३॥

(अद्रव्यत्वेन) न द्रव्यमाश्रयः समवायित्वेन यस्य तदद्रव्यं तस्य भावोऽद्रव्यत्वं तेनाद्रव्यत्वेनानवयवित्वेन (नित्यत्वम्-उक्तम्) वायोर्नित्यत्वमुक्तं वेदितव्यमित्यर्थः। वायोरनित्यत्वं तदा स्याद् यदि वायुरवयवी स्यात् समवायिद्रव्यं तस्याश्रयः स्यात् स तु न तथा। किन्तु वायोश्चलधर्मवत्त्वाद् वातीति वायुरिति समाख्यानात् कदाचिन्न तस्य गतेरभावः परन्तु तीव्रत्वमन्दत्वभेदात् तद्गतेर्द्वैविध्यं तस्मात् सर्वत्रापि मन्दगतिमांस्तु

सर्वदा वाति हि नोचेद् वायुमन्तरेण प्राणिनो म्रियरन् । एवं तस्य नित्यत्वे न क्षतिः ॥१३॥

होवे, वायु द्रव्य स्पर्श गुण से गुणवान्, गति क्रिया से क्रियावान्, जब स्पर्श शरीर के द्वारा अनुभूत किया जाता है वा पत्ते शाखाओं में गति क्रिया उपलब्ध होती है तब वायु की वर्तमानता है । परन्तु जब शरीर के द्वारा स्पर्श नहीं प्रतीत होता और पत्ते शाखाओं में गतिक्रिया नहीं लक्षित होती तब वायु की वर्तमानता नहीं होती तो वायु की अनित्यता प्राप्त होती है, तो उस विषय में कहते हैं-

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥१३॥

सूत्रार्थ:- अन्य द्रव्यों के मिश्रण से रहित होने के कारण वायु को नित्य कहा गया है।

भाष्यार्थ:-*(अद्रव्यत्वेन)* जिसका अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण या आश्रय भूत नहीं होता, वह अद्रव्य है और उसका भाव अद्रव्यवत्त्व कहा जाता है ।, अन्य द्रव्य के मिश्रण से रहित होने के कारण *(नित्यत्वम्-उक्तम्)* वायु को नित्यत्व कहा है, यह जानना चाहिए । वायु की अनित्यता तब होवे यदि वायु अन्य द्रव्य की सहायता प्राप्त करे, उसका कोई समवायि कारण आश्रय होता, परन्तु वैसा कुछ नहीं है । अपितु वायु के चलन धर्मवाला होने से अर्थात् *वाति इति वायुः* = जो चलती है वह वायु है इस व्युत्पत्ति = परिभाषा से कभी उसमें गति का अभाव लक्षित नहीं होता, परन्तु तीव्रता, मन्दता रूप भेद से उसकी गति में विविधता है । इसलिए सर्वत्र अर्थात जहां वायु की अनुभूति नहीं होती वहाँ मंद गति से तो सर्वदा बहती ही है अन्यथा वायु के बिना प्राणी मर जाएगा । इस प्रकार से वायु की नित्यता में क्षति (हानि) नहीं है ।

वायोर्नानात्वमुच्यते –

वायोर्वायुसम्मूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम् ॥१४॥

(वायोः -नानात्वलिङ्गम्) वायोर्विविधत्वे लिङ्गमस्ति (वायुसम्मूर्च्छनं) वायूनां संहत्य वृत्तकारेण भ्रमणम् ॥१४॥

वायु के अनेक होने के विषय में कहते हैं-

वायोर्वायुसम्मूर्च्छन्नं नानात्वलिङ्गम् ॥१४॥

सूत्रार्थ:- एक वायु का दूसरी वायु से टकराना यह वायु का अनेक होने में प्रमाण है ।॥१४॥

भाष्यार्थ:- (वायोः नानात्वलिङ्गम्) वायु के अनेक होने में प्रमाण है (वायुसम्मूर्च्छनं) वायु का टकराकर वृत्ताकार रूप में भ्रमण करना ॥१४॥

वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥१५॥

(वायुसन्निकर्षे) यद्यपि त्वगिन्द्रियेण वायुसन्निकर्षो भवति परन्तु तत्र (प्रत्यक्षाभावाद्) नेत्रेन्द्रियेण प्रत्यक्षस्याभावोऽस्ति, अतस्तत्र (दृष्टं लिङ्गं न विद्यते) नेत्रदृष्टं लिङ्गं लक्षणं वायौ वायुसिद्धौ वा न विद्यते ॥१५॥

वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥१५॥

सूत्रार्थ:- वायु का त्वचा इंद्रिय के साथ संन्निकर्ष होने पर आँख से प्रत्यक्ष न होने से वायु का कोई नेत्र दृष्ट प्रत्यक्ष लक्षण नहीं है ॥१५॥

भाष्यार्थ:- *(वायुसन्निकर्षे)* यद्यपि त्वग् इन्द्रिय से वायु के साथ सन्निकर्ष होता है; परन्तु वहाँ नेत्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता = उसका अभाव होता है। अतः तत्र = वहाँ = वायु में *(दृष्टं लिङ्गं न विद्यते)* नेत्र दृष्ट लिङ्ग = लक्षण = प्रमाण वायु में = वायु की सिद्धि में नहीं होता है॥१५॥

सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः॥१६॥

(सामान्यतो दृष्टात्-च) यदि नेत्रेन्द्रियेणैव सन्निकर्षः प्रत्यक्षं स्यात्, त्वगिन्द्रियेण सन्निकर्षो न प्रत्यक्षमिति मन्येत तदापि वायुसिद्धिस्तु भवति सामान्यतोदृष्टादपि। त्वगिन्द्रियेण यः खलु स्पर्शो गुणः सन्निकृष्यते तस्य गुणस्य गुणिना द्रव्येण भाव्यमेव। यद्वा पार्थिवमाप्यं तैजसं दृश्यं वस्तु स्पर्शगुणवत्तया न दृष्टिपथमागच्छति यतो नेत्राभ्यां न पार्थिवादिकस्य स्पर्शो गृह्यते परन्तु तत्रत्यः स्पर्शस्त्वचा तु सन्निकृष्यते हि तदा स स्पर्शो गुणः पार्थिवाप्यतैजसानां न भवन् तेभ्योऽन्यस्य द्रव्यस्य लिङ्गमिति गम्यते गुणस्य गुणिना भाव्यं न गुणो गुणिनमन्तरेण भवतीति सामान्यतो दृष्टात्, स च (अविशेषः) अभेदः, न च सामान्यतो दृष्टाद्भिद्यते। तथा वस्त्रपर्णशाखादीनां कम्पनचलनादिक्रियानिमित्तं न दृश्यते किमपि पार्थिवादिकमाघातकारि दृश्यं वस्तु, परन्तु तत्कम्पनचलनादिक्रिया तु प्रवर्तते, पुनस्तत्कम्पनप्रचलनादिक्रियायाः प्रवर्तकेन तु भवितव्यमेव सामान्यतोदृष्टात् तस्मादपि वायुसिद्धावविशेषः समानो हेतुः ॥१६॥

सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः॥१६॥

सूत्रार्थ:- सामान्य नियम के देखे जाने से (गुण से गुणी जाना जाता है) इस नियम से समान रूप से वायु की सिद्धि हो जाएगी ॥१६॥

भाष्यार्थ:- *(सामान्यतो दृष्टात्-च)* यदि नेत्र इन्द्रिय के द्वारा ही सन्निकर्ष प्रत्यक्ष होता है, त्वग् इन्द्रिय से हुआ सन्निकर्ष प्रत्यक्ष न माना जाए तब भी सामान्यतो दृष्ट न्याय से

वायु की सिद्धि होती ही है। त्वक् इंद्रिय के द्वारा जो स्पर्श गुण सन्निकर्ष होगा उस गुण का गुणी=द्रव्य होना चाहिए ही। [अथवा पार्थिव, जलीय, आग्नेय दृष्ट पदार्थ हैं और स्पर्श गुणवाले हैं किन्तु अपने स्पर्श गुण के कारण ज्ञात नहीं होते हैं, क्योंकि नेत्रों के द्वारा पार्थिव आदि का स्पर्श गृहीत नहीं होता है, पुनरपि उनमें स्थित स्पर्श तो त्वचा से गृहीत होते हैं। तब, वे स्पर्श गुण पार्थिव आदि के न होकर उनसे भिन्न किसी अन्य द्रव्य के लिङ्ग हैं, ऐसा जाना जाता है, गुण का गुणी होना चाहिए, बिना गुणी के गुण नहीं रह सकता इस समान्यतो दृष्ट न्याय से।] और वह *(अविशेषः)* अभेद = स्पर्श गुण से उसका गुणी = वायु का ज्ञान समान्यतो दृष्ट ज्ञान से भिन्न नहीं है। तथा वस्त्र पत्ते शाखा आदि, कोई न कोई भी पार्थिव आदि आघातकारी दृश्य वस्तु आदि क्रिया का निमित्त नहीं देखा जाता है परन्तु उसमें कम्पन और चलन आदि क्रिया तो होती है। पुनः उसमें कंपन-चलन आदि क्रिया का प्रवर्तन करने वाला=हिलाने वाला होना चाहिए, इसलिए यह सामान्यतो दृष्ट लक्षण वायु की सिद्धि में समान हेतु = प्रमाण है ॥१६॥

एवं सिद्धे सति वायौ पुनस्तन्नाम –

तस्मादागमिकम् ॥१७॥
संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ॥१८॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति –

(तस्मात् संज्ञाकर्म तु- आगमिकम्) यतो हि नेत्रेन्द्रियेणाप्रत्यक्षस्य वायुप्रभृतेर्वस्तुनः संज्ञाकर्म नामकरणं खल्वागमिकमागमैः सिद्धमागमेषु भवं वा, आगमाः खल्वृग्यजुः सामाथर्वाणस्तै सिद्धं तत्र भवं वा, तद्धर्मपूर्वकमन्वर्थमस्ति हि यथा "वायवायाहि ...." (ऋ. १।२।१) "प्राणाद् वायुरजायत" (यजु. ३।१३) (अस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्) आगमाः खल्वस्मद्विशिष्टानि वचनानि नहि तानि खल्वस्माभिः प्रोक्तानि-मनुष्यैः प्रोक्तानि यदा नास्माभिर्मनुष्यैः प्रोक्तानि तदा तान्यपौरुषेयाणि खल्वीश्वरप्रोक्तानि हि तथाविधानामीश्वरवचनानां लिङ्गं प्रमाणं नेत्रेणादृश्यवस्तुविषये भवति हि तच्च मन्तव्यमेव ॥१७-१८॥

इस प्रकार वायु सिद्धि होने पर पुनः उसका नाम–

तस्मादागमिकम् ॥१७॥
संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ॥१८॥

सूत्रार्थ:- क्योंकि वायु आदि पदार्थो का नामकरण वेदोक्त है इसलिए मनुष्यों से भिन्न ईश्वर द्वारा कहे वचनों का इसमें प्रमाण है। अतः इन पदार्थो का नाम प्रामाणिक मानना चाहिए ॥१७,१८॥

भाष्यार्थ:- *(तस्मात् संज्ञाकर्म तु- आगमिकम्)* क्योंकि नेत्रेन्द्रिय से अप्रत्यक्ष वायु आदि से लेकर स्थूल सूर्यादि प्रत्यक्ष पदार्थों का संज्ञाकर्म = नामकरण शाब्दिक है । आगम से सिद्ध है, आगम में होने वाला अथवा आगम=ऋग, यजु, साम, अथर्व वेदों से सिद्ध अथवा उसमें होने वाला (शब्द) धर्म पूर्वक एवं बुद्धि पूर्वक ही है । जैसे *"वायवायाहि ...." (ऋ. १।२।१) "प्राणाद् वायुरजायत" (यजु. ३१।१३)* आगम *(वेद) (अस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्)* हम जीवों से भिन्न विशिष्ट (परमात्मा) का वचन है, वे हम मनुष्यों के द्वारा नहीं कहा गया है, जब हम मनुष्यों के द्वारा प्रोक्त नहीं है तब वे अपौरुषेय=ईश्वर प्रोक्त ही हैं, इस प्रकार के ईश्वरीय वचनों के लिंग=प्रमाण नेत्र से अदृश्य वस्तु के विषय में होता ही है और उसको मानना ही चाहिए ॥१७-१८॥

तस्य च –

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥१९॥

(संज्ञाकर्मणः प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्) नामकरणस्य प्रत्यक्षप्रवृत्तिमत्त्वात् । प्रत्यक्षे नामकरणं प्रवर्तते, लोके जनो यत् प्रत्यक्षमुपलभते तस्य नामकरणं विदधाति । वायुप्रभृतयो नास्माकं दृष्टिगोचराः, नहि तेषां प्रत्यक्षमस्माभिः क्रियते तस्मादस्मद्विशिष्टेषु वचनेष्वागमेषु प्रत्यक्षमुपलभमानेन सर्वज्ञेनेश्वरेण संज्ञाकर्म – नामकरणं कृतमस्ति । उक्तं हि स्वयं वेदे "यो देवानां नामधा" (ऋ. १०।८२।३) तथा स्मृतावपि "सर्वेषां तु स नामानि ... वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" (मनु . १।२१) तस्मात्तत्प्रमाणम् । १७-१९ सूत्रत्रयमन्यैरन्यथा व्याख्यातम् ॥१९॥

और उसका -

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥१९॥

सूत्रार्थ:- संज्ञा कर्म के प्रत्यक्ष वस्तुओं में प्रवृत्त होने से वायु का नाम ईश्वरोक्त है। क्योंकि वायव्यादि पदार्थ ईश्वर को प्रत्यक्ष है ॥१९॥

भाष्यार्थ:-*(संज्ञाकर्मणः प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्)* प्रत्यक्ष होने पर नामकरण की प्रवृत्ति होती है, लोक में व्यक्ति जो प्रत्यक्ष से उपलब्ध करता है उसका नामकरण कर देता है । वायु आदि हमारे लिए देखने वाली वस्तु नहीं हैं और न ही उनका प्रत्यक्ष हम लोगों के द्वारा किया जा सकता है, इसलिए हम लोगों से भिन्न विशिष्टों का वचन आगमों (वेदों) में

प्रत्यक्ष उपलब्ध होने से सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा संज्ञा कर्म= नामकरण किया गया है। स्वयं वेद में कहा भी गया है- *"यो देवानां नामधा"* *(ऋ. १०।८२।३)* "वह दिव्य पदार्थों का नाम रखने वाला" उसी प्रकार स्मृति में भी *"सर्वेषां तु स नामानि ... वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" (मनु. १।२१)* "सृष्टि के आदि काल में ऋषियों ने सभी पदार्थों के नाम वेद में से लेकर ही रखा है" इसलिए वे (नाम) प्रामाणिक है। ७ से १९ तीनों सूत्रों की अन्यथा व्याख्या की है॥१९॥

आकाशविषये –

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्॥२०॥

(निष्क्रमणं प्रवेशनम्) दृष्टवस्तुनो बहिर्गमनं यस्माद् भवति तथा यस्मिन् निवेशनं भवति – इति दृश्यवस्तुनो निष्क्रामतः प्रविशतश्चावकाशग्रहणम् (आकाशस्य लिङ्गम्) आकाशस्य लिङ्गं लिङ्ग्यते येन तत् साधकमस्ति, आकाशो ह्यवकाशं प्रयच्छति निष्क्रमितुं प्रवेष्टुं च दृश्यपदार्थाय॥२०॥

आकाश के विषय में-

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्॥२०॥

सूत्रार्थ:- स्थूल दृश्यादि पदार्थों का निकलना और प्रवेश करना जिस तत्व में होता है अथवा निकालने और प्रवेश करने के लिए जो तत्त्व स्थान देता है, वह आकाश का लक्षण है॥२०॥

भाष्यार्थ:- *(निष्क्रमणं प्रवेशनम्)* दृष्ट = प्रत्यक्ष वस्तुओं का बाहर निकालना जिसके कारण होता है वह निष्क्रमण तथा जिसमें प्रवेश होता है – इस प्रकार दृश्य वस्तु को बाहर आने व भीतर जाने के लिए अवकाश का ग्रहण = अवकाशदान = स्थान उपलब्धि (कराना) *(आकाशस्य लिङ्गम्)* आकाश का लिंग है। लिंग कहते हैं जिससे लिङ्गित = ज्ञात होता है, उसका साधक है। आकाश अवकाश प्रदान करता है, दृश्य पदार्थों को बाहर निकलने और भीतर घुसने के लिए॥२०॥

एतद् दूषयति पूर्वपक्षत्वेन –

तदलिङ्गमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः॥२१॥

(तत्- अलिङ्गम्) दृश्यस्य वस्तुनो यन्निष्क्रमणं प्रवेशनं न लिङ्गमाकाशस्य (कर्मणः – एकद्रव्यत्वात्) निष्क्रमणं प्रवेशनं खलु कर्म तत्त्वेकद्रव्यवर्ति निष्क्रामति प्रविशति च वस्तुनि वर्तमाने सत् तस्मान्निष्क्रामतः प्रविशतश्च वस्तुनो भिन्नस्याकाशस्य लिङ्गं न भवितुमर्हति, निष्क्रामत् प्रविशद् वस्तु हि तस्य समवायिकारणं नाकाशः॥२१॥

इसको पूर्वपक्ष के द्वारा खंडित (दोषारोपण) किया जाता है-

तदलिङ्गमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः ॥२१॥

सूत्रार्थ:- निष्क्रमण और प्रवेशन आकाश का लिङ्ग नहीं हो सकता, कर्म के एक द्रव्य में स्थित होने से ॥२१॥

भाष्यार्थ:- *(तत् अलिङ्गम्)* दृश्य वस्तुओं का जो निकलना या घुसना है वह आकाश का ज्ञापक नहीं है *(कर्मणः एक द्रव्यत्वात्)* निष्क्रमण, प्रवेशन कर्म तो एक ही द्रव्य के आश्रित होता है तो निकलने – घुसनेवाली वस्तु में होने से घुसने- निकलनेवाली वस्तु से भिन्न आकाश का लिङ्ग नहीं हो सकता है। दोनों क्रियाओं का समवायी कारण घुसने – निकलने वाली वस्तु है, न कि आकाश ॥२१॥

तथा –

कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च ॥२२॥

(कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्यात्-च) समवायिकारणतो भिन्नं कारणं कारणान्तरमनुकल्प्यतेऽनुमन्यते यया सा कारणान्तरानुक्लृप्तिः कारणान्तरानुमानशक्तिस्तस्या वैधर्म्यं चेदं यत्खल्वाकाशो द्रव्यमपि द्वितीयमसमवायिकारणं कर्मणो भवति संयोगादसमवायिकारणं भवेत्, तथा कारणे कार्यं प्रति कारणत्वधर्मः पूर्वतो नियतो वर्तते यदुपस्थिते कारणे कार्यमुत्पद्यते, आकाशस्तु सर्वकाले सर्वत्र चोपतिष्ठते नास्य व्यतिरिकोऽस्ति, पुनः कदाचित् कर्म कदाचिदकर्मेति व्यवस्था न स्यात्, तस्मादनुक्लृप्तेरनुमानशक्तेर्वैधर्म्यादाकाशो निष्क्रमणस्य प्रवेशनस्य च कर्मणो न कारणम् । पुनश्चाकाशः सर्वगतस्तत्र निष्क्रमणस्य प्रवेशनस्य च कर्मणो नैरन्तर्येण भवितव्यंयदि कारणं स्यादाकाशः ॥२२॥

तथा (दूसरा आक्षेप) करते हैं-

कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च ॥२२॥

सूत्रार्थ:- द्वितीय कारण कि अनुमानक कल्पना शक्ति से निरोध होने से भी आकाश द्रव्य निष्क्रमण और प्रवेशन कर्म का कारण नहीं हो सकता ॥२२॥

भाष्यार्थ:-(कारणान्तर – अनुक्लृप्ति -वैधर्म्यात् च) समवायि कारण से भिन्न कारण को कारणान्तर कहते हैं, वह अनुकल्पित = अनुमानित होता है जिससे उसे कारणान्तराक्लृप्ति कहेंगे । अर्थात् अन्य कारण के अनुमान करने वाली शक्ति । उसका वैधर्म्य = विरोधि अर्थात् जो यह आकाश है यह द्रव्य भी कर्म का द्वितीय

असमवायिकारण बन रहा है या निष्क्रमण – संयोग के आश्रय द्रव्य के साथ संयुक्त आकाश भी संयोग के कारण असमवायि कारण होना चाहिए। उसी प्रकार कारण में कार्य के प्रति कारणत्व धर्म पूर्व से नियत होता है जिसके उपस्थित होने पर कारण से कार्य उत्पन्न होता है। आकाश तो सदा सर्वत्र उपस्थित रहता है, किसी से रहित नहीं होता, इसलिए कभी कर्म होवे, कभी नहीं होवे यह व्यवस्था नहीं बन पाती। (सदा सर्वत्र आकाश के होने से सदा सर्वत्र कर्म भी होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता, केवल आकाश में कर्म नहीं होने से) इसलिए अनुक्लृप्ति के = अनुमान शक्ति के वैधर्म्य से आकाश निष्क्रमण प्रवेशन कर्म का कारण नहीं होता (पुनः आकाश सर्वगत = विभु द्रव्य है, उसमें प्रवेश – निष्क्रमण कर्म निरन्तर होना चाहिए यदि आकाश होता है कारण तब। [मुनिजी ने भी आधी व्याख्या समाधान परक कर दी जबकि सूत्र आक्षेप परक है] ॥२२॥

सूत्रद्वयेनोक्तस्य पूर्वपक्षस्य समाधानम् –

संयोगादभावः कर्मणः ॥२३॥

(संयोगात् – अभावः कर्मणः) निष्क्रामतः प्रविशतश्च द्रव्यस्य तद्भिन्नेन मूर्तिमता वस्तूना संयोगात् संयोगरूपप्रतिबन्धात् तत्राकाशे निष्क्रमणस्य प्रवेशनस्य कर्मणो व्यापारस्य नैरन्तर्येणाभावो विद्यते न तु तत्राकाशे कारणत्वस्याभावात् कर्मणोऽभावः । तस्मात् तत्कारणत्वमवकाशदानाद् व्यवतिष्ठते हि । यद्वा (कर्मणः संयोगात्) निष्क्रमणस्य प्रवेशनस्य कर्मणः कारणं समवायिकारणं भवतु निष्कामत् प्रविशच्च द्रव्यं परन्तु निष्कामतः प्रविशतश्च वस्तुनो निष्क्रमणस्य प्रवेशनस्य कर्मणः परिणामः फलं वा संयोगस्तु नाकाशे व्याहन्यते स तु तत्र भवत्येव, उक्तं हि प्रशस्तपादे "शब्दकारणत्ववचनात् आकाशे संयोगविभागाविति" (प्रशस्तपादः) तस्मात् (अभावः) कारणत्वप्रतिषेधस्याभाव आकाशे । अथवा (कर्मणः संयोगात् – अभावः) कर्मणः – आकाशे संयोगात् सम्यग्योगात् समवायादभावोऽस्त्याकाशो न कर्मणः समवायिकारणं कर्मण एकद्रव्यवर्तित्वात् परन्तु तस्य निष्क्रमणप्रवेशनलिङ्गत्वे न क्षतिस्तत्र निष्क्रामते प्रविशते द्रव्याय तस्यावकाशप्रदानधर्मित्वात् तस्मान्निष्क्रमणं प्रवेशनमिति लिङ्गमाकाशस्य निरवद्यम् । विचित्रा खलु सूत्रकृतिः सूत्रकारस्य । अत्र सूत्रेऽपि सूत्रशैलीविरुद्धं भाष्यं व्यधायि शङ्करमिश्रादिभिः ॥२३॥

दो सूत्रों से कहे हुए पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं-

संयोगादभावः कर्मणः ॥२३॥

सूत्रार्थ:- किसी स्थूल पदार्थ के संयोग से कर्म का अभाव होता है आकाश में । अतः आकाश निष्क्रमण और प्रवेशन कर्म का निमित्त कारण है ही, इसमें कोई दोष नहीं ॥२३॥

भाष्यार्थ:- *(संयोगात् – अभावः कर्मणः)* निकलते और प्रवेश करते हुए द्रव्य का उससे भिन्न (मूर्ति) ठोस वाले वस्तु के संयोग से संयोग रूप प्रतिबंधक से वहाँ आकाश में निकलने घुसने रूप कर्म के व्यापार का निरन्तरता का अभाव होता है किन्तु उस आकाश में कारणता का अभाव होने से कर्म का अभाव नहीं होता । इसलिए उसके कारणपन अवकाश देने से रहता ही है, अथवा *(कर्मणः संयोगात्)* निष्क्रमण और प्रवेशन कर्म का कारण= समवायि कारण निकलने और प्रवेश करने वाले द्रव्य होवें परन्तु निकलने और प्रवेश करने वाली वस्तु के निष्क्रमण और प्रवेशन कर्म का परिणाम या फल जो संयोग है वह आकाश में बाधित नहीं होता वह तो वहाँ होता ही है, कहा भी गया है- प्रशस्तपाद में *"शब्दकारणत्ववचनात् आकाशे संयोगविभागाविति" (प्रशस्तपादः)* "शब्द का कारण कथित होने से आकाश में संयोग विभाग होता है "*(अभावः)* इसलिए कारणत्व प्रतिषेध का अभाव आकाश में है । *(कर्मणः संयोगात् – अभावः)* अथवा कर्म का आकाश में संयोग होने से= सम्यक् योग होने से= समवाय होने से आकाश कर्म का समवायि कारण नहीं है (इस बात का) अभाव होता है, कर्म के एक द्रव्यवर्ति होने से, उस आकाश का निष्क्रमण और प्रवेशन रूप लिंग होने में क्षति नहीं है । परन्तु; उस (आकाश) का निष्क्रमण और प्रवेशन करने वाले द्रव्य के लिए उस (आकाश) का अवकाश प्रदान करना धर्म वाला होने से इसलिए निष्क्रमण और प्रवेशन इस प्रकार आकाश का दोष रहित लक्षण है । सूत्रकार की सूत्र रचना विचित्र है । इस सूत्र में भी सूत्र की शैली से विरुद्ध भाष्य शंकर मिश्र आदि ने कर दिया है ॥२३॥

निष्क्रमणप्रवेशने तु खल्ववकाशग्रहणादाकाशसूचके भवतो यतोऽवकाशदानस्य निमित्तमाकाशः । शब्दः खल्वाकाशस्य गुणः, इत्यत्र पीठमारचयन् परिभाषां विदधाति –

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥२४॥

(कार्यगुणः कारणगुणपूर्वकः-दृष्टः) घटपटादिकार्यस्य गुणः स्वकारणगुणपूर्वको भवति, ये कारणे गुणो भवन्ति ते कार्येऽनुशेरते, ये च गुणाः कारणे न भवन्ति ते तस्य कार्येऽपि न भवन्ति ।

निकलने और प्रवेश करने में तो (आकाश से) अवकाश ग्रहण करने से आकाश का सूचक है क्योंकि अवकाश प्रदान का निमित्त आकाश है, शब्द आकाश का गुण है, इस प्रकार यहाँ भूमिका बनाते हुए परिभाषा करते हैं-

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥२४॥

सूत्रार्थ:- कारण के गुणों के सदृश ही कार्य द्रव्य का गुण भी देखा जाता है॥२४॥

भाष्यार्थ:- *(कार्यगुणः कारणगुणपूर्वकः-दृष्टः)* घट-पट आदि कार्य के गुण अपने कारण गुण पूर्वक होता है जो गुण कारण में होते हैं; वे कार्य में स्थित होते हैं और जो गुण कारण में नहीं होते हैं; वे उसके कार्य में भी नहीं होते हैं ॥२४॥

तस्मात् –

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥२५॥

(स्पर्शवताम्- अगुणःशब्दः) पृथिव्यप्तेजोवायूनां न गुणः शब्दः। यतः(कार्यान्तराप्रादुर्भावात्- च) पृथिव्याः कार्यं पार्थिवम्, अपां कार्यमाप्यम्, तेजसः कार्यं तैजसम्, वायोः कार्यं वायव्यम् । एतेभ्यःपार्थिवाप्यतैजसवायव्येभ्यः कार्येभ्यो भिन्नानि कार्याणि कार्यान्तराणि, यानि पृथिव्यादीनां मिश्रणादुद्भूतानि कार्याणि तेष्वपि शब्दस्याप्रादुर्भावात् तथा चकारात् पृथिव्यादीनां पृथक्- पृथक् यानि सजातीयानि कार्याणि पार्थिवानि, आप्यानि, तैजसानि, वायव्यानि तेषु चाप्रादुर्भावात् । यदि शब्दः स्पर्शवतां पृथिव्यप्तेजोवायूनां गुणः स्यात् तेषां कार्येषु कार्यान्तिरेषु प्रादुर्भवेत् "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः" इति नियमात् । न च प्रादुर्भवति तस्मान्न स्पर्शवतां पृथिव्यप्तेजोवायूनां गुणः शब्दः । शङ्करमिश्रादिभिः सूत्रं न सम्यग्व्याख्यातम् ॥२५॥

इसलिए-

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥२५॥

सूत्रार्थ:- पृथिवि आदि के कार्यद्रव्यों में सम्मिश्रण से उत्पन्न कार्यान्तर द्रव्यों में कहीं भी शब्द के उत्पन्न न होने से स्पर्शवाले पृथिवि जलाग्नि और वायु इन द्रव्यों का शब्द गुण नहीं है ॥२५॥

भाष्यार्थ:-*(स्पर्शवताम अगुणः शब्दः)* पृथिवि, जल, अग्नि, वायु का गुण शब्द नहीं है । क्योंकि *(कार्यान्तर अप्रादुर्भावात् च)* पृथिवि का कार्य पार्थिव, जल का कार्य जलीय, अग्नि का कार्य आग्नेय और वायु का कार्य वायव्य होता है । इन पार्थिव, आप्य, तैजस पदार्थों से भिन्न कार्य, जितने भी हैं और पृथिवी आदि के मिश्रण से उत्पन्न हुए हैं, उनमें

शब्द का प्रादुर्भाव न होने से तथा सूत्र में पठित चकार से ज्ञात पृथिवी आदि के भिन्न – भिन्न जितने सजातीय कार्य हैं, पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य उनमें भी प्रादुर्भाव न होने से। (शब्द पृथिवि आदि का धर्म नहीं है) यदि शब्द स्पर्शगुण वाले पृथिवी, जल, अग्नि, वायु का गुण होता तो उनके कार्यों व उनसे भिन्न कार्यों में प्रादुर्भूत होना चाहिए या *"कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः"* इस नियम से। किन्तु प्रादुर्भूत नहीं होता है, इसलिए स्पर्शवाले पृथिवी, जल, अग्नि, वायु का गुण शब्द नहीं है। शंकरमिश्र आदि ने सूत्र की व्याख्या ठीक नहीं की॥२५॥

पुनः –

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः॥२६॥

(न-आत्मगुणः) शब्दो न ह्यात्मनो गुणः। यतः (परत्र समवायात्) आत्मनो भिन्ने समवेतत्वाच्छब्दस्य यदि ह्यात्मनि समवेयाद् बधिरोऽपि शब्दं शृणुयादथ च सुखीदुःख्यहमिति शब्दीत्यपि खल्वनुभवेत्। तथा (न मनोगुणः) न मनसो गुणः शब्दः। यतो हि (प्रत्यक्षत्वात्) बाह्यकरणेन श्रोत्रेन्द्रियेण ग्राह्यत्वात्, मनस्त्वन्तःकरणं तस्मान्न तस्य गुणः शब्दः॥२६॥

फिर-

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः॥२६॥

सूत्रार्थः- आत्मा से भिन्न वस्तु संबन्ध रहने के कारण शब्द गुण आत्मा का नहीं है और श्रोत्रेन्द्रिय से सुना जाने के कारण शब्द गुण मन का भी नहीं है॥२६॥

भाष्यार्थः- *(न आत्मगुणः)* शब्द आत्मा का गुण नहीं है। क्योंकि *(परत्र समवायात्)* शब्द के आत्मा से भिन्न द्रव्यों में समवेत = सम्बद्ध = स्थित होने से। यदि आत्मा में शब्द समवेत रहता तो बधिरों को भी शब्द सुनाई देना चाहिए था और जैसे मै सुखी हूँ, मै दुःखी हूँ जैसा लगता है, वैसे मै शब्दवाला हूँ, यह भी लगाना चाहिए था। (परन्तु ऐसा नहीं लगता।) तथा *(न मनोगुणः)* मन का गुण भी शब्द नहीं है। क्योंकि *(प्रत्यक्षत्वात्)* बाह्य करण कर्णेन्द्रिय से ग्राह्य होने से, मन तो अन्तःकरण है, इसलिए मन का भी गुण शब्द नहीं हो सकता॥२६॥

परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य॥२७॥

(परिशेषात्) परिशेषन्यायात् (आकाशस्य लिङ्गम्) आकाशस्य गुणः शब्द इति सिद्धम्। परिशेषे दिक्कालौ न गृह्येते शब्दस्येन्द्रियग्राह्यत्वात्, इन्द्रियाणि हि पृथक् पृथग्

भूतप्रकृतीनि तत्राकाशो हि भूतेषु परिशिष्यते । आकाशः परिशेषात् कथं सूत्रकारेण गृहीतः, दिक्कालावपि तु परिशिष्येते । इत्यत्र कालो "दिक् चाकाशमेवेति" चन्द्रकान्तभाष्ये समाधानं न युक्तम्, तयोर्द्रव्यनाम्ना पृथक्सत्तावत्त्वात् । आत्ममनसोर्गुणविचारणस्यावसरस्तु श्रोतृत्वश्रावणत्वसम्बन्धादासीत् ॥२७॥

परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य ॥२७॥

सूत्रार्थः- भूतों में एक ही भूत बच जाने से शब्द गुण आकाश का लिङ्ग है ॥२७॥

भाष्यार्थः- *(परिशेषात्)* परिशेष न्याय से *(आकाशस्य लिङ्गम्)* आकाश का गुण शब्द है, यह सिद्ध हुआ । परिशेष के अन्तर्गत दिशा व काल का ग्रहण नहीं होगा, शब्द के कर्णेन्द्रिय – ग्राह्य होने से । इन्द्रियाँ भिन्न – भिन्न भूतों से बनी हैं, इन भूतों में आकाश का ही ग्रहण होता है, अतः आकाश ही परिशेष के अन्तर्गत आएगा । सूत्रकार ने आकाश को ही परिशेष से ग्रहण क्यों किया, दिशा और काल भी परिशेष में आने चाहिएँ । इस विषय में काल व दिशा आकाश ही हैं ऐसा चन्द्रकान्त भाष्य में समाधान किया है, वह ठीक नहीं है । क्योंकि दिशा व काल की सत्ता पृथक् पृथक् सूत्रकार ने माना है। (अतः शब्द का भूत प्राकृतिक स्वतंत्र आकाश से ही प्रसंगानुकूल है।) आत्मा या मन का गुण शब्द है या नहीं, यह प्रसंग इसलिए उठाया गया कि आत्मा शब्द का श्रोता है और मन साधन होने से सुननेवाला हो सकता था ॥२७॥

तस्य -

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२८॥

(द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते) आकाशस्य द्रव्यत्वं नित्यत्वं च वायुना तुल्यं व्याख्यातं वेदितव्यम् । वायोर्द्रव्यत्वं यथा खल्वद्रव्यवत्त्वेनान्यद्रव्यमिश्रणराहित्येन केवलत्वेन तथा क्रियावत्त्वगुणवत्त्वाभ्यां तथाकाशस्यापि द्रव्यत्वमन्यद्रव्यमिश्रणराहित्येन केवलत्वेन तथा क्रियावत्त्वगुणवत्त्वाभ्यां तत्र निष्क्रमणप्रवेशनक्रियाया निमित्तत्वात् तस्य क्रियावत्त्वं शब्दगुणेन गुणवत्त्वम् । अथ च तस्य नित्यत्वमपि वायोरिवाद्रव्यत्वेन द्रव्यानाश्रयित्वेनास्तीति विज्ञेयम् ॥२८॥

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२८॥

सूत्रार्थः- आकाश का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के समान समझना चाहिए ॥२८॥

भाष्यार्थः- *(द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते)* आकाश का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के समान व्याख्यात समझ लेना चाहिए । जैसे कि वायु का द्रव्यत्व तो अद्रव्यत्व = अन्य द्रव्य के मिश्रण से रहित, एक विशुद्ध रूप में होने से है, वैसे आकाश का भी अन्य द्रव्य

रहित, तथा क्रियावाला, गुणवाला अर्थात् उसमें निष्क्रमण, प्रवेशन क्रिया की निमित्तता से उसका क्रियावाला होना और शब्द का आश्रय होने से गुणवाला होना, इस क्रिया गुणवत् समवायि कारण की परिभाषा से युक्त होने से द्रव्यत्व सिद्ध होता है और आकाश का नित्यत्व भी वायु के समान अद्रव्यत्व = किसी द्रव्य का आश्रित न होने से सिद्ध है, ऐसा जानना चाहिए ॥२८॥

तत्त्वं भावेन ॥२९॥

(तत्त्वम्) तत्स्वरूपं केवलत्वमेकत्वम् (भावेन) सत्तया तुल्यं व्याख्यातं वेदितव्यम् । यथा सत्ता खल्वेका तथाकाशोऽप्येकः स्वरूपतो निरवयवत्वाद् – भेदाभावाच्च ॥२९॥

तत्त्वं भावेन ॥२९॥

सूत्रार्थ:- आकाश का स्वरूप एक है, यह बात सत्ता के समान समझनी चाहिए । निरवयव तथा भेद का अभाव होने से ॥२९॥

भाष्यार्थ:- *(तत्त्वम्)* तत्त्स्वरूप = केवलत्व = एकत्व = आकाश का स्वतन्त्र अस्तित्व *(भावेन)* सत्ता के तुल्य बता दिया गया; ऐसा जानना चाहिए । जैसे सत्ता एक है, वैसे ही आकाश भी एक है । स्वरूप से निरवयव होने से उसमें कोई भेद नहीं है ॥२९॥

सत्तायाः खल्वेकत्वं त्वनुगतप्रतीत्या भवति, कथमाकाशस्यैकत्वमुच्यते –

शब्दलिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च ॥३०॥

(शब्दलिङ्गाविशेषात्) यथा सत्ताया अनुगतप्रतीतिर्लिङ्गाविशेषः समानभावेन लिङ्गं तथैवाकाशस्य शब्दोऽपि लिङ्गाविशेषः समानभावेन लिङ्गमस्ति तथा (विशेषलिङ्गाभावात् - च) शब्दाद् भिन्नलिङ्गस्याभावादपि तस्यैकत्वमखण्डत्वं केवलत्वं चास्ति नहि कालभेदेन देशभेदेन शब्दभिन्नगुणस्य वर्तमानत्वमस्ति सकृद्वा गुणमिश्रणमस्ति ॥३०॥

सत्ता की एकता तो किसी के देखे हुए की प्रतीति से होती है, परन्तु आकाश का एकत्व कैसे ज्ञात होता है उसको कहते हैं-

शब्दलिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च ॥३०॥

सूत्रार्थ:- आकाश का सर्वत्र एक ही लिङ्ग शब्द गुण पाया जाने और शब्द से भिन्न अन्य लिङ्ग के न पाए जाने से आकाश एक है ॥३०॥

भाष्यार्थ:- *(शब्दलिङ्गाविशेषात्)* जैसे सत्ता की अनुगत प्रतीति = सब में उसके स्वतन्त्र रूप से होना की अनुभूति, लिङ्ग – अविशेष = समान रूप से होना रूप होती

है, वैसे ही आकाश का शब्द भी लिङ्ग – अविशेष है, सर्वत्र समानरूप से होने वाला लक्षण से युक्त है तथा *(विशेष- लिङ्ग – अभावात् च)* शब्द से भिन्न लिंग का भी अभाव होने से आकाश का एकत्व, अखंडत्व और केवलत्व है। काल भेद से, देश भेद से, शब्द से भिन्न गुण विद्यमान नहीं है अथवा एक बार भी कोई गुण का मेल नहीं है ॥३०॥

तदनुविधानादेपकपृथक्त्वं चेति ॥३१॥

(तदनुविधानात् – एकपृथक्त्वं च –इति) आकाशस्य यदेकत्वं तस्यानुविधानादनुसरणादेकपृथक्त्वमपि तस्यैकत्वमुनुसरति ह्येकपृथक्त्वं यत्रैकत्वं तत्रैवैकपृथक्त्वमप्यनिवार्यमिति व्याप्तेः ॥३१॥

तदनुविधानादेपकपृथक्त्वं चेति ॥३१॥

सूत्रार्थ:- आकाश के एकत्व का अनुसरण करने से आकाश में एक पृथक्त्व भी है ॥३१॥

भाष्यार्थ:- *(तद् अनुविधानात् एक पृथक्त्वं च इति)* आकाश का जो एकत्व है, उसका अनुविधान = अनुसरण होने से एक पृथक्त्व भी है। उसके एकत्व का अनुसरण एक पृथक्त्व भी करता है। जहाँ एकत्व होता है वहाँ एक पृथक्त्व का होना अनिवार्य है, इस व्याप्ति से ॥३१॥

द्वितीयध्याये प्रथमाह्निकं समाप्तम्।

॥ द्वितीयोऽध्यायः द्वितीयाह्निकम् ॥

प्रथमाह्निके पृथिव्यादीनां सामान्येन लक्षणान्युक्तानि तत्र कानि स्वाभाविकानि कानि चौपाधिकानि भिन्नद्रव्यसंसर्गजानीत्युच्यते, तत्र प्रथमं दृष्टान्तमुपस्थापयत्याचार्यः–

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिङ्गम् ॥१॥

(पुष्पवस्त्रयोः सन्निकर्षे सति) केतकीपुष्पस्य वस्त्रस्य च संसर्गे सति (वस्त्रे गुणान्तराप्रादुर्भावः) वस्त्रे केतकीपुष्पगन्धादितरगन्धस्य चम्पागन्धस्याप्रादुर्भावः । अथ च य एष केतकीगन्धो गुणान्तरं वस्त्राद् भिन्नस्य केतकीपुष्पस्य गुणः स च तत्संसर्गात् पूर्वं वस्त्रे तस्याप्रादुर्भावः (गन्धाभावलिङ्गम्) वस्त्रे गन्धाभावस्य लिङ्गं लक्षणमस्ति । यथा हि वस्त्रे स्वाभाविको गन्धो नास्ति पुष्पसंसर्गाद् भवति खल्वौपाधिकः संसर्गजः, एवमेव पृथिव्यादिषु द्रव्येष्वपि केचन गुणाः संसर्गादौपाधिका रूपादय उक्तपूर्वाः "रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी" (वै . २।१।१) इत्येवमादिस्थलेषु । शङ्करमिश्रादिभिः सूत्रमिदं न सम्यग्व्याख्यातम्, सूत्रशैल्या त्वानुलोम्येन सूत्रं व्याख्यातव्यमासीत् परन्तु तैर्न तथा व्याख्यातं किन्तु प्रातिलोम्येन व्याख्यातं ॥१॥

प्रथम आह्निक में सामान्य रूप से पृथिवी आदि के लक्षण कहे, उनमें कौन स्वाभाविक तथा कौन नैमित्तिक हैं, भिन्न द्रव्य के संसर्ग से उत्पन्न हैं, इसको कहते हैं; आचार्य उस प्रसंग में पहले उदाहरण को रखते हैं –

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिङ्गम् ॥१॥

सूत्रार्थः- पुष्प और वस्त्र का सन्निकर्ष होने पर केतकी से भिन्न फूल की गंध का वस्त्र में उत्पन्न न होना, सन्निकर्ष से पूर्व भी गंध का अभाव न होना, वस्त्र में गंध के अभाव का प्रमाण है ॥१॥

भाष्यार्थः- *(पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे)* केतकी नामक पुष्प और वस्त्र का संसर्ग होने पर *(वस्त्रे गुणान्तर – अप्रादुर्भावः)* वस्त्र में केतकी पुष्प की गन्ध से भिन्न गन्ध, चम्पादि गन्ध की उत्पत्ति नहीं होती है । और यह जो केतकी की गन्ध है यह वस्त्र गुण से भी भिन्न गुण है, केतकी पुष्प का गुण है । वह गुण केतकी और वस्त्र के संयोग से उत्पन्न हुआ है । वस्त्र में, संयोग से पूर्व वस्त्र में उसकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, यह अभाव *(गन्ध-*

अभाव- लिङ्गम्) वस्त्र में केतकी – गन्ध के अभाव का लिङ्ग = लक्षण है । जैसे वस्त्र में स्वाभाविक गन्ध नहीं है, पुष्प के संसर्ग से हुआ है, यह गन्ध औपाधिक है, संसर्गज है । *इसी प्रकार पृथ्वी आदि द्रव्यों में कुछ गुण संसर्ग से उत्पन्न होते हैं, जो नैमित्तिक होते हैं, जैसे रूप आदि पहले कहे गए *'रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी'* आदि स्थल पृथिवी में है । शंकरमिश्रादि द्वारा यह सूत्र ठीक से व्याख्यात नहीं किया गया । सूत्र की शैली से अविपरीत शैली से व्याख्यान करना चाहिए था, परन्तु उन्होंने वैसा व्याख्यान नहीं किया; किन्तु विरुद्ध रूप में किया ॥१॥

[मुनिजी की व्याख्या सांख्य, उपनिषद् आदि के मतानुसार समझनी चाहिए, न्याय के मत से पृथ्वी में रूप, रस आदि स्वाभाविक हैं, क्योंकि 1) जल और पृथ्वी घुल मिलकर एक नहीं हो पाते, पृथक्-पृथक् ही रहते हैं। अतः जैसे अग्नि के संयोग से जल उष्ण हो जाता है और वह उष्णता जल का नैमित्तिक गुण हो जाता है, वैसे ही गीली मिट्टी या गीले वस्त्र में जो रूप भेद सूखी मिट्टी या सूखे वस्त्र से दिखाई देता है वह नैमित्तिक रूप है । सूखी मिट्टी या वस्त्र में वर्तमान रूप उसका स्वाभाविक ही है, 2) जल के गुण एक रस होता हुआ जो पृथिवी के छः रस पाया जाता है । अतः यह न्याय – वैशेषिक की मान्यता जाननी चाहिए – अनुवादक]

तत्र खलु –

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥२॥

(पृथिव्यां गन्धः - व्यवस्थितः) पृथिवीमभिलक्ष्य रूपरसगन्धस्पर्शा गुणाः प्रदर्शितास्तेषां गन्धो गुणः पृथिव्यां स्वाभाविको नैजोऽस्ति शेषा रसरूपस्पर्शा औपाधिका अप्तेजोवायूनां संसर्गादिति सूत्रलक्ष्यमस्ति । एतल्लक्षणसाधनाय पुष्पसंसर्गाद् वस्त्रे गन्ध औपाधिको यथा तथैव पृथिव्यां रसरूपस्पर्शा औपाधिका अबादीनां संसर्गादिति दृष्टान्तप्रयोजनम् । "व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः" इति कथनमुपलक्षणार्थं तेन "रूपरसस्पर्शवत्य आपो ... " अत्राप्सु रसो व्यवस्थितः, रूपस्पर्शौ तु खल्वौपाधिकौ । एवं तेजो रूपस्पर्शवत् तेजसि रूपं व्यवस्थितं स्पर्श औपाधिकः ॥२॥

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥२॥

सूत्रार्थः- पृथ्वी में गंधगुण मुख्य है, रूप-रस आदि गौण है अन्य गुणों के संसर्ग से उद्‌बुद्ध हो जाते हैं ॥२॥

भाष्यार्थः- *(पृथिव्यां गन्धः व्यवस्थितः)* पृथिवी को सामने रखकर रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुणों को बता दिया, उनमें गन्ध गुण पृथिवी में स्वाभाविक = निजी है, शेष रस, रूप, स्पर्श नैमित्तिक हैं, #जो कि जल, अग्नि, वायु के सम्पर्क से आए हैं, यही सूत्र का प्रयोजन

है । इसी लक्षण को सिद्ध करने के लिए बताया कि जैसे पुष्प के संसर्ग से वस्त्र में आया गन्ध गुण औपाधिक = नैमित्तिक है, वैसे पृथ्वी में रस, रूप, स्पर्श नैमित्तिक हैं, जो क्रमशः जल, अग्नि, वायु के संसर्ग से आए हैं, यही दृष्टान्त का प्रयोजन है । *"व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः"* यह कथन उपलक्षण के लिए है, इस से यह जान लेना चाहिए कि *"रूप ... स्पर्शवत्य आपो ... ।"* यहाँ जल में रस व्यवस्थित = स्वाभाविक है, निजी है किन्तु रूप और स्पर्श नैमित्तिक हैं। इसी प्रकार *"तेजो रूपस्पर्शवत्"* सूत्र में कथित अग्नि में रूप स्वाभाविक है और स्पर्श नैमित्तिक ॥२॥

एतेनोष्णता व्याख्याता ॥३॥

(एतेन – उष्णता व्याख्याता) अनेन लक्षणप्रकरेण गन्ध व्यतिरिच्य पृथिव्यामुष्णता खल्वौपाधिकी व्याख्याता विज्ञेया, तथैवाप्स्वप्यौपाधिकी विज्ञेयोष्णता ॥३॥

एतेनोष्णता व्याख्याता ॥३॥

सूत्रार्थः- इस प्रकार पृथ्वी में उष्णता अग्नि के संसर्ग से आ जाती है ॥३॥

भाष्यार्थः- *(एतेन - उष्णता - व्याख्याता)* इस संसर्ग नियमवाले लक्षण के प्रकरण से गन्ध को छोड़कर पृथिवी में (रूपादि के समान) उष्णता भी नैमित्तिक जानना-मानना चाहिए, वैसे ही जल में उष्णता औपाधिक व नैमितिक जानना चाहिए ॥३॥

तर्हि कस्योष्णता, इत्याकांक्षायामुच्यते –

तेजस उष्णता ॥४॥

(तेजसः - उष्णता) अग्नेः खलूष्णता व्यवस्थिता स्वाभाविकी नान्यस्य ॥४॥

पृथ्वी में उष्णता यदि नैमित्तिक है तो स्वाभाविक किसकी है? इस जिज्ञासा के विषय में समाधान कहते है –

तेजस उष्णता ॥४॥

सूत्रार्थः- अग्नि का उष्णता गुण व्यवस्थित = स्वाभाविक है, अन्य का नहीं ।

भाष्यार्थः- *(तेजसः - उष्णता)* अग्नि की उष्णता व्यवस्थित है, स्वाभाविक है अन्य की नहीं ॥४॥

पुनश्च –

अप्सु शीतता ॥५॥

(अप्सु शीतता) अप्सु खलु शीतता व्यवस्थिता स्वाभाविकी । एतेन पृथिव्यां पार्थिवे शिलाखण्डादौ शीतता त्वौपाधिकी व्याख्याता विज्ञेया । तथा तेजस्युष्णतायाः स्वाभाविकत्वेनाथाप्सु शीततायाः स्वाभाविकत्वेन सिद्धमिदं यद् वायोः स्पर्शे कदाचिदुष्णता तेजःसंसर्गात् कदाचिच्च शीतताऽप्संसर्गाद् भवति तथाकृत्वा हि क्रमवैलक्षण्यम् ॥५॥

फिर-

अप्सु शीतता ॥५॥

सूत्रार्थ :- ठंडक जल का स्वाभाविक गुण है ॥५॥

भाष्यार्थ :- *(अप्सु शीतता)* जलों में शीतलता व्यवस्थित = स्वाभाविक है । इससे ज्ञात हुआ कि पृथिवी व पार्थिव द्रव्यों में पत्थर आदि में शीतलता नैमित्तिक व्याख्यात हुई । उसी प्रकार अग्नि में उष्णता स्वाभाविक रूप से होने से जल में शीतलता के स्वभावतः होने से यह सिद्ध होता है कि वायु के स्पर्श से जो उष्णता होती है वह अग्नि की है, और वायु के स्पर्श से जो शीतलता होती है वह जल की है, जल के सम्पर्क से है । इस प्रकार वायु में शीतता व उष्णता क्रमभेद से उत्पन्न होती रहती हैं ॥५॥

पृथिव्यादीनामाकाशान्तानां भूतानां लक्षणान्युक्त्वा क्रमप्राप्तस्य कालस्य लक्षणानि विदधाति सूत्रकारः –

*अपरस्मिन् परं * युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥६॥*

(अपरस्मिन् परम्) अपरस्मिन् नवीने परं पुराणं नवीनमभिलक्ष्य पुराणमिति तूपलक्षणं सापेक्षत्वात्, तेन 'परस्मिन् - अपरम्' पुराणे नवीनं पुराणमभिलक्ष्य नवीनमिति कालस्य लिङ्गं लक्षणम् । कालमाधारं मत्वा कस्यापि पिण्डस्य घटस्य देहस्य वा नवीनत्वं पुराणत्वं च व्यपदिश्यते (युगपत्) युगपदुत्पद्यन्ते युगपद् गच्छन्ति युगपन्म्रियन्ते नश्यन्तीति समानप्रवृत्तेर्निमित्तं काल एव (चिरम्) चिरं कृतं चिरं जातं चिरमभूदिति व्यवहाराः सातत्येन वर्तमाने काले प्रयुज्यन्ते (क्षिप्रम्) क्षिप्रमागतं क्षिप्रं प्रवृतं क्षिप्रं फलितमित्यपि काले हि वस्तुगत्या व्यवह्रियन्ते, इत्येतानि कालस्य लक्षणानि ।

अथवा "अपरस्मिन्" पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते तत अपरोऽन्यार्थकः । "परं युगपत् चिरं क्षिप्रम्" अपरस्मिन्-अन्यस्मिन्, खल्वाश्रितं यत् परं च युगपत् च चिरं च क्षिप्रं च व्यवह्रियन्ते तत् काललक्षणम् । परं पुराणं तदपरमन्यं नवीनम्, युगपत्- क्रियाणाम्

सहभावस्तदपरमन्यमेकैकस्याः क्रियायाः क्रमेण प्रवर्तनं, चिरं विलम्बस्तदपरमन्यं सद्यः, क्षिप्रं त्वरं तदपरमन्यं विप्रकृष्टम्, एते सापेक्षव्यवहाराः काललक्षणानि।

यद्वा "युगपत् चिरं क्षिप्रम्" इति त्रयं प्रति 'अपरस्मिन् परम्' वचनमभिसम्बध्यते। तत्रापरोऽन्यार्थको भिन्नार्थको वा परोऽनन्यार्थकः। अपरस्मिन्नाश्रितमन्यमपेक्ष्यानन्यं 'युगपत्' इति क्रियाणां सहभावेन प्रवर्तनं वर्तमानत्वम्। चिरं – चिरन्तनं पुराणमित्यपरस्मिन्नन्यस्मिन्नाश्रितमन्यमपेक्ष्य भवति। क्षिप्रमप्यन्यं विलम्बमाश्रित्य भविष्यत्येवं कालत्रयव्यवहाराः कालस्य लक्षणानि। शङ्करमिश्रादिभिः सन्दिग्धार्थः कृतोऽन्यथा च व्याख्यातं सूत्रम्॥६॥

----

*बॉम्बे रॉयल आशियाटिक सोसायटी संज्ञक ग्रन्थ संग्रहालयस्य लिखित प्राचीनपुस्तके तु अपरस्मिन् परम् इति पाठ उपलभ्यते स एव समीचीन।

पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यंत भूतों का लक्षण कहकर क्रम प्राप्त "काल" का लक्षण विधान करते हैं सूत्रकार-

अपरस्मिन् परंयुगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि॥६॥

सूत्रार्थ:- पुराने की अपेक्षा नया, नए की अपेक्षा पुराना, किन्हीं दो क्रियाओं का एक साथ होना या अकेला होना, विलम्ब – शीघ्र आदि व्यवहार काल की सिद्धि करते हैं॥६॥

भाष्यार्थ:- *(अपरस्मिन परम्)* अपर में = नए में, पर = पुराना कथन नए के समक्ष पुराने को लेकर अपेक्षा से उपलक्षण = संकेत मात्र है। इससे पर में, अपर अर्थात् पुराने में नया, अर्थात् पुराने को सामने करके नया कथन करना यह काल का लक्षण है। काल को आधार मानकर किसी भी पिण्ड, घट या देह का नया या पुराना कहा जाना रूप व्यवहार होता है। *(युगपत्)* एक साथ उत्पन्न होते हैं, एक साथ जाते हैं, एक साथ मरते हैं, नष्ट होते हैं आदि समान प्रवृत्ति का निमित्त काल ही है। *(चिरम्)* देर से किया, देर से हुआ, देर हुई आदि व्यवहार सतत वर्त्तमान काल में प्रयुक्त होते हैं। *(क्षिप्रम्)* शीघ्र आया, शीघ्र घटित हुआ, शीघ्र पूर्ण हुआ आदि काल में ही वस्तु की गति के साथ व्यवहार में आते हैं, ये सब काल के लक्षण हैं।

अथवा सूत्र में आया 'अपरस्मिन्' पूर्व पद अगले 'परम्' आदि प्रत्येक के साथ एक बार जुड़ता है, उससे 'अपर' शब्द का अर्थ भिन्नता बोधक हो जाता है। अर्थात् सूत्र का स्वरूप हो गया – *अपरस्मिन् परं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि " अपरस्मिन्*

= अन्य में आश्रित जो पर, *युगपत* = एक साथ, विलम्ब व शीघ्र का व्यवहार है, वह काल का लक्षण है। *पर* = पुराना उसका *अपर* = अन्य = नया, *युगपत्* = क्रियाओं का साथ-साथ होना, उससे भिन्न एक-एक क्रिया का क्रमशः होना, *चिरं* = विलम्ब, उसका *अपर* = तत्काल, *क्षिप्र* = त्वरित = शीघ्र उसका अपर = अन्य विप्रकृष्ट= धीरे-धीरे, ये सापेक्ष व्यवहार काल के लक्षण हैं।

अथवा *"युगपत्, चिरं, क्षिप्रम्"* इन तीन शब्दों के साथ *"अपरस्मिन् परम्"* ये दोनों शब्द एक साथ जुड़ते हैं। (जैसे *अपरस्मिन् परं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति ...* ।) इस अवस्था में *अपरस्मिन् परं* शब्द अगले युगपत् आदि तीनों के विशेषण हो जाएँगे ।) उस अवस्था में 'अपर' शब्द अन्यार्थक = भिन्नार्थक और पर शब्द अनन्यार्थक स्वार्थक होगा । दूसरे में आश्रित, अन्य दूसरे की अपेक्षा से वही (परं =) अनन्य = स्वयं 'युगपत' दो या दो से अधिक क्रियाओं के साथ चलायमान वर्त्तमान । चिरं = चिरन्तनं = पुराना जो कि अन्य में आश्रित, अन्य की अपेक्षा से (पर) स्वयं होता है । क्षिप्र भी अन्य = विलम्ब के आश्रय पर = स्वयं होता है । इस प्रकार ये काल के व्यवहार से काल के लक्षण होते हैं। शंकरमिश्र आदि भाष्य कारों ने सूत्र की व्याख्या विपरीत कर दी है ॥६॥

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥७॥

(द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते) कालस्य द्रव्यत्वं नित्यत्वं च वायुना तुल्यं व्याख्यातं वेदितव्यम् । अद्रव्यवत्त्वेनान्यद्रव्यमिश्रणराहित्येन तथा क्रियावत्त्वेन गुणवत्त्वेन च विज्ञेयं कालस्य द्रव्यत्वम् । कालस्य क्रियावत्त्वमुत्पादनादिक्रियाव्यापाराश्रयत्वात् । उक्तं हि सूत्रकारेण कर्म प्रति कालस्य कारणत्वम् "कारणेन कालः" (वै. ५।२।२६) गुणस्तस्य पूर्वोक्तं परत्वादिलक्षणं विभुत्व च तस्मादेव नित्यत्वं च तस्य ॥७॥

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥७॥

सूत्रार्थः- काल का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के समान समझना चाहिए ॥७॥

भाष्यार्थः- *(द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते)* काल का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के समान व्याख्यात जान लेना चाहिए । अद्रव्यत्व के कारण = अन्य द्रव्य के मिश्रण से रहित होने के कारण तथा क्रियावाला होने से और गुणवाला होने से काल का द्रव्यत्व समझना चाहिए । उत्पादन आदि क्रियाओं के व्यापार से काल का क्रियावाला होना सिद्ध होता है। सूत्रकार ने कहा भी है कर्म के प्रति काल कारण होता है – *"कारणेन कालः" (वै. ५।२।२६)* कारणरूप में सम्बद्ध होने से काल भी वस्तु का कारण होता है ।

पहले कहे गए काल के परत्व- अपरत्व, विभुत्व आदि गुण हैं और उसी से काल का नित्यत्व भी सिद्ध होता है ॥७॥

तत्त्वं भावेन ॥८॥

(तत्त्वंभावेन) तस्य कालस्य स्वरूपैकत्वं भावेन सत्तया तुल्यं विज्ञेयम्, तस्य निरवयवत्वात् सर्ववस्तुष्वनुगतधर्मवत्त्वात् ॥८॥

तत्त्वं भावेन ॥८॥

सूत्रार्थ:- काल का स्वरूप एकपन सत्ता के तुल्य समझना चाहिए ॥८॥

भाष्यार्थ:- *(तत्त्वं भावेन)* उस काल का स्वरूप – एकत्व भाव = सत्ता के तुल्य जानना चाहिए । काल के निरवयव होने से और सभी वस्तुओं में विद्यमान धर्मवाला होने से ॥८॥

अन्यच्च –

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति ॥९॥

(नित्येषु – अभावात्) नित्येषु द्रव्येषु कालस्याधेयतया कार्यतया वाऽभावात्– यथा तन्तुषु पटो भवत्याधेयतया कार्यतया वा न तथा कालो नित्येषु विद्यते । नित्ये द्रव्ये यन्नित्यत्वं तदपि कालमपेक्ष्यैव भवति, कालो यावदवधिको नित्यद्रव्यमपि तावादवधिकं तस्मान्नित्येषु द्रव्येषु तन्न्यूनावधिकत्वेन कालस्याभावात् तथा भूतमेव कारणं कालः । पुनश्च (अनित्येषु भावात्) अनित्येषु द्रव्येषु कालस्य तदाधारतया कारणतया भावाद् घटादीनां निर्माणे स्थितौ नाशे च कालोऽपि कारणत्वं भजते हि । तेषामनित्यानां भूतवर्तमानभविष्यपथगामिनां कालः कारणमतः काल इति संज्ञा कारणपरा । अन्यभाष्यकारैः सूत्रं न सम्यग्व्याख्यातम् ॥९॥

और अन्य :-

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति ॥९॥

सूत्रार्थ:- नित्य द्रव्यों में कारणपन से, काल के अभाव होने से, अनित्य द्रव्यों में कारणपन ,काल की सत्ता होने से कारणों की सूची में काल का भी नाम है ॥९॥

भाष्यार्थ:- *(नित्येषु – अभावात्)* नित्य द्रव्यों में काल का आधेय रूप = कार्यरूप में न रहने से, जैसे कि तंतुओं में पट आधेय = कार्य रूप में रहता है वैसे काल नित्य द्रव्यों में नहीं रहता है । नित्य द्रव्यों में जो नित्यत्व है वह भी काल की अपेक्षा = आश्रय से ही

है, *(क्योंकि)* काल अवधिवाला होता है नित्य द्रव्य भी उतनी ही अवधिवाला होता है। नित्य द्रव्यों में न्यून अवधिवाले काल का अभाव होने से वैसा ही कारण काल है । पुनः *(अनित्येषु भावात्)* अनित्य द्रव्यों में काल का आधार – कारण रूप में होने से घट आदि के निर्माण, स्थिति और नाश में काल भी कारण बनाता ही है । उन भूत, वर्तमान, भविष्य मार्ग से जाने वाले अनित्यों का कारण काल बनाता ही है । इसलिए यह जो काल नाम है यह कारणवाची है । अन्य भाष्यकारों ने सूत्र की व्याख्या ठीक नहीं की । (विशेष ध्यातव्य →वस्तुतः मुनि जी का भाष्य गड़बड़ है । नित्यों में आधेय = कार्य रूप से न होने से अर्थापत्ति से कारण रूप से होने से काल कारणवाची है । यदि ऐसा है तो कार्य में कारणरूप होने से कार्य अनित्य होता है, पुनः कारण में कारणरूप होने से, नित्य अनित्य क्यों नहीं होता ? यदि कारण में नित्य द्रव्यों में काल रहने से भी वे नित्य हैं तो कार्य में भी काल रहने से वे नित्य क्यों नहीं? वस्तुतः सूत्रकार ने नित्यता का हेतु अद्रव्यत्व = असमवायित्व को बताया है काल को नहीं । इसलिए वस्तु के स्वरूप में सदा रहना और न रहना ही नित्यता अनित्यता है । काल उसका प्रमाण मात्र है ॥९॥

क्रमप्राप्ता दिक् –

इत इदमिति यतस्तद् दिश्यं लिङ्गम् ॥१०॥

(इतः - इदम्) इतः – अस्मात् – अपरस्मात् – अवरस्मात् खल्विदं परं दूरं यद्वा – इतः पूर्वस्मात् – इदं पश्चिमं दक्षिणमुत्तरं वेत्यादिकं निर्देशकृतं कल्पनं (यतः) यतो भवति तत् खलु (दिश्यं लिङ्गम्) दिशाया लक्षणम् ॥१०॥

क्रम प्राप्त दिशा का लक्षण बताएँगे-

इत इदमिति यतस्तद् दिश्यं लिङ्गम् ॥१०॥

सूत्रार्थ:- यह पदार्थ इस वस्तु से इस ओर है इस प्रकार का व्यवहार जिस तत्व के आधार से होता है; वह दिशा कहलाता है ॥१०॥

भाष्यार्थ:- *(इतः इदम्)* यहाँ से – इधर से, इस ओर से, इस स्थान से वहाँ, उधर, उस ओर, दूर तक अथवा इस पूर्व दिशा से यह पश्चिम, दक्षिण, उत्तर आदि जो निर्देश कृत कल्पना = बौद्धिक स्थापना = मानना है,*(यतः)* यह जिससे = जिस निमित्त से होती है, वह *(दिश्यं लिङ्गम्)* दिशा का लिङ्ग है ॥१०॥

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥११॥

(द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते) दिशो द्रव्यत्वं नित्यत्वं च वायुना तुल्यं व्याख्यातं वेदितव्यम् । अद्रव्यवत्त्वेनान्यद्रव्यमिश्रणराहित्येन क्रियावत्त्वेन क्रियाया आधारत्वेन – यथा श्येनः पूर्वस्या दिशः उड्डीय दक्षिणायां दिशि गतः, गुणवत्त्वेन च निर्देशवत्त्वेन विभुगुणवत्त्वेन च ॥११॥

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥११॥

सूत्रार्थः- दिशा का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के तुल्य समझना चाहिए ॥११॥

भाष्यार्थः-*(द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते)* दिशा का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के समान वर्णित जानना चाहिए, अन्य द्रव्य से रहित या अन्यद्रव्य के मिश्रण से रहित, क्रियायुक्त = क्रिया का आधारभूत, जैसे की वाज पूर्व दिशा से उड़कर दक्षिण दिशा में गया और गुणवाली होने से द्रव्यत्व कहा गया तथा वैसे ही विभु होने से नित्यत्व है । अतः दिशा एक द्रव्य विशेष है ॥११॥

तत्त्वं भावेन ॥१२॥

(तत्त्वं भावेन) तत्स्वरूपत्वमेकत्वं भावेन सत्तया व्याख्यातं विज्ञेयम् ॥१२॥

तत्त्वं भावेन ॥१२॥

सूत्रार्थः- दिशा का एकपना सत्ता के समान समझना चाहिए ॥१२॥

भाष्यार्थः- *(तत्त्वं भावेन)* दिशा का स्वरूप अर्थात् एक स्वतंत्र पदार्थ होना सत्ता के समान वर्णित समझना चाहिए ॥१२॥

कार्यविशेषेण नानात्वम् ॥१३॥

(कार्यविशेषेण नानात्वम्) दिश एकत्वेऽपि व्यवहारविशेषेण तस्या नानात्वमुपचर्यते ॥१३॥

कार्यविशेषेण नानात्वम् ॥१३॥

सूत्रार्थः- व्यवहार विशेष होने से दिशा का अनेकत्व है ॥१३॥

भाष्यार्थः- *(कार्यविशेषेण नानात्वम्)* दिशा के एक होने पर भी व्यवहार भेद के कारण इसको अनेक कहते हैं ॥१३॥

तत्कथमित्युच्यते –

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥१४॥

(आदित्यसंयोगाद् प्राची) सूर्यस्य संयोगात् खलु प्राची दिगुच्यते । कीदृशात् संयोगादित्युच्यते (भूतपूर्वात्) यः पूर्वो भूतस्तस्मात् प्रारम्भसृष्टितः परम्परया प्रवृत्तात् (भूतात्) वर्तमाने च सम्भूताद् वर्तमानकाले प्रवर्तमानात् (भविष्यतः – च) भविष्यत्काले चाप्रलयं प्रवर्तिष्यमाणादपि । यत्र दिग्भागे खलु प्रथमेन सूर्यसंयोगेन भवितव्यं स दिग्भागः प्राची दिक् ॥१४॥

वह व्यवहार भेद कैसा है, उसको बताते हैं -

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥१४॥

सूत्रार्थ:- पृथ्वी और सूर्य का आदि सृष्टि से लेकर आज तक और आगे भी संयोग जिस ओर हुआ, हो रहा है और होता रहेगा, वही प्राची = पूर्व दिशा कहलाती है ॥१४॥

भाष्यार्थ:- *(आदित्य - संयोगात् - प्राची)* पृथ्वी और सूर्य का प्रथम संयोग जिस ओर दिखाई देता है उसको प्राची = पूर्व दिशा कहते हैं । कैसा वह संयोग होता है, इस विषय में कहते हैं *(भूतपूर्वात्)* जो सर्वप्रथम संयोग हुआ, उससे पूर्व दिशा बनी । सृष्टि के आरंभ से परम्परा से प्रवृत्त रहने से अब तक वह पूर्व दिशा कहती आ रही है *(भूतात्)* वर्तमान में भी पृथ्वी – सूर्य संयोग प्रतिदिन उधर ही हो रहा है। इस वर्त्तमान घटना के कारण भी *(भविष्यतः च)* और आगे भी प्रलय काल तक ऐसा ही पृथ्वी- सूर्य दैनिक प्रथम संयोग होता हुआ दिखता रहेगा, अतः वह पूर्व दिशा कहलाती रहेगी । इस प्रकार दिशा के जिस भाग में प्रथम सूर्य- संयोग दिखता रहेगा; दिशा का वह भाग पूर्व दिशा कहलाती रहेगी ॥१४॥

तथा दक्षिणा प्रतीची * उदीची च ॥१५॥

(तथा) तथा च (दक्षिणा प्रतीची - उदीची) दक्षिणा सूर्यसंयोगं सम्मुखं लक्ष्यीकृत्य दक्षिणहस्तगता दिग् दक्षिणा, पृष्ठगता प्रतीची, वामहस्तगता खलूद्गता स्यादुदीची दिक् ॥१५॥

तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च ॥१५॥

सूत्रार्थ:- पूर्व दिशा की ओर मुख करके दायीं ओर दक्षिण दिशा, पीठ की ओर पश्चिम और वायीं ओर उत्तर दिशा कहलाती है ॥१५॥

भाष्यार्थ:- *(तथा)* और *(दक्षिणा-प्रतीची-उदीची)* उसी प्रकार से पृथ्वी- सूर्य संयोग को सामने रखते हुए दाएँ हाथ की ओर की दिशा दक्षिण, बाएं ओर की उत्तर, पीछे की ओर पश्चिम दिशा कहलाती है ॥१५॥

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥१६॥

(एतेन) 'प्राची' आदिदिङ्निर्णयेन (दिगन्तरालानि व्याख्यातानि) द्वयोर्द्वयोर्दिशोरन्तरालानि मध्यभूतानि कोणदिगन्तराणि पूर्वोत्तरादीनि नामकानि व्याख्यातानि विज्ञेयानि ॥१६॥

---

*। अत्रासन्देहार्थः सन्धेरभावः ।

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥१६॥

सूत्रार्थः- इन दिशाओं के पूर्वोक्त निर्णय से दो- दो दिशाओं के बीच वाले कोने भी एशानी आदि नाम से समझ लेना चाहिए ॥१६॥

भाष्यार्थः- *(एतेन)* इस पूर्व आदि दिशा निर्णय के अनुसार *(दिगन्त ... व्याख्यातानि)* दो-दो दिशाओं के मध्य गत कोणों वाली अन्य दिशाओं पूर्वोत्तरा आदि का व्याख्यान समझ लेना चाहिए ॥१६॥

एकविंशात् सूत्राच्छब्दं परीक्षमाण आचार्यः संशयमुत्थापयितुं पूर्वं संशयस्य स्वरूपं लक्षणं वा विधत्ते चतुर्भिः सूत्रे -

सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥१७॥

(सामान्यप्रत्यक्षाद्) समानधर्मप्रत्यक्षात् – यथा स्थाणुपुरुषयोरारोहपरिणाहरूपसमानधर्मस्य प्रत्यक्षात् (विशेषाप्रत्यक्षाद्) तयोरेकतरस्य स्थाणोः पर्णशाखादिकं पुरुषस्य वा शिरोहस्तादिकं भेदकं लिङ्गं प्रत्यक्षं न भवतीत्यतः (विशेषस्मृतेः – च) विशेषस्य भेदकधर्मस्य मनसि पुनः पुनर्जिज्ञासातः स्मरणात् (संशयः) संशयो भवति ॥१७॥

एकीसवें सूत्र से शब्द की परीक्षा करते हुए आचार्य संशय उठाने के लिए पूर्व संशय उठाने के लिए पूर्व संशय का स्वरूप या लक्षण चार सूत्रों के द्वारा विधान कर रहे हैं –

सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥१७॥

सूत्रार्थः- सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से विशेष धर्म का प्रत्यक्ष न होने से और जिज्ञासा पूर्वक विशेष धर्म का स्मरण करने से संशय उत्पन्न होता है ॥१७॥

भाष्यार्थः- *(सामान्य - प्रत्यक्षाद्)* समान धर्म के प्रत्यक्ष होने से, जैसे कि ठूंठ और पुरुष की ऊंचाई और मोटाई रूप समान धर्म के दिखने से *(विशेषाप्रत्यक्षात्)* उन दोनों में से

एक ठूंठ के पत्ते या शाखा न दिखने से या पुरुष के सिर, हाथ आदि भेदक चिन्हों के न दिखने से *(विशेष स्मृतेः च)* और विशेष धर्मभेद का संस्कार मन में होने से पुनः जिज्ञासा और स्मृति उठ जाने से *(संशयः)* संशय होने लगता है (कि यह ठूंठ है या कोई पुरुष ?) ॥१७॥

तद्भेदाश्च –

दृष्टं च दृष्टवत् ॥१८॥

(दृष्टं च दृष्टवत्)'दृष्टवत्' शब्दस्तुल्यार्थकवत्प्रत्ययान्तो यद्वा मतुप्प्रत्ययान्तः । उभयथाऽपि व्याख्यातुं युक्तः । पुरोवर्तिनि वस्तुनि दृष्टमुपलब्धं लिङ्गमूर्ध्वत्वं दृष्टवद् दृष्टयोः पूर्वदृष्टयोः प्रत्यक्षीकृतयोः स्थाणुपुरुषयोरिवास्ति तस्मात् संशयः । यद्वा पुरोवर्ति दृष्टं स्थाणुपुरुषविधं वस्तु दृष्टवत् खल्वारोहपरिणाहदृष्टलिङ्गयुक्तमस्ति तस्मात् संशयः, इति तूभयत्र समानधर्मदर्शनाद् यद्वैकधर्मदर्शनात् संशयः । अनेकाधिकरणविषयकः संशयः ॥१८॥

उसके भेद बताते हैं-

दृष्टं च दृष्टवत् ॥१८॥

सूत्रार्थः- वर्तमान में दिखने वाले धर्म पूर्व देखे धर्म के समान होने से संशय को उत्पन्न करता है ॥१८॥

भाष्यार्थः- *(दृष्टं च दृष्टवत्)'* सूत्र में 'दृष्टवत्' शब्द तुल्य = समान अर्थवाला 'वत्' प्रत्ययान्त है अथवा 'मतुप्' प्रत्ययान्त है । दोनों ही प्रकारों से व्याख्या की जा सकती है । सामने वाली वस्तु में उपलब्ध लिङ्ग ऊर्ध्व = ऊंचाई देखे हुए के समान है अर्थात् पहले देखे हुए, प्रत्यक्षभूत दोनों के = ठूंठ और पुरुष के समान है, उससे संशय हो रहा है अथवा सामने दिखाने वाली वस्तु ठूंठ या पुरुष के समान है, देखे हुए ऊँचाई, मोटाई लक्षण वाला है, उससे संशय होता है । इस प्रकार दोनों में समान धर्म अथवा एक धर्म दिखाई देने से संशय उत्पन्न होता है अर्थात् संशय अनेक अधिकरण विषयक होता है = एक ही वस्तु के कारण नहीं होता है ॥१८॥

यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥१९॥

(यथादृष्टम्) यथालिङ्गयुक्तं यल्लिङ्गयुक्तं वस्तु देवदत्तः सकेशोऽकेशो वा पूर्वो दृष्टः (अयथा दृष्टत्वात् -च) तस्य यथादृष्टत्वाभावादर्थात् कालान्तरे स एव छिन्नकेशः सकेशो वा दृष्टश्चेत् तर्हि संशयो भवति स एव देवदत्तोऽन्यो वेति धर्मिणि संशयः । यद्वा

स आवृतशिराः पूर्ववत् सकेशोऽकेशो वेति धर्मे संशयः, खल्वेकत्रैव संशयसूचकं सूत्रम् ॥१९॥

यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥१९॥

सूत्रार्थ:- जैसा पहले देखा था; वर्तमान में वैसा न दिखाई देने से संशय उत्पन्न होता है ॥१९॥

भाष्यार्थ:- *(यथा दृष्टम्)* जैसी लक्षणवाली या जिस लक्षणवाली वस्तु अर्थात् देवदत्त केश युक्त या केश रहित पहले दिखाई दिया *(अयथा दृष्टत्वाच्च)* उसके पूर्ववत् दर्शन न होने से अर्थात् कालान्तर वही कटा केश या बड़े-बड़े केश वाला दिखाई दिया तब संशय उत्पन्न हुआ कि यह वही देवदत्त है या अन्य है, इस प्रकार धर्मी में संशय हुआ अथवा उसने सिर ढक रखा था तब इसके केश हैं या नहीं, यह धर्म में संशय हो ही गया। यहाँ एक ही अर्थ में धर्म – धर्मी भेद से संशय की उत्पत्ति दिखाई ॥१९॥

विद्याऽविद्यातश्च संशयः ॥२०॥

(विद्याऽविद्यातः – च संशयः) विद्या ज्ञानमुपलब्धिः, अविद्याऽज्ञानमनुपलब्धिस्ताभ्यां ज्ञानाज्ञानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यामपि भवति संशयः । यथा – सति मेंघे वृष्टिर्भवतीति ज्ञानम्, अथ च कदाचित् सति मेघेऽपि वृष्टिर्न भवतीति तद्विरुद्धं भानम् । पुनरागते मेंघे वृष्टिर्भविष्यति न वा भविष्यतीति संशयः । धूमोऽग्नेर्जायते-इति ज्ञानं तद्विपरीतं जलशयादप्युत्तिष्ठति धूमो वाष्परूपः । धूममकस्माद् दृष्ट्वा संशयो भवति धूम एषोऽग्नेर्न वा । नद्यां जलस्योपलब्धिर्भवति मृगमरीचिकायां जलस्यानुपलब्धिर्भवति । कदाचिद् दूरतो दृश्यमाने प्रवाहे संशयो भवति जलनदीप्रवाहो यद्वा मृगमरीचिप्रवाहः । इत्येष संशयः खल्वान्तरिकस्तद्भेदार्थ एव पुनः संशयशब्दः सूत्रे ॥२०॥

विद्याऽविद्यातश्च संशयः ॥२०॥

सूत्रार्थ:- उपलब्धि और अनुपलब्धि से भी संशय होता है ॥२०॥

भाष्यार्थ:- *(विद्याऽविद्यातः – च संशयः)* विद्या = ज्ञानम् = उपलब्धिः पर्यायवाची है। अविद्या = अज्ञानम् = अनुपलब्धिः पर्यायवाची हैं। उन दोनों ज्ञान और अज्ञान के द्वारा भी संशय होता है। जैसे कि मेघ होने पर वृष्टि होती है, यह ज्ञान हुआ और कभी मेघ होने पर भी वृष्टि नहीं हुई तो विरुद्ध ज्ञान उत्पन्न हो गया। अब मेघ आने पर संशय होने लगा कि इस बार वृष्टि होगी या नहीं? अग्नि से धुआँ उत्पन्न होता है यह ज्ञान होता है इसके विपरीत जलाशय में वाष्परूप में धुआँ उठता है। अकस्मात् धुएँ को

देखकर संशय होता है कि यह धुआँ है या नहीं ? नदी में जल की उपलब्धि = प्रतीति वस्तुतः होती है और मृगमरीचिका में जल की अवास्तविक प्रतीति होती है, इस कारण से कभी दूर में प्रवाह जैसा देखकर संशय होता है कि यह नदी के जल का प्रवाह है या मृगमरीचिका का। यह संशयः आंतरिक है और पिछले दोनों सूत्रों में कथित बाह्य है। इस प्रकार भेद को बताने के लिए सूत्र में पुनः संशय शब्द को पढ़ा ॥२०॥

परीक्षाप्रसङ्गस्य मुखं संशयं परिभाष्य यद्विषयः खलु संशयः प्रवर्तिष्यते स शब्दः स्वरूपत उपस्थाप्यते –

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः ॥२१॥

(श्रोत्रग्रहणः) श्रोत्रेन्द्रियं ग्रहणसाधनं यस्य तथाभूतः (यः - अर्थः स शब्दः) यः खलु विषयः स शब्दः सर्वतन्त्रप्रसिद्ध उच्यते ॥२१॥

परीक्षा प्रसंग का मुख्य विषय संशय को परिभाषित करके जिस विषय में संशय उठाया जाएगा, वह शब्द स्वरूपत: बताते हैं-

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः ॥२१॥

सूत्रार्थ:- कान से ग्रहण किया जाने वाला जो विषय है वह शब्द है ॥२१॥

भाष्यार्थ:- *(श्रोत्रग्रहणः)* कर्ण इन्द्रिय ग्रहण का साधन है जिसका, *(यः - अर्थः स शब्दः)* उस प्रकार का जो विषय है, वह शब्द है और सब शास्त्रों में स्वीकृत कहा जाता है ॥२१॥

तत्र संशयः –

तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् ॥२२॥

(तुल्यजातीयेषु) शब्दः श्रोत्रेण ग्राह्यः, श्रोत्रं हीन्द्रियं तत्रेन्द्रियग्राह्येषु तुल्यजातीयेषु रूपादिषु गुणेषु (अर्थान्तरभूतेषु) तद्भिन्नेषु द्रव्यकर्मसु (विशेषस्य - उभयथा दृष्टत्वात्) शब्दविषयकविशेषधर्मस्योभयप्रकारेण दृष्टत्वाद् यद्वा सन्धावकारस्य लुप्तरूपतया – अदृष्टत्वात् खलु शब्दे संशयः। शब्दे विशेषधर्मः संयोगजत्वं तुल्यजातीयेष्विन्द्रियैर्ग्राह्येषु रूपादिषु गुणेषु तद्भिन्नेषु द्रव्यकर्मसु च दृश्यते तस्मात् संशयः शब्दो गुणो वा द्रव्यं वा कर्म वा। अथवा तत्रोभयप्रकारेण कोटिद्वयप्रकारेण न क्वपि दृश्यते विशेषधर्मो विभागजत्वम्, शब्दं विहाय न गुणेषु न द्रव्यकर्मसु दृश्यते तस्मात् संशयः। पुनश्चास्य विशेषधर्मः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वं तन्न द्रव्ये नान्यगुणे न कर्मणि तस्मात् संशयः। यद्वा शब्दे विशेषधर्मस्योभयकोटिगतस्य तुल्यजातीयगुणलक्षणस्य

द्रव्याश्रयित्वस्यातुल्यजातीयद्रव्यगतलक्षणस्य समवायित्वस्य क्रियागुणवत्त्वस्य तथा चातुल्यजातीयकर्मणश्च कार्यविरोधित्वस्य लक्षणस्यादृष्टत्वात् संशयः । शङ्करमिश्रेण सूत्रं न सम्यग्व्याख्यातम् ॥२२॥

अब उस शब्द में संशय होता है –

तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् ॥२२॥

सूत्रार्थः- तुल्य जाति वाले (गुणों में) और अतुल्य जाति वाले (द्रव्य कर्म) में शब्द का विशेष धर्म होना (संयोगजत्व) एवं न होना (श्रोत्र ग्राह्यत्व) देखा जाने से सब संशय है, वह द्रव्य है, गुण है, कर्म है ॥२२॥

भाष्यार्थ- *(तुल्यजातीयेषु)* शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होता है और श्रोत्र (नेत्रादि) के समान एक इन्द्रिय है, इस स्थिति में अर्थात् इन्द्रियग्राह्य तुल्यजातीय रूप आदि गुणों में *(अर्थान्तर भूतेषु)* तथा गुणों से भिन्न द्रव्य और कर्म में *(विशेषस्य – उभयथा दृष्टत्वात्)* शब्द विषयक विशेष धर्म का दोनों प्रकार का देखा जाने से अथवा *'उभयथादृष्टत्वात्* में उभयथा + अ दृष्टत्वात्' इस प्रकार सन्धि में अकार लुप्त होने से उसको मानकर चले तो *"उभयथा अदृष्टत्वात्"* अर्थात् शब्द के विशेष गुणों का दोनों प्रकार का नहीं देखा जाने से संशय होता है । शब्द में एक विशेष है 'संयोग से उत्पत्ति' जो समान जातीय नेत्रादि इन्द्रिय ग्राह्य रूप आदि विषयों और उनसे भिन्न शब्द के असमान जातीय द्रव्यों तथा कर्मों में भी पायी जाती है। अतः संशय होता है कि शब्द गुण है, द्रव्य है या कर्म है?

अथवा दोनों प्रकार से, प्रकार के दोनों भेदों से = सजातीयता गुणों में या विजातीयता द्रव्य, कर्मों में, कहीं भी विभाग से उत्पन्न होना धर्म जो कि शब्द में होता है । नहीं पाया जाता है । शब्द को छोड़कर विभाग जन्यता न गुणों में देखी जाती है, न द्रव्यों में, अतः संशय होता है कि शब्द गुण है, द्रव्य है या कर्म है? पुनः शब्द का तीसरा विशेष धर्म है श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होना । यह न तो द्रव्य में है, न गुण में, न कर्म में, अतः संशय होता है ।

अथवा शब्द में विशेष धर्म के, दोनों प्रकारों के समान जातीय गुण लक्षण वालों के, द्रव्य के आश्रित रहनेवालों के व विजातीय द्रव्यगत लक्षणवालों : समवायी लक्षणों वाले, क्रिया व गुणों वाले के तथा विजातीय कर्म के कार्य के विरोधिभाव वाले लक्षण के न देखे जाने से संशय होता है । शंकरमिश्र ने सूत्र कि व्याख्या ठीक नहीं की ॥२२॥

तत्र निर्णयप्रकारः –

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥२३॥

(एकद्रव्यत्वात् - न द्रव्यम्) शब्दस्यैकद्रव्यत्वादेकद्रव्याश्रयित्वादेकद्रव्यसमवायिकारणकत्वात्, शब्दो ह्येकस्मिन् द्रव्ये किलाकाशे समवैति साधितं हि पूर्वम् "परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य" तस्मात् स न द्रव्यम्, द्रव्यं कार्यद्रव्यं नैके द्रव्ये समवैति किन्त्वनेकेषु, यथा वस्त्रं नैकं तन्तुं समवैति न ह्येकस्मात् तन्तोर्वस्त्रं सम्पद्यते बहुभ्य एव सम्पद्यते ॥२३॥

उस विषय में निर्णय कर रहे हैं-

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥२३॥

सूत्रार्थ:- एक द्रव्य पर आश्रित होने से शब्द कार्य द्रव्य नहीं है ॥२३॥

भाष्यार्थ:- *(एकद्रव्यत्वात् - न द्रव्यम्)* शब्द के एक द्रव्यवर्ती, एक द्रव्य का आश्रय लेने वाला, शब्द का समवायिकारण एक द्रव्य होने से अर्थात् शब्द एक द्रव्य आकाश में समवेत = सम्बद्ध रहता है, जैसा कि पूर्व सिद्ध किया *"परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य"* परिशेष न्याय से शब्द आकाश का लिङ्ग है, इसलिए वह द्रव्य नहीं है। द्रव्य = कार्यद्रव्य एक द्रव्य में समवेत नहीं रहता अपितु अनेक द्रव्य में समवेत रहता है, जैसे वस्त्र एक तन्तु में समवेत नहीं होता, एक तन्तु से वस्त्र नहीं बनता, अपितु अनेक तन्तुओं से ही बनता है ॥२३॥

नन्वेकद्रव्यं कर्म भवति किं कर्म स्याच्छब्दः । उच्यते –

नापि कर्माचाक्षुषत्वात् प्रत्ययस्य ॥२४॥

(न - अपि कर्म) न च शब्दः कर्म, यद्यपि कर्मभवत्येकद्रव्यसमवायिकं परन्तु शब्द एकद्रव्यकः सन्नपि कर्म नास्ति (प्रत्ययस्य – अचाक्षुषत्वात्) शब्दप्रत्ययस्य शब्दप्राप्तेरचाक्षुषत्वात्, शब्दप्राप्तिस्तु श्रोत्रेन्द्रियेण भवति, उक्तं हि "श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः" (वै. २।२।२१) कर्म तु साक्षाच्चक्षुषा दृश्यते । तस्माच्छब्दो न कर्म । अथवा 'अपि' हेतुसमुच्चयार्थः । शब्दः कर्म न तत्प्राप्तेरचाक्षुषत्वात्, कर्म चाक्षुषं तथा तद्विरुद्धधर्मकं च तस्मादचाक्षुषत्वात्तद्विरुद्धधर्मकत्वादपि, शब्दस्य तद्विरुद्धधर्मश्च शब्दाच्छब्द उत्पद्यते स चेत् कर्म स्यात् तदा "कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते" (वै. १।१।११) इति विरोधः स्यात् । अथापि शब्दः खलु संयोगजो विभागजश्च पुनः संयोगो विभागजश्च कर्मजः, इत्यपि वैपरीत्यमापद्यते तस्मादपि शब्दो न कर्म । अतः परिशेषाच्छब्दो गुणोऽस्ति ॥२४॥

अच्छा ! तो एक ही द्रव्य के आश्रित कर्म रहता है, तो क्या शब्द कर्म हो सकता है । कहते हैं-

नापि कर्माचाक्षुषत्वात् प्रत्ययस्य ॥२४॥

सूत्रार्थः- शब्द कर्म नहीं है क्योंकि शब्द का ज्ञान नेत्र से नहीं होता और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है जब की कर्म से कर्म की उत्पत्ति नहीं होती है ॥२४॥

भाष्यार्थः- *(न अपि कर्म)* और शब्द कर्म भी नहीं है । यद्यपि कर्म एक समवायी वाला होता है परन्तु शब्द एक समवायी वाला = एक द्रव्यस्थ होता हुआ भी कर्म नहीं है । *(प्रत्ययस्य – अचाक्षुषत्वात्)* शब्द प्रतीति का = शब्द के ग्रहण का चाक्षुष न होने से। शब्द की प्राप्ति तो क र्णे न्द्रिय से होती है । कहा भी है *"श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः" (वै. २/२/२१)* । जिसका श्रोत्र = कर्ण से ग्रहण होता है वह शब्द है, परन्तु कर्म तो श्रोत्र से नहीं अपितु नेत्र से ग्रहीत होता है । इसलिए शब्द कर्म नहीं है अथवा सूत्र में पठित 'हेतु' शब्द अन्यार्थ संग्रह के लिए है । शब्द कर्म नहीं है, उसकी प्राप्ति चक्षु से नहीं होने से, कर्म चक्षु से प्राप्त = ज्ञात होता है तथा शब्द से विरुद्ध धर्मवाला भी है, इसलिए अचाक्षुष होने से, कर्म के विरुद्ध धर्मवाला होने से शब्द कर्म नहीं है, शब्द का कर्म से विरुद्ध धर्म यह है कि शब्द शब्द से उत्पन्न होता है, (जबकि कर्म-कर्म से उत्पन्न नहीं होता है ।) यदि शब्द कर्म होता तो *"कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते" (वै. १/१/११)* "कर्म-कर्म साध्य नहीं होता है" पीछे के इस कथन से विरोध उत्पन्न होगा । वैसे भी; संयोग से और विभाग से उत्पन्न होनेवाला होता है और स्वयं संयोग तथा विभाग कर्म से उत्पन्न होता है, यह विपरीत भाव उत्पन्न होता है, इसलिए भी शब्द कर्म नहीं है । अब परिशेष न्याय से सिद्ध हुआ कि शब्द गुण है ॥२४॥

तस्य खलु –

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥२५॥

(गुणस्य सतः - अपवर्गः) शब्दो गुणोऽस्तीति सिद्धं तथापि तस्य योऽपवर्ग आशुविनाशः सद्योविनाश इति वृत्तम् (कर्मभिः साधर्म्यम्) कर्मभिः सह साधर्म्यमस्ति शब्दोऽन्यगुणसदृशः स्थायी न, कर्मसदृशोऽस्थायीति कर्मभिः सह साधर्म्यमेतस्य ॥२५॥

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥२५॥

सूत्रार्थः- विद्यमान शब्द के गुण होते हुए भी शीघ्र नष्ट हो जाना यह कर्मों के साथ साधर्म्य है ॥२५॥

भाष्यार्थः- *(गुणस्य सतः - अपवर्गः)* शब्द गुण है, यह सिद्ध हो गया, इस गुण सिद्धि के हो जाने पर भी शब्द का जो अपवर्ग = शीघ्र नाश वाला व्यवहार है *(कर्मभिः साधर्म्यम्)* यह उस शब्द का कर्म के साथ संरूपता है। शब्द अन्य गुणों की तरह स्थायी नहीं है, परन्तु कर्म की तरह अस्थायी है, यह कर्म के साथ उसकी समान धर्मता है ॥२५॥

शब्दस्यापवर्ग आशुविनाश उच्यते स कथं गुणस्य तु रूपादिवद् यावद्द्रव्यभावित्वाद् विनाशेन न भवितव्यं स्थिरत्वेनैव भाव्यम् । अत्रोच्यते –

सतो लिङ्गाभावात् ॥२६॥

(सतः - लिङ्गाभावात्) 'श्रोत्रेन्द्रियेण ग्राह्यः शब्दः' इत्युक्तम् । उच्चारणकाले ताडनकाले च सन् शब्दः श्रोत्रेण श्रूयते किन्तूच्चारणात् ताडनाच्च प्रागूर्ध्वं वा श्रवणान्न श्रूयते तस्याविद्यमानत्वान्नष्टत्वाच्च । यदि खलूच्चारणात् ताडनात् प्रागूर्ध्वं च शब्दोऽस्तीति तस्य सतो विद्यमानस्य लिङ्गं लिङ्ग्यते येन तत्प्रमाणं श्रोत्रगोचरत्वं भवेत्, न चास्ति लिङ्गं प्रमाणं श्रोत्रगोचरत्वं प्रत्यक्षं प्रमाणमनुमानं वा । न हि उच्चारणात् ताडनाद्वा प्रागूर्ध्वं च श्रवणाच्छ्रोत्रेण प्रत्यक्षं श्रूयते नानुमीयते ॥२६॥

शब्द का अपवर्ग=आशु विनाश= शीघ्र विनाश कहा, वह कैसे गुण का रूपादि के तुल्य अर्थात् जब तक द्रव्य है तब तक गुण का विनाश नहीं होना चाहिए स्थिर ही होना चाहिए, उस विषय में कहते हैं-

सतो लिङ्गाभावात् ॥२६॥

सूत्रार्थः- उच्चारण से पूर्व और श्रवण के पश्चात शब्द के विद्यमान होने का प्रमाण न होने से शब्द अनित्य है ॥२६॥

भाष्यार्थः- *(सतः - लिङ्गाभावात्)* 'श्रोत्रेन्द्रियेण ग्राह्यः शब्दः' शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होता है यह कह दिया । उच्चारण के समय और ताली आदि पीटते समय विद्यमान शब्द श्रोत्र से सुनाई देता है किन्तु उच्चारण व ताड़न के पूर्व और पश्चात् श्रोत्रन्द्रिय से नहीं सुनाई देता है, उस शब्द के अविद्यमान होने और उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने से । यदि उच्चारण व ताड़न से पूर्व और पश्चात् शब्द है तो होते हुए विद्यमान का लक्षण = जिससे जाना जाता है, पता चलता है, जिससे उपलब्ध होता है वह प्रमाण = श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होना चाहिए । किन्तु ऐसा कोई लिङ्ग = प्रमाण = श्रोत्र गोचरत्व = कर्ण से ग्राह्यता रूप प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुमान नहीं है। ताड़न अथवा उच्चारण से पूर्व और पश्चात् श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द प्रत्यक्ष नहीं सुनाई देता, न अनुमान से ज्ञात होता है ॥२६॥

पुनश्च –

नित्यवैधर्म्यात् ॥२७॥

(नित्यवैधर्म्यात्) नित्यस्य धर्मवैपरीत्यात्, नित्यस्य धर्मः स्वग्रहण साधनेन करणेन नित्यं निरन्तरं ग्रहणं प्राप्तिः, शब्दस्तु स्वग्रहणसाधनेन न नित्यं निरन्तरं गृह्यतेऽथ च नित्यं वस्तु नोत्पद्यते न विनश्यति शब्दो न तथा ॥२७॥

नित्यवैधर्म्यात् ॥२७॥

सूत्रार्थ:- नित्य पदार्थों के साथ वैधर्म्य होने से शब्द अनित्य है ॥२७॥

भाष्यार्थ:- *(नित्यवैधर्म्यात्)* नित्य पदार्थ के धर्म के विपरीत धर्म रखने से । नित्य का धर्म है अपने ग्रहण साधन = करण के द्वारा निरन्तर गृहीत = प्राप्त होते रहना होता है । परन्तु शब्द अपने ग्रहण – साधन से नित्य = निरन्तर गृहीत नहीं होता है और नित्य वस्तु न तो उत्पन्न होती है, न नष्ट होती है, जबकि शब्द वैसा नहीं है ॥२७॥

अपितु –

अनित्यश्चायं कारणतः ॥२८॥

(अनित्यः - च - अयं कारणतः) शब्दः खलु न भूत्वा भवति, यो हि नित्यो भवति न तथा स भवति, स तु सर्वदा भवति हि । शब्दोऽभूत्वापूर्वतो न भवन् पश्चाद् भवति कारणतश्च खलूच्चारणाद् भेरीदण्डादिताडनाद्वा । तस्माच्छब्दो न पूर्वतो विद्यमानोऽस्ति किन्तु स त्वनित्यः ॥२८॥

अपितु-

अनित्यश्चायं कारणतः ॥२८॥

सूत्रार्थ:- उच्चारण आदि कारणों से उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्य है, नित्य नहीं ॥२८॥

भाष्यार्थ:- *(अनित्यः - च - अयं कारणतः)* शब्द प्रथम न होकर पुनः होता है । जो नित्य होता है, वह वैसा नहीं होता, वह तो सर्वदा रहता है । शब्द पहले न होकर पश्चात् होता है, उच्चारण, भेरी - दण्ड आदि ताड़न रूप कारणों से उत्पन्न होता है । इसलिए शब्द पूर्वतः विद्यमान नहीं होता, किन्तु वह अनित्य होता है ॥२८॥

न चासिद्धं विकारात् ॥२९॥

(न च- असिद्धम्) कारणतः शब्दस्य कार्यत्वं न खल्वसिद्धं किन्तु कारणात् तस्य कार्यत्वं सिद्धमेव (विकारात्) विकारधर्मत्वात् कार्यस्य । शब्दो विक्रियते विकारमापद्यते घटादिवत्, यथाघटपटादिः कार्यं वस्तु शनैः शनैर्विकारमापद्यमानः क्रमेंण नैर्बल्यं जीर्णत्वं प्राप्नुवन् सन् विनष्टो भवति तथैव शब्दोऽपि तीव्रतमत्वंतीव्रतरत्वं तीव्रत्वं मन्दत्वंमन्दतरत्वंमन्दतमत्वं विकारमापद्यमानः क्रमेंण नैर्बल्यं प्राप्नुवन् विनष्टो भवति ॥२९॥

न चासिद्धं विकारात् ॥२९॥

सूत्रार्थ:- शब्द कारण से उत्पन्न होता है यह बात असिद्ध न,हीं शब्द में विकार (तीव्रता-मंदता) होने से ॥२९॥

भाष्यार्थ:- *(न च- असिद्धम्)* कारण से शब्द का कार्यत्व असिद्ध नहीं है, किन्तु कारण से उसका कार्यत्व सिद्ध ही है *(विकारात्)* कार्य का विकार धर्मवाला होने से । शब्द विकारित होता है = विकार को प्राप्त होता है, घट आदि के समान । जैसे घड़ा, वस्त्र आदि कार्य वस्तु शनैः-शनैः विकार को प्राप्त होते हुए क्रमशः निर्बलता, जीर्णता को प्राप्त होते हुए विनष्ट हो जाते हैं, वैसे ही शब्द भी तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र होकर मन्द, मन्दतर, मन्दतम विकार भाव को प्राप्त होकर क्रमशः निर्बलता को प्राप्तकर नष्ट हो जाता है ॥२९॥

शब्दः कारणतः कार्यरूपेणोत्पद्यतेऽत एव तीव्रत्वंमन्दत्वं विकारमापद्यमानो विनष्टो भवतीति न, किन्तु स खलु स्थितः सन् व्यञ्जकादभिव्यज्यते प्रदीपेन व्यञ्जकेन स्थिरघटादिवत् सोऽभिव्यक्तः सन्नेव शब्दस्तीव्रत्वं मन्दत्वमापद्यते, इति चेदुच्यते तर्हि –

अभिव्यक्तौ दोषात् ॥३०॥

(अभिव्यक्तौ दोषात्) अभिव्यज्यते शब्दः स्थितः सन् व्यञ्जकेनेति मन्तव्ये दोषोऽस्ति, दोषात् – दोषहेतोर्मतमेतन्न युक्तमित्यत्राकांक्षा नकारस्य सूत्रे । घटपटादयः पदार्थाः स्वस्वरूपसंख्याकारपरिमाणैः सह पूर्वतः स्थिताः सन्तः खल्वेकेन प्रदीपकेन समानदेशे समानेन्द्रियेण नेत्रेणाभिव्यज्यन्ते न च तथा शब्दः, भेरीदण्डाभिघातेन कल्पितव्यञ्जकेन न सर्वे शब्दा अभिव्यञ्जन्ते श्रोत्रेण श्रूयन्ते वा एवमेकस्य मनुष्यस्योच्चारणप्रयत्नेन कल्पितव्यञ्जकेनैकवर्णाभिव्यक्तौ सर्वे ककारादयो वर्णा अभिव्यज्येरन् श्रूयेरंश्चेति न चाभिव्यज्यन्ते, इति दोषः । अथ चाभिव्यक्तौ शब्दस्य व्यञ्जकेन भेरीशब्देन तन्त्रीशब्दो नाभिभूयेत व्यञ्जकेन प्रदीपेन तु यथास्वं यथास्थलं घटः पटो बिल्वमामलकमभिव्यज्यते हि तत्र नैकेनान्यस्याभिभवो भवति सोऽपि दोषः शब्दस्याभिव्यक्तौ । अपरञ्च

कल्पितव्यञ्जकेन शब्दस्याभिव्यक्तौ व्यञ्जकसमानदेशकालयोरेव शब्दः श्रूयेत प्रदीपेन व्यञ्जकेन समानदेशकालयोर्घटपटादिदर्शनवत्, न च तथा शब्दोपलब्धिर्भवति, दारुव्रश्चनदेशकालाभ्यामन्यत्र देशे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते तथा दारुपरशुसंयोगकालानन्तरं हि श्रूयते शब्दः । तस्मादभिव्यक्तौ दोषान्मतं नैतत्सम्यक् ॥३०॥

शब्द कारण से कार्यरूप में उत्पन्न होता है, अत: तीव्रत्व मंदत्व विकार को प्राप्त होता हुआ नष्ट होता है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु शब्द स्थित होता हुआ व्यंजक से प्रकट होता है, जैसे प्रदीप=व्यंजक से स्थिर घट, पट आदि प्रकट के समान । वैसे ही शब्द अभिव्यक्त होता हुआ तीव्र मंदत्व को प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं तो-

अभिव्यक्तौ दोषात् ॥३०॥

सूत्रार्थ:- शब्द की अभिव्यक्ति मानने से दोष होने के कारण शब्द अनित्य है ॥३०॥

भाष्यार्थ:- *(अभिव्यक्तौ दोषात्)* अभिव्यक्त होता है शब्द; स्थित होता हुआ अपने अभिव्यञ्जक से, इस मान्यता में दोष है । दोष के कारण = दोषयुक्त होने से यह मत ठीक नहीं है, इस प्रकार सूत्र में 'नकार' की अपेक्षा दिखाई देती है (अतः उसका अध्याहार कर लेना चाहिए ।) घट – पट आदि पदार्थ अपने स्वरूप संख्या, आकार, परिमाण आदि के साथ पूर्वतः वर्त्तमान होते हुए एक प्रदीप से ही समान देश में स्थित होने पर समान इन्द्रिय नेत्र से अभिव्यक्त हो जाते हैं, परन्तु शब्द ऐसा नहीं है, नगाड़े पर दण्डे की चोट रूप कल्पित व्यञ्जक से सारे शब्द अभिव्यक्त नहीं होते हैं या श्रोत्र से एक साथ सारे शब्द सुनाई नहीं देते हैं । इस प्रकार एक मनुष्य के उच्चारण प्रयत्न से = कल्पित व्यञ्जक से एक वर्ण की अभिव्यक्ति होने पर ककार आदि सभी वर्ण अभिव्यक्त हो जाने चाहिए और सुनाई देने चाहिए । परंतु अभिव्यक्त नहीं होते हैं, यह दोष है । इसके अतिरिकत शब्द के अभिव्यक्त होने पर व्यञ्जक भेरी शब्द से वीणा को शब्द अभिभूत नहीं होना चाहिए, क्योंकि व्यञ्जक दीपक से अपने रूप में, अपने-अपने स्थान में अवस्थित घट, पट, बिल्व, आमला आदि एक साथ अभिव्यक्त होते ही हैं, वहाँ एक के द्वारा दूसरा तो अभिभूत होता नहीं तथा दबता नहीं है, यहाँ एक शब्द दूसरा शब्द दब जाता है, यह दोष आता है अभिव्यक्ति मानने पर । दूसरी बात है कल्पित व्यञ्जक से शब्द की अभिव्यक्त, जिस देश व काल में व्यञ्जक अवस्थित है, उसी देश व काल में शब्द को भी अभिव्यक्त होना चाहिए था = सुनाई देना चाहिए था, परन्तु वैसा नहीं होता है, लकड़ी फाड़ने के देश, काल से अन्यत्र = दूर में भी सुनाई देता है । वैसे ही

लकड़ी और कुल्हाड़े के संयोग काल के पश्चात ही शब्द सुनाई देता है । इसलिए शब्द की अभिव्यक्ति में दोष आने से यह मान्यता उचित नहीं है ॥३०॥

शब्दस्याभिव्यक्तौ दोषोऽस्तीति हेतोः –

संयोगाद् विभागात्शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ॥३१॥

*(संयोगात्) भेरीदण्डयोराभिघातरूपात्, तथोभयहस्तताडनरूपादथ च वायुताडनपूर्वकजिह्वाकण्ठादिप्रघातरूपात् संयोगात् (विभागात्) वंशे वस्त्रादिके वा पाट्यमाने तदवयवानां विभागात् * (शब्दात् – च) शब्दादपि यावद्वेगं तत्तरङ्गसन्तानात् (शब्दनिष्पत्तिः) शब्दस्य निष्पत्तिः पूर्वतः खल्वविद्यमानस्य प्रादुर्भाव उत्पत्तिरितियावत्, संयोगादयोऽसम-वायिकारणानि । जिह्वाकण्ठादिषु वायुताडनपूर्वकाः शब्दानामुच्चारणे त्वात्मप्रयत्नादयो निमित्तकारणानि ॥३१॥*

--------------------------------------- --- --- ---

**। चकाराद् वेगोऽपि ग्राहितुं शक्यते वेगादपि शब्दनिष्पत्तिर्भवति विमानगतिवेगाच्छब्दो भवति यष्टिकागतिवेगादपि च ।*

-- ---- --- ---

शब्द की अभिव्यक्ति में दोष है, इस हेतु से-

संयोगाद् विभागात्शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ॥३१॥

सूत्रार्थ:- संयोग, विभाग और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है ॥३१॥

भाष्यार्थ:- *(संयोगात्)* नगाड़े और दण्डे के आघात् = प्रताड़न रूप संयोग से, ताली बजाने रूप संयोग से और मुख में प्राण वायु द्वारा जिह्वा, कण्ठ आदि में आघात रूप संयोग से *(विभागात्)* बांस या वस्त्र आदि के फाड़ने पर उनके अवयवों के विभाग से *(शब्दात् च)* शब्द से भी जो वेग उत्पन्न होता है, उससे उत्पन्न तरंग के प्रसार से *(शब्द-निष्पत्तिः)* शब्द की उत्पत्ति होती है । पूर्वतः अविद्यमान शब्द का प्रादुर्भाव या उत्पत्ति होती है, इस प्रकार शब्द उत्पन्न होता है । इस अवस्था भेरी – दण्ड का संयोग असमवायिकारण है। जिह्वा, कण्ठ आदि में वायु के ताड़न से शब्दोच्चारण में आत्मा का प्रयत्न निमित्त कारण है ॥३१॥

अतः –

लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः ॥३२॥

(लिङ्गात् –च) चकारः पूर्वोक्तहेतुसमुच्चयार्थः "सतो लिङ्गाभावात्" (२६) शब्दः खलूच्चारणात् ताडनाद्वा प्राक् श्रवणानन्तरं च नास्ति तदानीं तस्यास्तित्वे लिङ्गाभावोऽस्ति, न हि श्रोत्रेण श्रूयते । तथा चात्र लिङ्गात् पूर्वोक्तानन्तरसूत्रे

प्रतिपादितात् कारणात् संयोगादितस्तस्य संयोगादिजन्यत्वादपि (शब्दः – अनित्यः) शब्दोऽनित्यो ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्चोभयविधः ॥३२॥

इसलिए –

लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः ॥३२॥

सूत्रार्थ:- शब्द के नित्यत्व के लक्षण अनुपलब्ध होने और अनित्यत्व के लक्षण उपलब्ध होने से भी शब्द अनित्य है ॥३२॥

भाष्यार्थ:- *(लिङ्गात् च)* चकार सूत्र में इसलिए पढ़ा कि पीछे कहे हेतुओं का संग्रह हो जाए अर्थात् *"सतो लिङ्गाभावात्"* सूत्र में जो कहा कि शब्द उच्चारण से, ताड़न से पूर्व और सुनाई देने के पश्चात् नहीं रहता है, उस समय उसके होने का कोई लक्षण नहीं होता और न कान से सुनाई देता है, इन बातों का सम्बन्ध इस सूत्र में कही बातों से हो जाए कि ३१-३२ सूत्रो में कथित संयोग आदि कारण से उसके संयोगादि जन्य लक्षणों के उपलब्ध होने से भी *(शब्दः अनित्यः)* शब्द ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक दोनों ही अनित्य हैं ॥३२॥

भवतु ध्वन्यात्मकः शब्दोऽनित्यः परन्तु वर्णात्मकस्तु नित्यः स्यात् कुतः –

द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ॥३३॥

(द्वयोः – तु प्रवृत्त्योः – अभावात्) गुरुशिष्ययोर्द्वाऽध्यापकाध्येत्रोः प्रवृत्त्योरध्यापनाध्ययनयोरभावप्रसङ्गात् खलु वर्णात्मकः शब्दस्तु नित्यः स्यादेव । गुरुणा शब्दो वर्णात्मकः शिष्याय प्रदीयते शिष्येण चादीयते तत्र द्वयोरादानप्रदाने नानुपस्थितस्यास्थितस्य सम्भवतः, तस्माद् वर्णात्मकेन शब्देन तु नित्येन भवितव्यमिति पूर्वपक्षः ॥३३॥

हो सकता है ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य होवे, परन्तु ककार आदि वर्णरूप शब्द तो नित्य होने चाहिए ! कैसे –

द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ॥३३॥

सूत्रार्थ:- पठन –पाठन में शब्द के अविद्यमान रहने पर शब्द के आदान – प्रदान का लोप प्राप्त होने से शब्द को नित्य ही होना चाहिए ॥३३॥

भाष्यार्थ:- *(द्वयोः तु प्रवृत्त्योः अभावात्)* गुरु – शिष्य या अध्यापक – छात्र, इन दोनों की प्रवृत्ति = पठन – पाठन के अभाव का प्रसंग उपस्थित होने से वर्णात्मक शब्द तो नित्य ही होने चाहिए । गुरु के द्वारा वर्णात्मक शब्द शिष्य को दिये जाते हैं और शिष्य

उसे ग्रहण भी करता है। इस प्रकार दोनों का लेन – देन संभव है। इसलिए इस कार्य के होते रहने के कारण वर्णात्मक शब्द का नित्य होना आवश्यक है। यह पूर्वपक्ष प्रस्तुत हुआ ॥३३॥

प्रथमादिशब्दात् ॥३४॥
सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥३५॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति-
(प्रथमादिशब्दात्) प्रथमोत्तमादिशब्दाच्छब्दो वर्णात्मको नित्यः "प्र वो वाजा अभिद्यवो ...."(ऋ. ३।२७।१) इत्येकादश खल्वृचःसामिधेन्यस्तासां प्रथमामुत्तमां चर्च त्रिः प्रथमां पूर्वा त्रिरुत्तमामन्तिमां च पुनरावर्त्य पञ्चदश सामिधेनीः सम्पाद्याग्निसमिन्धनाय प्रयुञ्जीतेत्यत्र प्रथमोत्तमयोः स्थितयोरेव पुनरावृत्तिर्भवितुं युज्यते, तथा (सम्प्रतिपत्तिभावात् - च) सम्प्रतिपत्तिः सम्यक् प्रतिपत्तिः सिद्धस्यानुस्मृतिस्तस्याः सिद्धानुस्मृतेः सम्भवात्, यद्वा सिद्धस्य प्रयोगात् शब्दो वर्णात्मको नित्यो यतः स एवायं गायत्रीमन्त्रोऽध्यायो वाऽनेनाद्यापि प्रयुक्तो विनियुक्तो वाऽस्मिन् कर्मकाण्डे यश्च ह्यस्तनेऽमुष्मिन् कर्मकाण्डे प्रयुक्तो विनियुक्तो वा ॥३४-३५॥

प्रथमादिशब्दात् ॥३४॥
सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥३५॥

सूत्रार्थः- प्रथम, अन्तिम आदि शब्दों से कथित मन्त्र आदि कि पुनः-पुनः आवृत्ति तथा सिद्ध शब्दों का ही पुनः-पुनः प्रयोग होने से वर्णात्मक शब्द नित्य होने चाहिए ॥३४-३५॥

भाष्यार्थः- इन दोनों सूत्रों में एकवाक्यता है अर्थात् दोनों सूत्र मिलकर एक अभिप्राय को सिद्ध करते हैं – *(प्रथम आदि शब्दात्)* प्रथम, उत्तम आदि वर्णात्मक शब्द नित्य हैं, जैसे कि "प्र वो वाजा अभिद्यवो ... " ये ग्यारह = ऋचाएँ = ऋग्वेद के मन्त्र हैं, इनको सामिधेनी कहते हैं, उनमें प्रथम व अन्तिम ऋचा के विषय में कहा है, तीन बार प्रथम = पूर्व को और तीन बार उत्तम = अन्तिम ऋचा की आवृत्ति करके पन्द्रह सामिधेनी को बनाकर अग्नि – प्रज्वलन के लिए प्रयोग किया जाता है। वहाँ अवस्थित = नित्य के प्रथम, अन्तिम की आवृत्ति हो सकती है तथा *(सम्प्रतिपत्ति – भावात् च)* सम्प्रतिपत्ति अर्थात् ठीक प्रतीति = बोध = सिद्ध की अनुस्मृति, उस अनुस्मृति के सम्भव होने से अथवा सिद्ध शब्द का प्रयोग होने से वर्णात्मक शब्द नित्य हैं क्योंकि वही गायत्री मन्त्र या अध्याय आज इसने प्रयोग किया = पढ़ा या विनियुक्त किया, इस कर्मकाण्ड में जो कल प्रयुक्त या विनियुक्त किया था, ऐसा कहा जाता है ॥३४-३५॥

सर्वं समाधत्ते –

सन्दिग्धाः सति बहुत्वे ॥३६॥

(सन्दिग्धाः) एते त्रयोऽपि हेतवः "द्वयोः प्रवृत्तिः, प्रथमादिशब्दः, सम्प्रतिपत्तिः " सन्दिग्धाः सन्ति शब्दस्य नित्यत्वं साधयितुं यतो ह्येतेऽस्थिरेषु खल्वपि प्रयुज्यन्ते, यथा व्यायामशिक्षणं गुरुणा शिष्याय प्रदीयते शिष्येण चादीयते, तत्र प्रथमोऽन्तिमो वा व्यायामः पुनरावर्तनीयः श्रेष्ठः सः, स एवायं व्यायामोऽनेन मल्लेन कृतः प्रदर्शितोऽत्रापि यः खल्वनेन तत्र ह्यः कृतः प्रदर्शितो वा । एवं सन्दिग्धाः सन्ति न च सन्दिग्धा हेतवो भवन्ति । वक्ष्यत्यग्रे खल्वाचार्यः "अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः" (वै. ३।१।१५) तस्माद् वर्णात्मकोऽपि शब्दो न नित्यः । व्यायामः खलु कर्म, कर्म न स्थिरं किन्तु नश्वरमनित्यं शब्दोऽपि नश्वरः, उक्तं हि "गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् (२५) (सति बहुत्वे) यदा व्यायामरूपाणां क्रियाणां क्षणवर्तिनीनामपि बहुत्वे सति व्यायामशिक्षणं प्रदीयतेऽथादीयते – इति प्रयोगस्य वर्तमानत्वाद् भवति पुनः शब्दस्यादानप्रदानादिव्यवहाराः हेतुत्वेन प्रदर्शिताः सन्दिग्धाः सन्तोऽहेतवः ॥३६॥

अब तीनों आक्षेपों = पूर्व पक्षों का समाधान कहते हैं –

सन्दिग्धाः सति बहुत्वे ॥३६॥

सूत्रार्थ:- अनित्य कर्म के विषय में बहुत प्रयोग, आवृत्ति आदि का व्यवहार होने से शब्द के सम्बन्ध में आदान – प्रदान, बहुल प्रयोग, आवृत्ति आदि हेतु; शब्द की नित्यता सिद्ध करने में समर्थ नहीं हैं, सन्दिग्ध होने से या अनैकान्तिक होने से ॥३६॥

भाष्यार्थ:- *(सन्दिग्धाः)* ये तीनों ही हेतु *"द्वयोः प्रवृत्तिः, प्रथमादिशब्दः*, सम्प्रतिपत्ति संदिग्ध हैं शब्द के नित्यता को सिद्ध करने के लिए, क्योंकि इन का प्रयोग अस्थिरों में भी होता है, जैसे व्यायाम, शिक्षण गुरु के द्वारा शिष्य को दिया जाता है और शिष्य ग्रहण करता है, वहाँ प्रथम अथवा अंतिम व्यायाम की आवृत्ति करनी है वह श्रेष्ठ है, वही यह व्यायाम है जो उस मल्ल ने किया था या दिखाया था; यहाँ भी इसने कल दिखाया या किया था । इस प्रकार संदिग्ध है और संदिग्ध हेतु नहीं होते । आचार्य आगे कहेंगे- *"अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः"* इसलिए वर्णात्मक शब्द भी नित्य नहीं है, व्यायाम कर्म है कर्म स्थिर नहीं रहता किन्तु नश्वर है, अनित्य है, शब्द भी नश्वर है कहा भी गया है-*"गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम्"* जब व्यायाम रूपी क्रियाओं के

क्षणिक वृत्तियों के बहुत होने पर भी व्यायाम प्रशिक्षण दिया और लिया जाता है इस प्रकार प्रयोग का वर्तमान होने से होता है फिर शब्द का आदान-प्रदान आदि व्यवहार हेतु के रूप में प्रदर्शित किया है वे हेतु, संदिग्ध हैं ॥३६॥

यद्येवमनित्यो वर्णात्मकः शब्दस्तर्हि कर्मसदृशस्याशुविनाशिनोऽनवस्थितस्य शब्दस्य पञ्चाशद्वर्णाश्चतुर्दश स्वराः, इति कथं विभागः ।

अत्रोच्यते –

संख्याभावः सामान्यतः ॥३७॥

(संख्याभावः सामान्यतः) वर्णात्मकस्य शब्दस्यायं संख्याभावो गणननिर्देशः स खलु सामान्यतो जातितः – अत्वकत्वादिजातितोऽस्ति न तु नश्वरव्यक्तिरूपवर्णात्मकशब्दतः । यथा घटो व्यक्तितो नश्वरो घटत्वजातिरनश्वरा । यथा वाऽसंख्यानां कर्मणामुत्क्षेपणादिकं पञ्चविधत्वं जातितः ॥३७॥

यदि वर्णात्मक शब्द इस प्रकार अनित्य है तो कर्म के समान शीघ्र विनाशी, अनवस्थित शब्द के पंचाशत् वर्ण हैं, चौदह स्वर हैं ये विभाग कैसे कहे जाते हैं? इस विषय में कहते हैं –

संख्याभावः सामान्यतः ॥३७॥

सूत्रार्थः- वर्णों की संख्या वर्ण साठ होते हैं यह कथन अत्व, कत्व आदि जाति के आधार व विहित समझने चाहिए ॥३७॥

भाष्यार्थः- *(संख्याभावः सामान्यतः)* वर्णात्मक शब्द का यह जो संख्याभाव गणना निर्देश है, वह सामान्य = जाति = अत्व, कत्व आदि के आधार से है, न कि नश्वर व्यक्तिरूप वर्णात्मक शब्द के आधार पर। जैसे कि घट व्यक्तिरूप में अनित्य है, नश्वर है परन्तु घटत्व जाति अनश्वर = नित्य है। अथवा जैसे असंख्य उत्क्षेपण आदि कर्मों के पाँच प्रकार हैं, वे जाति के आधार पर हैं, व्यक्ति के आधार पर नहीं, ऐसा ही शब्द की गणना भी जान लेनी चाहिए ॥३७॥

द्वितीयाह्निकं समाप्तम् ।

समाप्तश्च द्वितीयोऽध्यायः ॥

---------------------------------- ---- ----

तृतीयोऽध्यायः - प्रथमाह्निकम्

बाह्यद्रव्याणां लक्षणान्युक्त्वाऽधुनोद्देशक्रमेणान्तर्द्रव्यमात्मानं लक्षयन् पीठमारचयति –

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥१॥

(इन्द्रियार्थाः प्रसिद्धाः) इन्द्रियाणि घ्राणादीनि तदर्थाश्च गन्धरसादयश्च प्रसिद्धाः प्रकृष्टसिद्धाः सन्ति, क्रमेणैकैकस्येन्द्रियस्यैकैकविषयव्यवस्थया प्रज्ञाताः सन्ति ॥१॥

बाह्य द्रव्यों के लक्षणों को बताकर अभी उद्देश्य क्रम से अंतर्द्रव्य आत्मा को जनाते हुए भूमिका रचते हैं-

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥१॥

सूत्रार्थ:- इंद्रिय और उनके गन्धादि विषय सब शास्त्रों में तथा लोगों में प्रसिद्ध है। (यह बात कह दी गई है)

भाष्यार्थ:- (इन्द्रियार्थाः प्रसिद्धाः) इन्द्रियाँ नासिका आदि हैं, उनके अर्थ गन्ध आदि हैं जो कि प्रसिद्ध = उत्कृष्टता से सिद्ध हैं (सभी शास्त्रों में बिना मतभेद के मान्य हैं) क्रम से एक-एक इंद्रियों की एक-एक विषय व्यवस्था (सबको) ज्ञात है ॥१॥

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥२॥

(इन्द्रियार्थप्रसिद्धिः) इन्द्रियाणां तदर्थानां च प्रसिद्धिः प्रत्यक्षताऽनुभूतिर्ज्ञानं वा (इन्द्रियार्थेभ्यः – अर्थान्तरस्य हेतुः) घ्राणादीन्द्रियेभ्यो गन्धाद्यर्थेभ्यश्च भिन्नस्य वस्तुन आत्मद्रव्यस्य हेतुः साधकं भवति । इन्द्रियाणि तु करणानि कुठारादिवत्साधनानि सन्त्यात्मनोऽथ गन्धादयोऽर्थाः प्रयोजनानि ह्यात्मनः, एवमिन्द्रियाणां प्रयोक्ता तदर्थानां प्रयोजनानां चोपभोक्ता करणरूपेभ्य इन्द्रियेभ्यस्तदर्थेभ्यो गन्धादिभ्यश्च प्रयोजनरूपेभ्यो भिन्न एवेति सिद्धम् ॥२॥

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥२॥

सूत्रार्थ:- घ्राण आदि इंद्रियों से गन्धादि विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है, वह ज्ञान इंद्रियों और गन्धादि विषयों से भिन्न पदार्थ आत्मा की सिद्धि होने का हेतु है ॥२॥

भाष्यार्थ:- *(इन्द्रियार्थप्रसिद्धिः)* इंद्रियों और उनके अर्थों की प्रसिद्धि=प्रत्यक्ष से अनुभूति अथवा (प्रमाणों से) ज्ञान होता है, *(इन्द्रियार्थेभ्यः – अर्थान्तरस्य हेतुः)* घ्राण आदि इंद्रियों से गन्ध आदि अर्थों से भिन्न वस्तु 'आत्मा' द्रव्य का हेतु = साधक = ज्ञापक हैं। इन्द्रियाँ तो करण हैं, कुल्हाडी आदि के समान साधन हैं आत्मा के; गन्ध आदि जो अर्थ हैं

वे आत्मा के प्रयोजन हैं। इस प्रकार इन्द्रियों का प्रयोक्ता, उनके अर्थ = प्रयोजन का उपभोक्ता, करणरूप इन्द्रियों से भिन्न, उनके गन्ध आदि अर्थों से = प्रयोजनों से भी भिन्न आत्मा ही है, यह सिद्ध हुआ ॥२॥

अत्र शङ्कते –

सोऽनपदेशः ॥३॥

(सः – अनपदेशः) स एषोऽहेतुः, इन्द्रियार्थप्रसिद्धिः। यतो हीन्द्रियाणि शरीराङ्गानि शरीरमाश्रयन्ति तथेन्द्रियार्थाश्च भौतिका इन्द्रियैर्गृह्यन्ते, शरीरमपि भौतिकं तस्माच्छरीरमेव चेतनमिन्द्रियार्थाश्रयत्वान्न तद्भिन्नमर्थान्तरमपेक्ष्यते ॥३॥

अब यहाँ शंका करते हैं-

सोऽनपदेशः ॥३॥

सूत्रार्थ:- सूत्र-२ में आपका कहा हुआ हेतु, अहेतु है। इन्द्रिय और उनके अर्थों का आश्रय शरीर होने से, इंद्रियों से गन्धादि विषयों का ज्ञान शरीर से भिन्न आत्मा का ज्ञापक नहीं है ॥३॥

भाष्यार्थ:- *(सः – अनपदेशः)* वह यह हेतु, इंद्रियार्थ प्रसिद्धि (वाला हेतु) यह अहेतु है क्योंकि इंद्रियाँ शरीर के अंग हैं, शरीर के आश्रय में रहती हैं और उसी प्रकार इंद्रियों के अर्थ भौतिक हैं और इन्द्रियों से ग्रहण होता है। इसलिए शरीर ही चेतन है और इंद्रियों तथा अर्थों का आश्रय होने से उससे भिन्न अन्य किसी अर्थ को मानने की अपेक्षा नहीं है ॥३॥

समाधत्ते चतुर्भिः सूत्रैः–

कारणाज्ञानात् ॥४॥

कार्येषु ज्ञानात् ॥५॥

अज्ञानाच्च ॥६॥

अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥७॥

एषामेकवाक्यताऽस्ति-

(कारणाज्ञानात्) शरीरस्य कारणेषु खल्वज्ञानाज्ज्ञानाभावात्, न हि शरीरकारणेषु भूतेषु ज्ञानमस्ति तस्माच्छरीरं चेतनं कथं स्यात्, न तच्चेतनमित्यर्थः (कार्येषु ज्ञानात्) अथ चेदुच्येत सौक्ष्म्येण चैतन्यं भूतेषु विद्यते तेषां कार्ये शरीरे तदभिव्यज्यते। यद्येवम्

(अज्ञानात्) घटपटादिषु कार्येषु खल्वज्ञानात्, घटपटादयोऽपि भूतानां कार्याणि तत्र तु न चैतन्यमभिव्यक्तीभूतं पुनः कथमनपदेश उच्यते । अतः (अन्यत् - एव हेतुः – इति – अनपदेशः) अन्यत् खलु ज्ञानं तदत्र हेतुरुच्यते "इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः" प्रसिद्धिः प्रत्यक्षत्वं ज्ञानं खल्वात्मनोऽस्ति यत् – नेत्रे मम साधनं नेत्राभ्यां रूपमहं जानेऽहं नेत्रयोरुपयोक्ता रूपस्योपभोक्तेति ज्ञानमत्र सूत्रे लक्ष्यं तस्माद्धेतुरस्ति, इत्यतो यत्पूर्वपक्षत्वेनोक्तमनपदेशः स एवानपदेशः, नास्माकं कथनमनपदेशः । शङ्करमिश्रादिभिरन्तिमं सूत्रं पूर्वपक्षत्वेनान्यथाव्याख्यातम् ॥४-७॥

समाधान करते हैं चार सूत्रों से-

कारणाज्ञानात् ॥४॥
कार्येषु ज्ञानात् ॥५॥
अज्ञानाच्च ॥६॥
अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥७॥

सूत्रार्थ:- शरीर के उत्पादक कारणों पृथिव्यादि भूतों में ज्ञान न होने से शरीर ही चेतन व ज्ञानवाला नहीं हो सकता ॥४॥

यदि पूर्वपक्षी कहे कि पृथ्वी आदि भूतों में चेतनता सूक्ष्म रूप से रहती हुई शरीरादि कार्यों में ज्ञान प्रकट होता है ॥५॥

पृथिव्यादि भूतों के घटपटादि कार्य पदार्थों में अज्ञान भी देखा जाता है । अतः शरीर चेतन नहीं है ॥६॥

इसलिए हमारा कहा हुआ द्वितीय सूत्रोक्त ज्ञानगुण आत्मा की सिद्धि में हेतु है, तृतीय सूत्रोक्त आपका कथन हेत्वाभास है ठीक नहीं है ॥७॥

भाष्यार्थ:- इन चारों सूत्रों में एकवाक्यता है = चारों सूत्र मिलकर एकवाक्य के रूप में अपना प्रतिपाद्य सिद्ध करते हैं । *(कारणाज्ञानात्)* शरीर के कारणों (= भूतों) में अज्ञान = ज्ञान का अभाव होने से, शरीर के कारण पृथ्वी आदि भूतों में ज्ञान नहीं है । इसलिए शरीर चेतन कैसे होगा? अर्थात् वह चेतन नहीं हैं । *(कार्येषु ज्ञानात्)* यदि पूर्वपक्षी द्वारा कहा जाए कि सूक्ष्मरूप से भूतों में चेतना होती है, वही भूतों के कार्यरूप शरीर में अभिव्यक्त हो जाती है । यदि ऐसा है तो *(अज्ञानात्)* घट, पट, आदि कार्यों में ज्ञान का अभाव होने से; घट-पट आदि भी भूतों के कार्य हैं, वह तो चेतना प्रकट नहीं होती है, पुनः हेत्वाभास कैसे कहा जा सकता है । इसलिए *(अन्यत – एव – हेतुः – इति – अनपदेशः)* अन्य = जो कि ज्ञान है अर्थात् इन्द्रिय और उनके अर्थों का ज्ञान इन्द्रिय और उनके अर्थों से भिन्न अर्थ आत्मा होने का हेतु है, "प्रसिद्ध = प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा का होता है । जैसे कि – दोनों नेत्र मेरे साधन हैं, इनसे रूप को मै देखता हूँ, जानता हूँ, दोनों

नेत्रों का उपयोग करता हूँ, उनसे प्राप्त रूप का उपभोग करता हूँ, ये ज्ञान यहाँ सूत्र में निर्दिष्ट है, अतः यह हेतु है । इस कारण से पूर्वपक्ष के द्वारा यह जो कहा गया कि सिद्धान्ती का कथन अनपेदश है, वह ठीक नहीं, वस्तुतः पूर्वपक्षी का प्रतिषेध कथन ही अनपदेश है, वह ठीक नहीं, वस्तुतः पूर्वपक्षी का प्रतिषेध कथन ही अनपदेश = अहेतु है, हमारा कथन अहेतु नहीं है । शंकर मिश्र आदि ने अन्तिम सूत्र को पूर्वपक्ष के रूप में लेकर उल्टी व्याख्या कर दी ॥४-७॥

वस्तुतः –

अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः ॥८॥

(अर्थान्तरं - हि - अर्थान्तरस्य – अनपदेशः) 'हि' शब्दः केवलार्थः, अर्थान्तरं हि केवलमर्थान्तरं खल्वर्थान्तरस्यानपदेशोऽहेतुर्भवति । यथा धूमो रासभस्य केवलमर्थान्तरं सन्न तस्य हेतुर्भवति वह्नेस्तु धूमो न केवलमर्थान्तरं किन्तु तत्कार्यं सदर्थान्तरं तस्माद् वह्नेर्बोधे हेतुः । इन्द्रियाणि तदर्थाश्चार्थान्तराणि सन्त्यात्मनः परन्तु न केवलार्थान्तराणि हेतुत्वेनोक्तानि किन्तु तत्प्रसिद्धिरिन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थ-प्रत्यक्षत्वमिन्द्रियार्थज्ञानं खल्वात्मनो हेतुरित्युक्तमेतो नानपदेशः ॥८॥

अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः ॥८॥

सूत्रार्थ:- कोई एक वस्तु किसी दूसरे वस्तु से केवल मात्र भिन्न होने से किसी दूसरे वस्तु की सिद्ध नहीं कर सकती ॥८॥

भाष्यार्थ:- *(अर्थान्तरं - हि - अर्थान्तरस्य – अनपदेशः)* सूत्र में पठित 'हि' शब्द 'केवल' अर्थ का वाचक है, एक वस्तु केवल दूसरी वस्तु से पृथक् होने के कारण दूसरी वस्तु को जनाने में हेतु = समर्थ नहीं होती । जैसे धुआँ केवल गदहे से भिन्न होने के कारण उसको जनाने का कारण नहीं होता है, परंतु आग से पृथक् होने पर भी आग को जनाने का कारण होता है । इसलिए यहाँ धुआँ केवल आग से पृथक् नहीं अपितु आग का कार्य होता हुआ आग से पृथक् है, इसलिए अर्थान्तर होते हुए भी धुआँ आग का हेतु है । ऐसे ही इन्द्रिय और उनके अर्थ रूपादि आत्मा से भिन्न हैं, परन्तु केवल भिन्न नहीं है और हेतु के रूप में कहे गए हैं किन्तु उनकी प्रसिद्धि = इन्द्रिय और उनके अर्थों का ज्ञान आत्मा का हेतु = आत्मा को जनाने का कारण होता है । इसलिए अनपदेश = अहेतु नहीं है, हेतु ही है ॥८॥

अर्थान्तरं किमपि साहचर्यमवलम्ब्यार्थान्तरस्य हेतुर्भवतीत्यायातं तत्परिगणनं क्रियते –

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ॥९॥

(संयोगि) शरीरं त्वग्वत् तदावरणं हि त्वक् तया विना न शरीरं भवति, कदाचिदन्धकारे त्वचं स्पृष्ट्वाऽनुमीयतेऽस्ति शरीरम्, सुपथागच्छतो रथस्य सारथिरनुमीयतेऽस्ति रथोऽयं सारथिमान् (समवायि) स्पर्शेन वायुरनुमीयते शब्देनाकाशो द्रव्यमित्यनुमीयते व्यक्तवाचा मन्त्रपाठेन वा व्यवहितो विज्ञजनो होता वाऽनुमीयते (एकार्थसमवायि विरोधि च) सूत्रकृदाचार्यः स्वयमुदाहरति सूत्रैः ॥९॥

परस्पर भिन्नार्थ किसी साहचर्य को लेकर ही हेतु दूसरे को जनाने के कारण होते हैं, यह जो बात निकली, अब वे कौन- कौन सी हैं, अब उसकी गणना करते हैं-

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ॥९॥

सूत्रार्थ:- हेतु चार प्रकार का होता है। (जिस से संबन्धित अन्य वस्तु का ज्ञान होता है) १.संयोगि, २. समवायि, ३. एकार्थ समवायि और ४.विरोधि ॥९॥

भाष्यार्थ:- *(संयोगि)* शरीर त्वक् वाला होता है, त्वक् उसका आवरण है, उस त्वक् के बिना शरीर नहीं होता है। कभी अन्धकार में त्वचा का स्पर्श करके अनुमान किया जाता है कि यहाँ शरीर है। अच्छे मार्ग पर चलते हुए रथ को देखकर सारथि का अनुमान होता है कि यह रथ सारथिवाला है। *(समवायि)* स्पर्श से वायु का अनुमान होता है, शब्द से आकाश द्रव्य का अनुमान होता है, स्पष्टवाणी से या मन्त्रपाठ से ओट में स्थित विज्ञजन या होता का अनुमान किया जाता है। *(एकार्थसमवायि विरोधि च)* सूत्रकृत आचार्य स्वयं उदाहरण देके अगले सूत्र से कहते हैं ॥९॥

एकार्थसमवायिन उदाहरणमाचष्टे –

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥१०॥

(कार्यं कार्यान्तरस्य) कार्यद्रव्यस्थं रूपं कार्यं कारणद्रव्यरूपस्य, यथा वस्त्रस्थं रूपं कार्यं तन्तुस्थरूपस्य, यद् वस्त्रस्थं रूपं कार्यं तत् कार्यान्तरस्य वस्त्रगतस्पर्शस्य स्वभिन्नस्य कार्यस्य हेतुर्भवति। वस्त्र गतस्पर्शोऽपि कार्यं तन्तुस्थस्पर्शस्य तन्तूनां रूपं रक्तं नीलं वा वस्त्रस्थरूपस्य रक्तस्य नीलस्य कारणं तथैव तन्तूनां स्पर्शो मृदुः कर्कशो वा वस्त्रस्थस्पर्शस्य मृदोः कर्कशस्यापि कारणम्। वस्त्रस्थरूपं कार्यं वस्त्रस्थस्पर्शस्य स्वभिन्नस्य कार्यस्य हेतुर्भवति यतो रूपं न स्पर्शमन्तरेण तिष्ठति यत्र रूपं तत्र स्पर्शेनापि भाव्यम्। तथा गन्धोऽपि रसस्य हेतुर्भवति गन्धेन रसोऽनुमीयते हि लोके पक्वाम्रादिफलस्य ॥१०॥

एकार्थ समवायि का उदाहरण बताते हैं-

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥१०॥

सूत्रार्थ:- एक कार्य दूसरे कार्य को सिद्ध करने वाला 'एकार्थ समवायी' कहा जाता है। अर्थात् रूप कार्य स्पर्श कार्य का ज्ञान कराने में एकार्थ समवायि हेतु कहलाता है ॥१०॥

भाष्यार्थ:- *(कार्यं कार्यन्तिरस्य)* कार्य द्रव्य में स्थित रूप कार्य कारण द्रव्य में स्थित रूप को बताते हैं, जैसे वस्त्र में स्थित रूप कार्य तन्तु में स्थित रूप को जनाते हैं। जो वस्त्र में स्थित रूप कार्य है वह कार्यान्तर = वस्त्र में स्थित स्पर्श = अपने से भिन्न कार्य का हेतु होता है। वस्त्र में स्थित स्पर्श कार्य भी तन्तु में स्थित स्पर्श का बोधक होता है। तन्तुओं का लाल या नीला रूप वस्त्र के लाल या नीले रूप का कारण होता है, उसी प्रकार तन्तुओं का कोमल या कठोर स्पर्श वस्त्र में स्थित कोमल या कठोर स्पर्श का कारण होता है। वस्त्र में स्थित रूप कार्य वस्त्र में स्थित अपने से भिन्न स्पर्श कार्य का हेतु होता है, क्योंकि रूप के बिना स्पर्श नहीं रहता है। जहाँ रूप होगा वहाँ स्पर्श भी होगा तथा गन्ध भी रस का हेतु होता है, गन्ध से रस का = पके आम आदि फल के मीठेपन का अनुमान किया जाता है ॥१०॥

विरोधिलिङ्गमुदाहरति –

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥११॥भूतमभूतस्य ॥१२॥भूतो भूतस्य ॥१३॥

एषामेकवाक्यताऽस्ति –

(विरोधि) विरोधि लिङ्गमनुमाने त्रिविधमस्ति तद्यथा (अभूतं भूतस्य) सत्यपि मेंघेऽविद्यमाना वृष्टिर्विद्यमानस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य वृष्टिप्रतिबन्धकस्य । (भूतम् - अभूतस्य) विद्यमाना जाता वृष्टिरविद्यमानवाय्वभ्रसंयोगस्य, भ्रष्टाचारप्रवर्तनमविद्यमानधर्मशासनस्य (भूतो: - भूतस्य) विद्यमानो विस्फूर्जन् सर्पो झाटान्तरितस्य नकुलस्य लिङ्गं विरोधि ॥११-१३ ॥

विरोधी लिंग का उदाहरण देते हैं-

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥११॥

भूतमभूतस्य ॥१२॥

भूतो भूतस्य ॥१३॥

सूत्रार्थ:- विरोधि हेतु तीन प्रकार का है। अविद्यमान पदार्थ (वर्षा) किसी विद्यमान पदार्थ (वायु व बादल के संयोग) का विरोधी हेतु होना।

विद्यमान पदार्थ (वर्षा) किसी अविद्यमान पदार्थ (शीतल वायु बादल के संयोग) का विरोधी हेतु होना।
एक विद्यमान पदार्थ (साँप) दूसरे विद्यमान पदार्थ (नेवला) का विरोधी हेतु होना ॥११-१३॥

भाष्यार्थ:- इन सूत्रों की एक वाक्यता है- *(विरोधि)* अनुमान में विरोधी लिंग तीन प्रकार के हैं जैसे मेघ के होने पर भी *(अभूतं भूतस्य)* अविद्यमान वृष्टि का प्रतिबंधक विद्यमान वायु और बादल के संयोग के कारण अनुमान होता है। *(भूतम् - अभूतस्य)* विद्यमान होती हुई वर्षा अविद्यमान वायु और बादल के संयोग का अनुमान होता है, भ्रष्टाचार के विद्यमान होने से अविद्यमान धर्म-शासन (व्यवस्था) का ज्ञापक है। *(भूतो: - भूतस्य)* विद्यमान फूंफकारता हुआ साँप से झाड़ी में छुपे हुए नेवले होने का विरोधी लिङ्ग=ज्ञापक है ॥११-१३॥

एतेऽपदेशा हेतवो लिङ्गानि सन्ति यतः –

प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ॥१४॥

(अपदेशस्य प्रसिद्धिपूर्वकत्वात्) हेतोर्लिङ्गस्य प्रसिद्धिपूर्वकत्वात् या खलु प्रसिद्धिःप्रकृष्टसिद्धिः सर्वविदिता सर्वानुभूतिर्यद्वाऽविनाभावस्थितिर्व्याप्तिः पूर्वा यस्मात् तथाभूतो भवत्यपदेशो हेतुः । पूर्वोक्तेषूदाहरणेषु यथाऽपदेशो हेतुरन्यार्थस्य तथैवेन्द्रियाणि तदर्थाश्च प्रसिद्धिपूर्वकत्वादात्मनोऽपदेशत्वमर्हन्ति। इन्द्रियाणि करणानि कुठारादिवत् प्रयोक्तव्यानि प्रयोक्तारमन्तरेण न भवन्ति स च ज्ञानपूर्वकं प्रयोजयति तथागन्धादीनर्थांश्च जानाति गन्धादीनां ज्ञानं न ज्ञातारमन्तरेण भवति तस्मादिन्द्रियाणां प्रसिद्धिः करणत्वेन प्रयोगोऽथार्थानां गन्धादीनां प्रसिद्धिर्ज्ञानदृष्ट्या खलूपभोग आत्मनोऽपदेशो हेतुरिति निरवद्यम् ॥१४॥

ये सारे अपदेश हेतु=लिङ्ग है क्योंकि-

प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ॥१४॥

सूत्रार्थ:- हेतु के नियम (व्याप्ति) पूर्वक कथन होने से पूर्वोक्त संयोगि समवाय्यादि चार प्रकार का हेतु कहलाते है ॥१४॥

भाष्यार्थ:-*(अपदेशस्य प्रसिद्धिपूर्वकत्वात्)* हेतु=लिङ्ग का प्रसिद्धि वाला होने से, जो प्रसिद्धि = प्रकृष्ट सिद्धि सर्वविदित=सर्वानुभूति अथवा अविनाभाव की स्थिति (एक के न होने पर दूसरे का न होना) ऐसी व्याप्ति जिसके पूर्व में होती है; उस प्रकार का कथन हेतु होता है। पूर्वोक्त उदाहरण में जैसे अपदेश=हेतु अन्य अर्थों के ज्ञापक होते हैं उसी प्रकार इंद्रियाँ और उनके अर्थ प्रसिद्धिपूर्वक होने से आत्मा हेतु होने का अपदेशपना हो सकते हैं। इंद्रियाँ करण हैं कुठार आदि के समान प्रयोग करने के योग्य हैं, प्रयोक्ता के

बिना नहीं होते हैं और ज्ञान पूर्वक करता है और गंध आदि अर्थों को जानता है, गंध आदि का ज्ञान ज्ञाता के बिना नहीं हो सकता है, इसलिए इंद्रियों की प्रसिद्धि करण के रूप में प्रयोग और गंध आदि अर्थों की प्रसिद्धि ज्ञान की दृष्टि से उनका उपयोग आत्मा का अपदेश=हेतु है, यह इस प्रकार से बिना आपत्ति के सिद्ध हुआ है (इस प्रकार निश्चय हुआ) ॥ १४॥

अथानपदेशः क इत्याकांक्षायामुच्यते –

अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ॥१५॥

(अप्रसिद्धः – अनपदेशः) प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य इत्युक्त त्वाद् गतं ह्येतद् यो ह्यप्रसिद्धः सोऽनपदेशोऽहेतुः । इति तु परिभाषामात्रम् । तत्र विभागः (असन् सन्दिग्धः – च – अनपदेशः) यः खलु भवत्यसन् तथा सन्दिग्धश्च भवति सोऽनपदेशो द्विविधः । अविद्यमानोऽसन्, अनैकान्तिकः सन्दिग्धः ॥१५॥

अब अनपदेश क्या है इस प्रकार आशा से कहते हैं-

अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ॥१५॥

सूत्रार्थ:- व्याप्ति व नियम से रहित अप्रसिद्ध कथन अहेतु अर्थात् हेत्वाभास होता है । इसके दो भेद है – **असन्** (अविद्यमान) तथा **सन्दिग्ध** (संशय युक्त) ॥१५॥

भाष्यार्थ:- *(अप्रसिद्धः – अनपदेशः)* हेतु/उपदेश प्रसिद्धि पूर्वक होने से ऐसा कथन से यह ज्ञात हो गया कि-जो अप्रसिद्ध है वह अनपदेश=अहेतु हैं । ये तो परिभाषा मात्र है । उसमें विभाग करते हैं, *(असन् सन्दिग्धः – च – अनपदेशः)* एक जो असन् (अविद्यमान से व्याप्ति बनाना) होता है और संदिग्ध (अनेक पक्ष को स्पर्श करने वाला व्याप्ति बनाना) होता है, वह दो प्रकार का अनपदेश है । अविद्यमान=असन, अनैकांतिक=संदिग्ध ॥१५॥

उभयविधस्यानपदेशस्य सूत्राभ्यां क्रमेणोदाहरणं प्रदीयते –

यस्माद् विषाणी तस्मादश्वः ॥१६॥

(यस्माद् विषाणी तस्मात् – अश्वः) अश्वविषाणयोः प्रसिद्धिर्नास्ति अश्वत्वसाध्ये यस्माद् विषाणीति हेतुरप्रसिद्धोऽसन् न खल्वश्वे विषाणे विद्येते । विषाणाभ्यामश्वस्यानुमानं न युक्तम् ॥१६॥

दोनों प्रकार के अनपदेश का दो सूत्रों से क्रम से उदाहरण दिया जाता है-

यस्माद् विषाणी तस्मादश्वः ॥१६॥

सूत्रार्थः- 'क्योंकि इसके सींग है इसलिए यह घोड़ा है' यह असन् हेत्वाभास का उदाहरण है ॥१६॥

भाष्यार्थः- *(यस्माद् विषाणी तस्मात् – अश्वः)* अश्व और सींग की प्रसिद्धि (व्याप्ति) नहीं है, अश्वत्व सिद्ध करने के लिए, जिसके सींग होते हैं (वह अश्व है) इस प्रकार हेतु अप्रसिद्ध है असन् है (क्योंकि) अश्व में सींग नहीं होते हैं । सींग के द्वारा अश्व का अनुमान करना ठीक नहीं है ॥१६॥

यस्माद् विषाणी तस्माद् गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥१७॥

*(यस्मात् विषाणी तस्मात् गौः) कश्चित् कदाचिद् सविषाणां गां दृष्ट्वाऽनन्तरं स्मृत्या कथयति यस्मादेष पशुर्विषाणी तस्माद् गौरस्ति, यद्यपि गवि विषाणे भवतः परन्तु विषाणत्वलक्षणमन्यत्रापि प्रक्रामति महिष्यामजायां हरिणे च, तत्खलु लक्षणं नासन्दिग्धं किन्तु सन्दिग्ध व्यभिचारि, यतस्तदन्यत्रापि घटमानं सदनैकान्तिकत्वादनपदेशोऽहेतुः *॥१७॥*

यस्माद् विषाणी तस्माद् गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥१७॥

सूत्रार्थः- क्योंकि इस प्राणी के सींग है इसलिए यह गौ है, यह कथन अनैकान्तिक या सन्दिग्ध हेत्वाभास का उदाहरण है ॥१७॥

भाष्यार्थः- *(यस्मात् विषाणी तस्मात् गौः)* कोई कभी सींग सहित गौ को देखकर पश्चात् स्मरण करके कहता है कि जिस कारण से यह पशु सींग वाला है इसलिए यह गौ है, यद्यपि गौ में दो सींग होते हैं परन्तु सींग होने वाला लक्षण अन्यत्र भी प्राप्त होता है (जैसे) बकरी और हिरण आदि में, वह लक्षण असंदिग्ध नहीं है किन्तु संदिग्ध है व्यभिचारी है, क्योंकि अन्यत्र भी घटता हुआ अनैकांतिक होने से अनपदेश=अहेतु है ॥१७॥

तस्मात् –

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत् ॥१८॥

(आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यत् – निष्पद्यते तत् – अन्यत्) आत्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षात् । आत्मा खल्विन्द्रियैः सह युज्यते, इन्द्रियैरर्थाः सन्निकृष्यन्ते तदेवं सन्निकर्षाद् यदुत्पद्यते ज्ञानं तत्खल्वात्मनोऽपदेशो हेतुर्यदर्थमपदेशत्वमुक्तं हि पूर्वं "अन्यदेव हेतु.... " (७) यश्च

प्रसिद्धिशब्देन प्रदर्शितो हेतुः "इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः" (२) ॥१८॥

इसलिए-

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत् ॥१८॥

सूत्रार्थ:- 'आत्मा', 'इन्द्रिय' और गंध आदि 'विषयों' के परस्पर संबंध व सन्निकर्ष से जो रूप-रसादि ज्ञान उत्पन्न होता है वही अन्यत् है, वही आत्मा की सिद्धि में हेतु है ॥१८॥

भाष्यार्थ:- *(आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यत् – निष्पद्यते तत् – अन्यत्)* आत्मा, इंद्रिय और अर्थ के सन्निकृष्ट होने से अर्थात् आत्मा इंद्रियों के साथ सन्निकृष्ट होता है पुनः इंद्रियों अर्थ के साथ सन्निकृष्ट होते हैं, इस प्रकार सन्निकर्ष से ही जो ज्ञान उत्पन्न होता है। यह आत्मा होने का अपदेश अर्थात् हेतु है। जिसके लिए पहले ही पदर्शित किया गया है- *"अन्यदेव हेतु.... "* (७) और जो प्रसिद्धि शब्द से हेतु दिखाया गया है *"इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः"*(२) ॥१८॥

एवम् –

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम् ॥१९॥

(च) अथ च (प्रत्यगात्मनि प्रवृत्तिनिवृत्ती दृष्टे) स्वात्मनि प्रवृत्तिरभीष्टविषयम्प्रति निवृत्तिश्चानिष्टाद् दृष्टेऽनुभूते यत्ते ज्ञानपूर्विके स्तस्ते खलु (परत्र लिङ्गम्) परात्मनि लिङ्गं विज्ञेयं यत् तत्रापि ते आत्माश्रिते हि स्तः ॥१९॥

इस प्रकार-

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम् ॥१९॥

सूत्रार्थ:- प्रवृत्ति = अनुकूल वस्तु की ओर गति करना, निवृत्ति = प्रतिकूल वस्तु से दूर भागना, यह आत्मा में जैसे ज्ञानपूर्वक देखा जाता है वैसे ही किसी दूसरे शरीरों में भी प्रवृत्ति-निवृत्ति आत्मा के आश्रित से देखी जाने से, आत्मा की सिद्धि होती है ॥१९॥

भाष्यार्थ:- *(च)* और *(प्रत्यगात्मनि प्रवृत्तिनिवृत्ती दृष्टे)* अपनी आत्मा में प्रवृत्ति=अभीष्ट विषय के ओर जाना तथा निवृत्ति=अनिष्ट से हटना अर्थात् ये दृष्ट अनुभूति है; (वह) ज्ञान पूर्वक होते हैं वे *(परत्र लिङ्गम्)* दूसरे आत्मा के होने में लिङ्ग जानना चाहिए कि वहाँ भी वे आत्मा के आश्रित ही होते हैं ॥१९॥

प्रथमाह्निकं समाप्तम्।

तृतीयोऽध्यायः – द्वितीयाह्निकम्

आत्मनोऽविनाभूतसहकारि खल्वन्तःकरणं मनो लक्षयति, तल्लक्षणविशेषप्रदर्शनाय –

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ॥१॥

(आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे) आत्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे सति (ज्ञानस्य भावः – अभावः – च मनसः - लिङ्गम्) शब्दादिज्ञानस्य कदाचिद् भावः खलूत्पादो भवति कदाचिदभावोऽनुत्पादश्चेति मनसो लिङ्गमस्ति, अस्ति किमप्यन्तःकरणं यदपेक्ष्य ज्ञानस्योत्पादानुत्पादौ भवतः सर्वेन्द्रियैः सह सम्बद्धस्यापि खल्वात्मनः । तेनात्मेन्द्रियगणयोर्मध्यवर्ति मनोऽनुमीयते यत् सन्निकर्षेऽपेक्ष्यते । तच्च ज्ञानसाधनं करणमान्तरिकं यथा च रूपसाधनं नेत्रं बहिष्करणं ज्ञातुरात्मनः ॥१॥

आत्मा का अनिवार्य सहयोगी अन्त:करण मन का लक्षण करते हैं, उसके लक्षण विशेष को जनाने के लिए-

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ॥१॥

सूत्रार्थ:- आत्मा- इंद्रिय और अर्थों के सन्निकर्ष होने पर कभी ज्ञान का होना और कभी न होना यह मन की सत्ता का द्योतक है ॥१॥

भाषार्थ:- *(आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे)* आत्मा इंद्रिय के सन्निकर्ष होने पर *(ज्ञानस्य भावः – अभावः – च मनसः - लिङ्गम्)* शब्दादि ज्ञान का कभी तो भाव हो जाता है उसकी उत्पत्ति होती है, कभी उसका अनुत्पाद (उत्पत्ति नहीं होती है), अभाव हो जाता है यह मन का लक्षण है । ऐसा कोई अन्त:करण है जिसकी अपेक्षा से ज्ञान का उत्पन्न होना और नहीं उत्पन्न होना होता है । सभी इंद्रियों के साथ आत्मा जुड़ा हुआ होने पर भी सारी इंद्रियों का ज्ञान एक साथ नहीं हो रहा है (आत्मा जिस इंद्रिय के साथ जुड़ता है उसका ज्ञान होता है और जिससे नहीं जुड़ता उसका ज्ञान नहीं हो पाता है) । आत्मा और इंद्रिय समुदाय के मध्य में होने वाला मन अनुमानित होता है जो सन्निकर्ष की अपेक्षा करता है । वह ज्ञान का साधन है= आंतरिक करण है जैसे रूप का (रूप को सिद्ध करने वाला) बाहरी साधन नेत्र है ज्ञाता आत्मा का (ज्ञाता आत्मा का आंतरिक साधन मन है और बाहरी साधन इंद्रियाँ हैं) ॥१॥

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२॥

(तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते) मनसो द्रव्यत्वं नित्यत्वं च वायुना तुल्यं व्याख्यातं वेदितव्यम् । वायोर्द्रव्यत्वं यथा खल्वद्रव्यवत्त्वेनान्यसमवायिद्रव्यानाश्रितत्वेन क्रियावत्वेनेन्द्रियप्रेरकत्वेन गुणवत्वेन गन्धादिसुखादिज्ञानजनकत्वेन चेति ॥२॥

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२॥

सूत्रार्थ:- मन का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के समान समझना चाहिए॥२॥

भाषार्थ:- *(तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते)* मन का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के समान जानना चाहिए । वायु का जैसे द्रव्यत्व है वायु का जो अद्रव्यत्व है, अन्य द्रव्य उसका समवायी नहीं है इस रूप में । और मन का जो क्रियावत्व है वह इंद्रियों को प्रेरित करता है और गुण आदि ज्ञान को उत्पन्न करता है, आत्मा में यह उसका (मन का) गुण है। इस प्रकार मन भी एक द्रव्य है और नित्य है ॥२॥

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ॥३॥

(प्रयत्नायौगपद्यात् - ज्ञानायौगपद्यात् – च – एकम्) सर्वकर्मेन्द्रियैर्युगपत् प्रयत्ना न भवन्ति सर्वज्ञानेन्द्रियैर्युगपज्ज्ञानानि न भवन्ति तेनैकं मनः सिद्ध्यति क्रमेण संयोगमपेक्ष्य मनः प्रयत्ननिमित्तं ज्ञाननिमित्तं च भवति । नर्तक्याः करचरणचालनगानादिव्यवहारा न वस्तुतो युगपद् भवन्ति तेऽपि क्रमेणैव भवन्ति मनस आशुसञ्चारित्वात् तस्य क्रमो न लक्ष्यतेऽलातचक्रवत् परिभ्रमणे खलूभयतो ज्वलद्दण्डवत् ॥३॥

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ॥३॥

सूत्रार्थ :- प्रयत्न का अयोगपद्य होने से एक बार में एक ही प्रयत्न करने से, एक बार में एक ही ज्ञान अयोगपद्य होने से मन एक ही है ॥३॥

भाषार्थ:- *(प्रयत्नायौगपद्यात् - ज्ञानायौगपद्यात्–च–एकम्)* पांचों कर्मेन्द्रियों से एक साथ ही प्रयत्न नहीं होते हैं, सभी ज्ञानेन्द्रियों से पाँच ज्ञान एक साथ नहीं होते हैं । उससे एक मन सिद्ध होता है । क्योंकि क्रम से संयोग की अपेक्षा करके मन प्रयत्न और ज्ञान का निमित्त होता है । नर्तकी का हाथ चलाना, पैर चलाना और गाना आदि जो व्यवहार एक साथ दिखते हुए भी वह एक साथ नहीं होते हैं, वे भी क्रम से ही होते हैं। मन की तीव्र गति होने के कारण उसका क्रम दिखाई नहीं देता है आलात चक्र के समान (पंखे की पंखुड़ियों के समान) घूमते हुए चक्र में और दोनों ओर से जलते जुए दण्ड में अधिक वेग होने के कारण एक ही दिखाई देता है ॥३॥

उच्यन्ते खल्वात्मनो विशिष्टलक्षणानि –

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥४॥

(प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाः - च आत्मनः - लिङ्गानि) प्रसिद्धिर्ज्ञानमात्मनो लिङ्गमित्येव न, किन्त्वत्र सूत्रे पठिता अपि प्राणादयो धर्मास्तस्य लिङ्गानि चकारेणानूच्यन्ते । ज्ञानं तु स्वरूपलिङ्गं यदात्मा ज्ञः । परन्तु प्राणादयो विशिष्टानि लिङ्गानि तत्कृत्यानि परीक्षणार्थानि च यदात्माऽत्र पिण्डेऽस्ति न वेति परीक्षितुम् । आत्माधिकृते पिण्डे प्राणादयो लिङ्गानि सर्वाणि स्युरिति न नियमः, क्वचिन्निकाये सर्वाणि भवन्ति यथा मानवदेहे, कस्मिंश्चित् तदपेक्षया न्यूनानि यथा पशुपक्षिशरीरे कुत्रचिच्चातिन्यूनानि द्वित्रीणि वा यथा सरीसृपे कृमिकीटे वा, भवतु कस्मिंश्चिदेकमेव जीवनमात्रं जीवस्य लिङ्गं यथा वनस्पतिवर्गे, जीवतीति जीवो यत्र जीवस्तत्र जीवनं यत्र वा जीवनं तत्र जीवेनात्मना भवितव्यमेवेति । तत्र लिङ्गेषु खलु प्राणापानौ शरीरान्तःस्थस्य वायोः प्रगमनप्रवृत्तिशक्तिर्बहिर्गतिप्रेरणशक्तिः प्राणोथऽबहिस्तोऽपगमनप्रवृत्तिशक्तिरन्तराकर्षणशक्तिरपानः, यत्रैतौ प्राणापानौ प्रचलतस्तत्रात्मा मनागनुमीयते निमेषोन्मेषौ नेत्रपक्ष्मणोः संयोजनं निमेषस्तयोश्चोद्घाटनमुन्मेषः, यत्र निकाये तौ प्रवर्तेते तत्रात्माऽस्तीति विज्ञेयम्, आत्मशक्त्या हि तौ क्रमेंण भवतः । जीवनं खल्वाहारग्रहणमाहारात्पुष्टिप्राप्तिर्विविधाङ्गविकासो बीजादुत्पादः स्वजातीयबीजात् स्वजातीयपिण्डसन्ततिरित्येतत्सर्वंजीवमन्तरेण न सम्भवति । मनः – मननसाधनमन्तःकरणमपि खल्वात्मलिङ्गं यथा दर्शनसाधनाभ्यां नेत्राभ्यां द्रष्टाऽऽत्मा तथा मननसाधनेन मनसा मन्ताऽऽत्माप्यनुमातव्यः, एकं कार्यं कुर्वन् सन् मध्ये त्यक्त्वाऽन्यं कार्यमारभते तेन मनसा मननकर्ताऽऽत्मा सिद्धयति । गतिः – कश्चित् पिण्डो बाह्यप्रेरणमन्तरेण स्थितः शयानो वा सहसोत्थाय गच्छति तद्गत्याऽऽत्मा तत्पिण्डेऽस्तीति ज्ञायते । इन्द्रियान्तरविकारः - कदाचिदेकेनेन्द्रियेण जिह्वयाऽऽस्वादितं नारङ्गमपक्काम्रं फलं वा पुनर्नेत्रेण द्रष्ट्वा तद्रसस्मृतिवशाज्जिह्वोपरि तद्रसोद्भासो विकारः सञ्जायते तेनेन्द्रियविषयसंवेदी स्मर्ताऽऽत्माऽनुमीयते ताभ्यामिन्द्रियाभ्यां भिन्नः । सुखदुःखेच्छादयस्त्वान्तरिका अनुभूतिगुणा न जडे संतिष्ठन्ते तेषां ज्ञानवच्चेतनेनानुभूयमानत्वात्, ते गुणाः क्वचिदाश्रितास्तदाश्रायश्चेतन आत्मा सिद्ध्यतितराम् ॥४॥

आत्मा का विशिष्ट लक्षण बताते हैं-

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥४॥

सूत्रार्थ :- प्राण-अपान, निमेष-उन्मेष, जीवन, मन, गति, इंद्रिय और अंतर विकार, सुख -दु:ख, इच्छा-द्वेष, प्रयत्न आदि ये आत्मा के लिङ्ग हैं ॥४॥

भाषार्थ:-*(प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाः -च आत्मनः - लिङ्गानि)* ये जो प्रसिद्धि है कि ज्ञान आत्मा का लिङ्ग है, इतना ही लिङ्ग नहीं हैं उसके और भी लिङ्ग हैं। किन्तु इस सूत्र में पढ़े हुए प्राण आदि जो धर्म हैं वे भी आत्मा के लिङ्ग हैं, चकार से कहे जाते हैं। ज्ञान आत्मा का स्वरूप लिङ्ग है (ज्ञान आत्मा का स्वरूप है) कि आत्मा ज्ञाता है । परंतु प्राण आदि उसके विशिष्ट लिङ्ग हैं उसके करने योग्य है और परीक्षण के लिए हैं, आत्मा है या नहीं । उसके लिए ये सब लक्षण स्वीकार किए गए हैं । आत्मा से अधिकृत पिण्ड में प्राण आदि सब के सब हों ये नियम नहीं है (सभी शरीरों में सभी लिङ्ग होंगे ये आवश्यक नहीं है) किसी शरीर में सारे लक्षण होते हैं, किसी और शरीर में मनुष्य शरीर की अपेक्षा न्यून होंगे। जैसे पशु पक्षी के शरीर में कम होते हैं, कहीं-कहीं पर तो बहुत कम ही होते है दो या तीन ही होते हैं। जैसे छिपकली-कृमि-कीट में सारे लक्षण नहीं होते हैं और कोई ऐसा होगा जिसमें केवल मात्र जीवन लक्षण होगा जैसे वनस्पति वर्ग में एक ही लिङ्ग दिखता है, जीवता है श्वास लेता है वह जीव है । और जहां जीव होता है वहाँ जीवन होता है । जहां जीवन होता है वहाँ जीवन से आत्मा सिद्ध होना चाहिए । उन लिंगों में जो प्राण और अपान है ये शरीर के अन्त: स्थित वायु का गमन और आगमन है (ऐसी शक्ति जिससे प्राण आ रहा है और जा रहा है वो प्राण-अपान है) बाहर फेंकने वाली जो शक्ति है वो अपान है और अंदर खेंचने वाली शक्ति प्राण है, प्राण का अपगमन अंदर वाले का बाहर करने की प्रवृत्ति शक्ति प्राण है और जो भीतर खींचने की शक्ति है वो अपान है। जहां पर ये दो प्राण और अपान चलते है वहाँ आत्मा होती है निश्चय से अनुमान से ज्ञात होता है। निमेष और उन्मेष नेत्र पक्षों का जो संयोजन है, पलक का जुड़ जाना निमेष और उनका खुल जाना उन्मेष है। जिस शरीर में ये दोनों हैं आत्मा की शक्ति से ही दोनों कार्य होते हैं, जहां आहार का ग्रहण होता है और आहार से फिर पुष्टि की प्राप्ति होती है, विविध अंगों का विकास होता है बीज से बीज का अपनी जाति के समान, दूसरे पिण्ड की संतति का विस्तार होता है, ये सारा के सारा बिना जीवन के संभव नहीं है । मन मनन करने का साधन अंत:करण यह भी आत्मा का लिङ्ग है। जैसे देखने के साधन नेत्र है उनका द्रष्टा आत्मा है। उसी प्रकार मनन करने का साधन मन से मनन करने वाला आत्मा का भी अनुमान कर लेना चाहिए, एक कार्य

को करता हुआ, बीच में छोड़कर अन्य कार्य को आरंभ कर देता है, उससे मन के द्वारा मननकर्त्ता आत्मा की सिद्धि होती है। गति कोई पिण्ड बाह्य प्रेरणा के बिना स्थिर अथवा सोया हुआ सहसा उठकर चल देता है उस गति से आत्मा उस पिण्ड में है, इस प्रकार जाना जाता है। इंद्रियान्तर विकार कभी एक इंद्रिय जिह्वा से स्वाद लिए हुए नारंगी का फल है या पके हुए आम को पुन: देखकर के उस रस की स्मृति के कारण जिह्वा के ऊपर उस रस का आभास=विकार उत्पन्न हो जाता है, इससे इंद्रिय विषय को जाना हुआ स्मरण करने वाला आत्मा का अनुमान होता है, जो उन दोनों इंद्रियों से भिन्न है। सुख-दु:ख आदि तो आंतरिक अनुभूति गुण है, जड़ में नहीं रहते हैं, उनका ज्ञान वाले होने चेतन के द्वारा अनुभूति के कारण, वे गुण किसी के आश्रित होते हैं और वह आश्रय चेतन आत्मा है, यह अच्छी प्रकार सिद्ध होता है ॥४॥

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥५॥

(तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते) तस्यात्मनो द्रव्यत्वं नित्यत्वं च वायुना तुल्यं व्याख्यातं वेदितव्यम् । अद्रव्यत्वेनान्यासमवायिद्रव्यानाश्रितत्वेन क्रियावत्त्वेन सर्वेन्द्रियैर्मनसा च कार्यं विधातुं निजप्रयत्नवत्त्वेन क्रियाकरणशक्तिमत्त्वेन ज्ञानेच्छादिगुणवत्त्वेन द्रव्यत्वं निरवयवत्त्वेन नित्यत्वं विज्ञेयम् ॥५॥

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥५॥

सूत्रार्थ :- उस आत्मा का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के तुल्य जानना चाहिए ॥५॥

भाषार्थ:- *(तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते)* उस आत्मा का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के समान व्याख्यात जानना चाहिए। अद्रव्यत्व= अन्य समवायिरूप अन्य द्रव्य के आश्रित न होने के कारण तथा क्रियावत्व= सभी इंद्रियों के साथ मन से कार्य लेना, अपने प्रयत्न वाला होने से या क्रिया को कराने की शक्ति वाला होने से ज्ञान, इच्छादि गुण वाला होने से द्रव्यत्व है अवयवों से रहित होने से उसका नित्यत्व जानना चाहिए ॥५॥

आत्मनोऽनुमाने विप्रतिपत्तिः प्रदर्श्यते त्रिभिः सूत्रैः–

यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्ग न विद्यते ॥६॥

(यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे) यज्ञदत्तशरीरे चक्षुरादीन्द्रियसन्निकर्षे सति (प्रत्यक्षाभावात्) तदधिष्ठातुस्तदन्तरे वर्तमानस्य वाऽऽत्मनः प्रत्यक्षाभावात्, न ह्यात्मा प्रत्यक्षं भवति । तस्मात् (दृष्टं लिङ्गं न विद्यते) दृष्टं चाक्षुषं लिङ्गं नास्ति, यथा खलु

महानसे सन्निकर्षेऽग्निः प्रत्यक्षीक्रियते धूमेन सार्द्धं धूमस्तस्य दृष्टं लिङ्गमन्यत्राप्रत्यक्षेऽग्नौ धूमेन दृष्टेन लिङ्गेनाग्निरनुमीयते न तथा महानससदृशे यज्ञदत्तशरीरे धूमेनेव दृष्टेन लिङ्गेनात्माऽनुमातुं युज्यते, न च तल्लिङ्गेनात्मा प्रत्यक्षतामापद्यते । तस्मात्तस्यानुमानं न युक्तम् ॥६॥

आत्मा के अनुमान में विरोध प्रदर्शित किया जाता है तीन सूत्रों के द्वारा -

यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्ग न विद्यते ॥६॥

सूत्रार्थ :- यज्ञदत्त का शरीर देखने पर आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से आत्मा का कोई दृष्ट लिङ्ग नहीं है। (जैसे कि धूम्र अग्नि का) ॥६॥

भाषार्थ:- *(यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे)* यज्ञदत्त के शरीर में चक्षु आदि इंद्रियों के सन्निकर्ष होने पर *(प्रत्यक्षाभावात्)* इस के अधिष्ठाता का उसके अंदर विद्यमान आत्मा का प्रत्यक्ष का अभाव होने से, आत्मा प्रत्यक्ष नहीं होता । इसलिए*(दृष्टं लिङ्गं न विद्यते)* दृष्ट=चाक्षुष लिङ्ग नहीं है, जैसे पाकशाला में सन्निकर्ष अग्नि के साथ धुएं का प्रत्यक्ष किया जाता है, क्योंकि धुआं उसका दृष्ट लिङ्ग है, अन्यत्र अग्नि के प्रत्यक्ष न होने पर भी धुएँ रूप दृष्ट लिङ्ग से अग्नि का अनुमान हो जाता है, वैसा पाकशाला के सदृश यज्ञदत्त के शरीर में धुएँ रूप दृष्ट लिङ्ग से ही आत्मा का अनुमान करना युक्त नहीं है, और उस लिङ्ग से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता । इसलिए उसका अनुमान करना युक्त नहीं है ॥६॥

सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः ॥७॥

(सामान्यतो दृष्टात् – च – अविशेषः) सामान्यतो दृष्टादनुमानाच्चापि खल्वविशेषो न वस्तुविशेष आत्मा सिद्ध्यति यतो हि ज्ञानेच्छादयो गुणास्तैर्गुणीत्यनुमीयते गुणाः खलु द्रव्यमाश्रयन्ति, भवतु तद्युक्तं किमपि द्रव्यमदृष्टं तत्किमिति न वक्तुं शक्यते, तस्मात् तददृष्टलिङ्गैः स आत्मेति बोधः कथं स्यात् ॥७॥

सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः ॥७॥

सूत्रार्थ :- सामान्यतो दृष्ट अनुमान से भी किसी एक सामान्य द्रव्य का ही इच्छादि गुणों द्वारा बोध होता है, आत्मा का नहीं ॥७॥

भाषार्थ:= *(सामान्यतो दृष्टात् – च – अविशेषः)* सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी अविशेष=वस्तु विशेष आत्मा की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि ज्ञान, इच्छा आदि गुणों के द्वारा उनके गुणी का अनुमान किया जाता है, गुण किसी न किसी द्रव्य के आश्रित रहते

हैं, किन्तु उससे युक्त कोई द्रव्य है जो कि अदृष्ट है परंतु वह कौन सा है? यह कहा नहीं जा सकता, इसलिए उस अदृष्ट लिङ्ग से वह आत्मा है, इस प्रकार बोध कैसे होवे ? ॥७॥

पूर्वपक्षनिष्कर्षः–

तस्मादागमिकः ॥८॥

(तस्मात् – आगमिकः) तस्मात् स आत्मा प्रत्यक्षानुमानाभ्यामसिद्धः सन् खल्वागमसाध्य एवेति, आगमे तु विद्यते – आत्मा नाम्ना पदार्थः । "यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।" (यजु. ४०।७) "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः " (बृ. ४।४।१२) "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" । (कठ. १।३।३) "तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं सम्प्रजानीते ।" (योग . १।३६ व्यासः) । अतस्तत्रात्मनि लिङ्गप्रदर्शनं न युक्तं किन्त्वागमत एव स स्वीकर्त्तव्यः ॥८॥

पूर्वपक्ष का निष्कर्ष-

तस्मादागमिकः ॥८॥

सूत्रार्थ :- क्योंकि आत्मा प्रत्यक्ष अनुमान आदि से नहीं जाना जाता, इसलिए आत्मा केवल शब्द प्रमाण से ही सिद्ध है ॥८॥

भाषार्थ:= *(तस्मात् – आगमिकः)* इसलिए वह आत्मा प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से असिद्ध होता हुआ शब्द प्रमाण से ही साध्य है, शब्द प्रमाण में तो है, "आत्मा नाम से पदार्थ है" *"यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।" (यजु. ४०।७)* जो विद्वान् संन्यासी लोग प्राणिमात्र को अपने आत्मा के तुल्य जानते हैं (यजु. ४०।७) । *"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः " (बृ. ४।४।१२)* "अगर कोई अपने आत्मा को पहचान ले कि मैं हूँ" (बृ. ४।४।१२) । *"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" । (कठ. १।३।३)* आत्मा रथ का स्वामी है शरीर रथ ही है" (कठ. १।३।३)। *"तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं सम्प्रजानीते ।" (योग . १।३६ व्यासः)* "उस अणुमात्र आत्मा को जानकार मैं हूँ इस प्रकार जानता हूँ" (योग . १।३६ व्यासः) । इसलिए वहाँ आत्मा के विषय में लिङ्ग प्रदर्शन करना ठीक नहीं है, किन्तु आगम से ही स्वीकार करने योग्य है ॥८॥

समाधत्ते –

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥९॥

(अहम् – इति न आगमिकम्) 'अहम्' इति स्वानुभूतिरूपं प्रत्यक्षविषयकमात्मनः, आत्मा ह्यनुभवति यदहमस्मि, तथा मम मदीयमात्मीयमिति च साम्यं लोकेऽपि

तस्मादात्मस्वरूपमहमिति प्रत्यक्षानुभूतमात्मनाम्, न ह्यागमलक्ष्यं वक्तुं शक्यते, भवतु खल्वागमोऽपि तत्र प्रमाणं, (शब्दस्य व्यतिरेकात्) शब्दः खल्वागमस्तस्य व्यतिरेकाद् व्यतिरिक्तत्त्वाद् विलक्षणत्वात्, विलक्षणो ह्यागमः प्रत्यक्षादहम्प्रत्ययात् सति प्रत्यक्षे किं प्रमाणं नान्यप्रमाणमपेक्ष्यते । प्रत्यक्षविषयत्वमस्ति स्वस्मिन्ननुभूयमानत्वात्, तत्पोषणार्थं भवतु खल्वागमो नात्र क्षतिः परन्तु न केवलमागममात्रमात्मनि प्रमाणं किन्तु प्रत्यक्षं स्वकीयं प्रधानमित्यर्थः । यद्वा 'अहम्' इति प्रत्यक्षीभूतस्यात्मशब्दस्य व्यतिरेकाद् भिन्नत्वादागमतः, नागमिकं प्रमाणमेव किन्तु सर्वप्रत्यक्षमत्र सर्वैरात्मभिः प्रत्यक्षमनुभूयते स्वात्माहमिति ॥ शङ्करमिश्रेणोपस्कारवृत्तौ व्यतिरेकः पृथिव्यादितोऽहंशब्दस्य व्याख्यातः स न युक्तः, अत्र तु 'तस्मादागमिकः' इति पूर्वपक्षस्य समाधानं विहितं न ह्यहंशब्दः पृथिव्यादिषु घटमान इति पूर्वपक्षः, तथाकृते व्याख्यानेऽपि न पूर्वपक्षनिवृत्तिर्भवति, वस्तुतोऽत्रागमप्रमाणसाध्य एवेति पूर्वपक्षनिवृत्तये 'अहम्' इति प्रत्यक्षाद् व्यतिरेक आगमस्येति तात्पर्यं तथा कृत्वा नागममात्रं प्रमाणमिति पूर्वपक्षो निराकृतः ॥९॥

अब सिद्धांती समाधान करता है-

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥९॥

सूत्रार्थ :- "अहं" इस अनुभूति से आत्मा शब्द का भेद होने से जीवात्मा केवल शब्द प्रमाण से ही सिद्ध नहीं है। बल्कि पहले प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है ॥९॥

भाषार्थ:- *(अहम् – इति न आगमिकम्)* 'अहं' यह जो अनुभूति है यह प्रत्यक्ष आत्मा का प्रत्यक्ष विषयक है आत्मा प्रत्यक्ष रूप से जो जान रहा है उसी के लिए वह 'अहं' या 'मैं' का प्रयोग करता है। 'मैं' की जो अनुभूति करता है वह आत्मा ही करता है, जो कि 'मैं हूँ' तथा उसी प्रकार से लोक में जो आत्मा का स्वरूप है, 'मैं हूँ' यह प्रत्यक्ष आत्मा का अनुभूत विषय है, आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभूति होने से वह केवल आगम से जाना जाता हो ऐसा नहीं है। आगम शब्द प्रमाण भी उसमें हो सकता है *(शब्दस्य व्यतिरेकात्)* शब्द जो है आगम है उसका व्यतिरेक=भिन्न होने से, उससे अतिरिक्त=विलक्षण होने से, उससे आगम विलक्षण है यह जो प्रत्यक्ष 'अहं' प्रत्यय है उससे यह भिन्न है, इस प्रकार प्रत्यक्ष होने पर क्या और प्रमाण चाहिए? अर्थात् अन्य कोई दूसरा प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, प्रत्यक्ष विषय वाला है, अपने आप में अनुभूति करने वाला होने से। 'मैं हूँ' जब ये अनुभूति सिद्ध हो जाती है अब इसको सिद्ध करने के लिए कोई शब्द प्रमाण रहे तो

कोई आपत्ति नहीं है, इसलिए केवल आत्मा की सिद्धि में शब्द प्रमाण ही केवल प्रमाण नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण इसमें मुख्य है, अथवा 'अहं' यह जो प्रत्यक्षीभूत शब्द है (यह उसका वाचक है जो आत्मा की अपनी अनुभूति है) 'मैं' यह जो शब्द है ये व्यतिरेक है आगम प्रमाण से भिन्न अर्थ का वाचक है। 'अहं' यह जो प्रत्यक्षीभूत आत्मा के लिए है ये शब्द, इसके भिन्न होने से (अपने आप में अलग होने से) शब्द प्रमाण की ही अपेक्षा नहीं रखता है किन्तु सभी का यहाँ जो प्रत्यक्ष है सभी आत्माओं के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है। मैं ही अपनी आत्मा हूँ। शंकरमिश्र ने जो उपस्कार वृत्ति में पृथ्वी आदि से भिन्न होने के कारण आत्मा है ऐसा अर्थ किया है, वह ठीक नहीं है। ये जो पूर्वपक्ष था, 8 वे सूत्र में, उसका समाधान है इसमें। 'अहं' शब्द पृथ्वी आदि में घटित हो रहा है, ऐसा पूर्वपक्ष का आशय नहीं है, इस कारण से वैसा व्याख्यान करने पर भी पूर्व पक्ष की निवृत्ति नहीं हो पाएगी। वस्तुत: यहाँ आत्मा को आगम से ही माना गया है और किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं माना। इस पूर्वपक्ष को हटाने के लिए, इस प्रत्यक्ष से व्यतिरेक=भिन्न है, आगम से भिन्न है ये आगम का तात्पर्य है। इस प्रकार से यहाँ आगम मात्र ही प्रमाण नहीं है, ऐसा करके पूर्वपक्ष का निराकरण किया है ॥९॥

पुनरुच्यते –

यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥१०॥

दृष्ट आत्मनि लिङ्गे एक एव दृढत्वात्प्रत्यक्षवत्प्रत्ययः ॥११॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति –

(यदि – अन्वक्षं दृष्टम्) यदि खल्वन्वक्षं दृष्टं दर्शनं स्याद् यथा लोके (अहं देवदत्तः - अहं यज्ञदत्तः – इति) तदा (आत्मनि दृष्टे) आत्मनि 'अहम्' इति खल्वात्मनि प्रत्यक्षे सति। पुनः (लिङ्गे दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः – एकः एवः) लिङ्ग्यतेऽनुमीयते येन तल्लिङ्गमनुमानं तस्मिन्ननुमाने दार्ढ्यात् प्रत्यक्षमिव प्रत्ययो बोधो यद्वा प्रत्यक्षवान् प्रत्यक्षपूर्वको बोध एक एवाभिन्नः स्यात्, सरोवरं गच्छता जनेन सरोवरे प्रत्यक्षे कृते सत्यपि तत्र स्थितैर्वकवलाकभिश्च लिङ्गैरनुमीयते सरोवरोऽवश्यमिति तस्य दृढज्ञानं भवति तथैव 'अहम्' इति प्रत्यक्षे खल्वात्मनि सत्यपीच्छादिलिङ्गैरागमेन च तस्य दृढं ज्ञानं भवति यद्दस्ति खल्वात्मा ॥१०-११॥

पुन: कहते हैं-

यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥१०॥

दृष्ट आत्मनि लिङ्गे एक एव दृढत्वात्प्रत्यक्षवत्प्रत्ययः ॥११॥

सूत्रार्थ :- यदि प्रत्यक्ष देख लिया कि मैं देवदत्त हूँ, यज्ञदत्त हूँ । तो आत्मा का ऐसा प्रत्यक्ष हो जाने पर, अनुमान का प्रयोग करने पर भी, एक ही प्रत्यक्ष के तुल्य ज्ञान होगा कि आत्मा है, ऐसा करने से पहली बात पक्की हो जाएगी, अतः कोई हानि नहीं ॥१०-११॥

-दोनों सूत्रों की एक वाक्यता है।

भाषार्थ:- *(यदि – अन्वक्षं दृष्टम्)* यदि प्रत्यक्ष अथवा दृष्ट ज्ञान होवे जिस प्रकार से लोक में *(अहं देवदत्तः - अहं यज्ञदत्तः – इति)* मैं देवदत्त हूँ या यज्ञदत्त हूँ यह जो होता है तब *(आत्मनि दृष्टे)* आत्मा में "मैं हूँ" ऐसी अनुभूति होने के पश्चात् उस *(लिङ्गे दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः – एकः एवः)* दृष्ट लिंग के हो जाने पर लिंग का अनुमान करने पर, जिससे लिंगित किया जाता है अनुमान किया जाता है उसे लिङ्ग कहते हैं, उस लिङ्ग के होने पर अर्थात् अनुमान करते समय उस अनुमान में दृढ़ता होने पर प्रत्यक्ष के समान बोध=अनुभूति होती है । अथवा प्रत्यक्ष पूर्वक बोध होता है जो कि एक ही है अन्य अर्थ का वाचक नहीं है । जैसे सरोवर को जाते हुए व्यक्ति के द्वारा 'सरोवर आ गया ऐसा प्रत्यक्ष' सरोवर का प्रत्यक्ष हो जाने पर वहाँ पर स्थित बगुला और वतख आदि लिंगों के द्वारा अनुमान हो जाता है कि यह तालाब=सरोवर है । हाँ ठीक यही सरोवर है वो, उसका ज्ञान दृढ़ हो जाता है । उसी प्रकार 'मैं हूँ' इस प्रत्यक्ष के हो जाने पर आत्मा के इच्छा आदि लिङ्ग के द्वारा और आगम के द्वारा भी उसका दृढ़ ज्ञान होता है, वो ज्ञान होता है कि कोई आत्मा है, इस प्रकार से कोई अलग अर्थ कि पुष्टि नहीं होती है ॥१०-११॥

(जैसे कभी हम किसी के घर के निकट जाते हैं, किसी व्यक्ति से साक्षात् मिल लेते हैं वहीं खड़े हो रहे होते हैं पर पता नहीं चल रहा होता है कि यह वही है या नहीं फिर कोई न कोई लक्षण ढूंढते रहते हैं अथवा उस सामने खड़े व्यक्ति से नाम पूछ लेते हैं कि आपका नाम ये तो नहीं है, जब वह हाँ करता है कि इस नाम वाला मैं ही हूँ तो उसके नाम बताने से पहले वह आधा तो जान ही जाता है कि यह किसका घर है और मुझे किस से मिलना है, तो प्रत्यक्ष ज्ञान तो हो रहा था वहाँ पर बस थोड़ा सा संशय था, उस व्यक्ति से नाम की पुष्टि करा देने से ज्ञान नया नहीं हो रहा होता बल्कि दृढ़ हो जाता है । ऐसे ही मैं जान रहा हूँ, ज्ञान तो वस्तुत: उसका ही है, मैं हूँ ये जो अनुभूति है ये आत्मा की ही है इस अनुभूति को शब्द प्रमाण या अनुमान प्रमाण इसको सिद्ध कर रहा है, अपने को प्रत्यक्ष होने पर भी स्पष्टता नहीं हो रही है, जैसे किसी को देखकर

पूरी स्पष्टता नहीं हो रही थोड़ी सी शंका बाकी रहती है, तभी नाम पूछ कर पक्का किया जाता है । अर्थात् प्रत्यक्ष होने पर भी थोड़ी सी शंका होने पर बचे हुए भाग को शब्द अथवा अनुमान प्रमाण से सिद्ध कराया जाता है)

शङ्कते सूत्रद्वयेन –

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ॥१२॥

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१३॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति –

(देवदत्तः गच्छति यज्ञदत्तः गच्छति इति उपचारात्शरीरे प्रत्ययः)यदुक्तमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति खल्वहं शब्द आत्मनि प्रत्यक्षं तन्न युक्तं यतो हि यथा देवदत्तोऽहं यज्ञदत्तोऽहं तथा "देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छति" इत्यपि तूपचर्यते । स एष गमनप्रत्ययः साक्षाच्छरीरे वर्तते, शरीरं हि गमनक्रियाया अधिकरणं तद्धि स्थानात्स्थानान्तरं गच्छति न ह्यात्मा तथैव देवदत्ते यज्ञदत्ते वाऽहमिति प्रत्ययः कथं स्यादात्मनि, कथं न शरीरे । यतः स एषः (उपचारः सन्दिग्धः तु) उपचार उभयविधो देवदत्तेऽहंरूपो गमनरूपश्च सन्दिग्धस्तु जातः कथं ह्यात्मप्रत्यक्षोऽहम्प्रत्ययः ॥१२-१३॥

दो सूत्रों से शंका उठाते हैं-

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ॥१२॥

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१३॥

सूत्रार्थ :- देवदत्त जाता है यज्ञदत्त जाता है ऐसा कथन होने से शरीर का ही ज्ञान होता है आत्मा का नहीं । इस प्रकार आपका कथन सन्दिग्ध है ॥१२-१३॥

दोनों सूत्रों की एक वाक्यता है-

भाषार्थ:- *(देवदत्तः गच्छति यज्ञदत्तः गच्छति इति उपचारात्शरीरे प्रत्ययः)* ये जो पीछे सूत्र में कहा- साक्षात् मैं देवदत्त हूँ यज्ञदत्त हूँ' यहाँ 'अहं' शब्द आत्मा में प्रत्यक्ष कथन के लिए है वह ठीक नहीं है, क्योंकि मैं देवदत्त हूँ या यज्ञदत्त हूँ यहाँ जो कहा जा रहा है और उससे आत्मा का अर्थ लिया जा रहा है, ऐसी बात नहीं है "देवदत्त जाता है यज्ञदत्त जाता है" ऐसा भी तो कहा जाता है, और वहाँ पर शरीर ही आता जाता है और ये जो गमन की प्रतीति है वह शरीर में साक्षात् होती है, शरीर ही गमन क्रिया का अधिकरण है वह शरीर ही एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है, आत्मा तो जाता नहीं है उसी प्रकार से जैसे बाहर देवदत्त यज्ञदत्त कथन के बाद जाने वाला शरीर ही होता है वैसे ही हम यहाँ देवदत्त या यज्ञदत्त इस कथन में भी आत्मा में होवे और शरीर में क्यों नहीं होवे? इसलिए यह जो व्यवहार है कथन है उपचार है वह दोनों प्रकार का है देवदत्त में

'अहं' का भी बोधक है आत्मा का भी बोधक है और वही गमन प्रत्यय शरीर का भी है, इसलिए संदिग्ध हो गया ये, एकांतिक नहीं रहा। तो फिर यह जो अहं प्रतीति है वह आत्मा का प्रत्यक्ष कराने वाला कैसे हो सकता है ॥१२-१३॥

समाधत्ते –

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः ॥१४॥

(अहम् – इति प्रत्यगात्मनि भावात्) 'अहम्' इति प्रत्ययो बोधः स्वात्मनि भवतीति तस्मात् तथा (परत्राभावात्) परस्मिन्न भवतीति यतः (अर्थान्तरप्रत्यक्षः) अर्थान्तरं ह्यात्मा तत्प्रत्यक्ष आत्मप्रत्यक्षो न शरीरप्रत्यक्षः । शरीरं हि जडं न हि जडे 'अहम्' इत्यनुभूतेर्योग्यता तस्यानुभूतिशून्यत्वात् । आत्मनिर्गते शरीरेऽहं देवदत्तइत्यनुभूतिर्न भवति न चोत्थाय गच्छति तत् ॥१४॥

अब समाधान करते हैं-

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः ॥१४॥

सूत्रार्थ :- मैं हूँ इस प्रकार का अनुभव आन्तरिक आत्मा में होने से, शरीर में न होने से यह आत्मा का ही प्रत्यक्ष है कि मैं हूँ ॥१४॥

भाषार्थः- *(अहम् – इति प्रत्यगात्मनि भावात्)* मैं हूँ ये जो प्रतीति होती है बोध होता है वह अपनी आत्मा में होता है इसलिए *(परत्राभावात्)* उस प्रकार से दूसरे में नहीं होता है, जिससे *(अर्थान्तरप्रत्यक्षः)* शरीर से जो भिन्न आत्मा है वही प्रत्यक्ष होता है। आत्मा का ही प्रत्यक्ष होता है शरीर का नहीं, शरीर जड़ है उसमें 'मैं हूँ' ऐसी अनुभूति करने की योग्यता क्षमता नहीं होती है उसमें अनुभूति नहीं होने के कारण। आत्मा जिस शरीर से निकाल जाती है उस शरीर से 'मैं हूँ' की या मैं देवदत्त हूँ की अनुभूति नहीं होती है और न ही वह शरीर उठ कर के जाता है ॥१४॥

पुनः शङ्कते –

देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहंकारः ॥१५॥

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१६॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति –

(देवदत्तः गच्छति इति उपचारात्) देवदत्तो गच्छतीति यथोपचर्यते शरीरे व्यवह्रियते तथा हि (अहंकारः अभिमानात्) अहङ्कारोऽपि तु खल्वभिमन्यते शरीरे 'अहं

गौरोऽहं कृष्णः, अहं स्थूलोऽहं कृशः। एवं गमनमिवाहंकारोऽपि शरीरे प्रवर्तते तस्मात् सोऽहंकारः (शरीरप्रत्यक्षः) शरीरप्रत्यक्ष उपलभ्यते । तस्माद् यः खलूक्तो हेतुरहङ्कारः प्रत्यगात्मनि, भवतु प्रत्यगात्मन्यपि परन्तु शरीरेऽपि तु भवति तस्मात् (उपचारः सन्दिग्धः तु) स एष उभयविधो व्यवहारः 'अहम्' इति प्रत्ययस्य प्रत्यगात्मनि शरीरे च विद्यमानत्वात् सन्दिग्धस्तु जातः, क्व वास्तविकः क्व चावास्तविकः ॥१५-१६॥

फिर शंका करते हैं-

देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहंकारः ॥१५॥

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१६॥

दोनों सूत्रों की एक वाक्यता है-

सूत्रार्थ :- देवदत्त जाता है इस व्यवहार के समान 'अहं' अनुभूति भी शरीर में होने से, अहं अनुभूति शरीर का प्रत्यक्ष है इसलिए 'अहं' का अर्थ आत्मा कहना अनेकान्तिक है ॥१५-१६॥

भाषार्थ:-*(देवदत्तः गच्छति इति उपचारात्)* जिस प्रकार से देवदत्त जाता है इसका उपचार होता है शरीर में या शरीर के प्रति व्यवहार होता है वैसे ही *(अहंकारः अभिमानात्)* अहंकार भी तो होता है, इस विषय में भी तो कहा जाता है कि "मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं मोटा हूँ, या पतला हूँ" (तो इस विषय में भी अहंकार होता है पर ये तो निश्चित है कि गोरा-काला नहीं हो सकता शरीर से अतिरिक्त। यहाँ जो अहंकार हो रहा है वह शरीर विषयक ही है ऐसे ही "जाता हूँ" यह भी हो जाएगा, जाने की क्रिया शरीर में हो रही है) इस प्रकार गमन के समान भी अहंकार शरीर में प्रवृत्त होता है, इसलिए वो अहंकार *(शरीरप्रत्यक्षः)* शरीर प्रत्यक्ष वाला उपलब्ध होता है इसलिए वह जो हेतु अंतरात्मा में अहंकार वाला कहा। हो सकता है अपनी आत्मा में हो भी परंतु शरीर में भी तो होता है वो। अतः जो दोनों प्रकार का व्यवहार है 'मैं हूँ', यह जो अनुभूति है प्रत्यय है, शरीर में भी और आत्मा में भी दोनों में विद्यमान होने से संदिग्ध है, किस को वास्तविक कहें या कहाँ पर अवास्तविक कहें यह कैसे निर्णय होगा ? एक का नहीं कह सकते ॥१५-१६॥

समाधत्ते –

न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः ॥१७॥

(शरीरविशेषात् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोः ज्ञानं विषयः न तु) शरीरभेदात् शरीरभेदं प्राप्य यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयो न खलु भवति । यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयोऽहं सुखो दुःखो जानेऽहमिच्छामि वेत्यादिज्ञानं विषयः शरीरभेदं शरीरस्य

गौरत्वकृष्णत्वादिक्रमाश्रित्य नैव भवति यदि ह्यहं सुखी दुःखीच्छामीत्येवमादिज्ञानं गुणः शरीरस्य शरीरभेदमाश्रित्य तर्हि गौरशरीरवतो देवदत्तस्य सदा सुखानुभूत्या भवितव्यम्, न च तथा भवति । गौरः सुखिनं च दुःखिनं चानुभवत्यात्मानं तस्मादहं सुखी दुःखीच्छामीत्येवं ज्ञानं गुणो न शरीरस्य । अथ च यथा शरीरगुणा रूपादयस्तु शरीरे स्थिरा भवन्ति परन्तु सुखदुःखादयास्तु पर्यायेणानुभूयन्ते कदाचित् सुखं कदाचित् दुःखं कदाचिदिच्छा कदाचिद् द्वेषश्च त एते पर्यायेण नानुभूयेरन् । तथा यदि ज्ञानं विषयः शरीरस्य स्यात्तर्हि शरीरस्य रूपादिगुणाः शरीरे गृह्यमाणे यथा नेत्रादिभिरिन्द्रियैगृह्यन्ते तथा ज्ञानं गुणोऽपि शरीरे गृह्यमाणे तथैवेन्द्रियेण गृह्येत न च गृह्यते । तस्मादहं सुखी दुःखीच्छामि द्वेष्मि जाने इति ज्ञानं विषयः शरीरादर्थान्तरस्यात्मनो गुणोऽस्तीति सुतरां सिद्धम् । शङ्करमिश्रादिभिः सूत्रं न सम्यग्व्याख्यातम् ॥१७॥

समाधान करते हैं-

न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः ॥१७॥

सूत्रार्थ :- केवल शरीर के आधार पर मैं यज्ञदत्त, मैं विष्णुमित्र, सुखी-दुःखी आदि अनुभूति शरीर का विषय नहीं हो सकती, इसलिए अलग आत्मा को मानना चाहिए जो ज्ञानादि गुणों वाला है ॥१७॥

भाषार्थ:- *(शरीरविशेषात् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोः ज्ञानं विषयः न तु)* शरीर के भेद को प्राप्त होकर यज्ञदत्त और विष्णुमित्र का ज्ञान विषय नहीं होता है, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र का जो ज्ञान का विषय होता है कि मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, चाहता हूँ इत्यादि जो ज्ञान का विषय है, शरीर के गोरेपन या कालेपन के आश्रय से नहीं होता है, यदि मैं सुखी हूँ या दुःखी हूँ यह ज्ञान गुण शरीर के भेद के गुण को लेकर के होवे तो जो गोरे शरीर वाला देवदत्त है वह सदा सुखी ही रहना चाहिए और कृष्ण शरीर में जो दुःखी हो रहा है उसके जैसे दुःखी नहीं होना चाहिए, उसी प्रकार से जो कृष्ण रंग वाला है दुःखी कह रहा है बाद में उसे सुखी नहीं होना चाहिए (एक के गुण दूसरे में नहीं दिखाई देने चाहिए, गोरे को काले वाले की अनुभूति नहीं होगी और गोरे को काले वाले की अनुभूति नहीं होनी चाहिए, पर दोनों को दोनों की अनुभूति हो जाती हैं इसलिए अनुभूतियाँ शरीरों के गुणों के आधार पर नहीं है) गोरा भी सुखी और दुःखी अपने आप को अनुभव करता है, इसलिए मैं सुखी हूँ दुःखी हूँ जानता हूँ आदि यह जो ज्ञान गुण हैं यह शरीर का नहीं है और जो शरीर के गुण रूप आदि हैं ये शरीर में एक ही जैसे सदा स्थिर रहते हैं परंतु कभी सुख कभी दुःख पर्याय से अनुभव में आते रहते हैं, कभी सुख

होता है कभी दु:ख होता है कभी प्राप्ति की इच्छा होती है कभी उसी को छोड़ने की इच्छा होती है इस प्रकार से पर्याय से नहीं होनी चाहिए (एक बार एक में जो गुण उठ गए वैसे ही रहने चाहिए)। तथा यदि ज्ञान विषय शरीर का होवे तब शरीर के जो गुण होते हैं शरीर में गृहीत होते हुए ज्ञात होते हैं, जैसे नेत्र आदि इंद्रियों से गृहीत होते हैं शरीर के जो गुण है रूपादि। ऐसे ही ज्ञान गुण भी शरीर के गृहीत होने पर इंद्रियों से गृहीत होना चाहिए था पर गृहीत नहीं होता है, इसलिए मैं सुखी हूँ, दु:खी हूँ, जानता हूँ, द्वेष करता हूँ या राग करता हूँ आदि जो ज्ञान विषय है वह शरीर से भिन्न आत्मा का गुण हैं, यह ठीक प्रकार से सिद्ध हो गया। शंकर मिश्र आदि ने इस सूत्र की व्याख्या ठीक से नहीं की है ॥१७॥

आत्मसिद्धिमुपसंहरति –

अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभिचाराद् विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥१८॥

(अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभिचाराद् विशेषसिद्धेः न आगमिकः) 'अहम्' इति प्रत्ययो ज्ञानगुणो मुख्यः प्रधानो योग्यः साक्षादनुभाव्यः प्रत्यक्षसिद्धः खल्वात्मन एव तस्मात् तस्यात्मनि मुख्यत्वयोग्यत्वाभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभिचाराद् यथा शब्दो व्यतिरेकात् पृथिव्यादितो व्यतिरिक्तत्वात् परिशेषात् परिशेषस्याव्यभिचारादननैकान्तिकत्वादाकाशस्य गुणस्तथा 'अहम्' इति प्रत्ययो ज्ञानगुणोऽपि व्यतिरेकात् परिशेषात् परिशेषस्य चाव्यभिचारादननैकान्तिकत्वादात्मनो हि गुणः, इतीत्थं विशेषसिद्धेः शरीराद् विशिष्टस्यभिन्नस्याहन्त्ववतोऽहमितिप्रत्यक्षानुभूतिमत आत्मनः सिद्धत्वान्न स आत्मा केवलमागमिक आगममात्रसाध्यः ॥१८॥

अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभिचाराद् विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥१८॥

सूत्रार्थ :- अहं प्रत्यय के प्रधान और प्रत्यक्ष गम्य होने से विशेष पदार्थ आत्मा की सिद्धि होने में केवल शब्द प्रमाण से ही सिद्ध नहीं होता, शब्द के समान व्यतिरेक और अव्यभिचार इन दो हेतुओं से ॥१८॥

भाषार्थ:-*(अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभिचाराद् विशेषसिद्धेः न आगमिकः)* 'अहं' यह जो प्रत्यय है ज्ञान गुण है ये मुख्य है प्रधान है और योग्य अर्थात् साक्षात् अनुभव करने योग्य है प्रत्यक्ष सिद्ध आत्मा का ही है उस आत्मा में प्रधानता और प्रत्यक्षता के द्वारा शब्द के समान व्यतिरेक और अव्यभिचार होने से, व्यतिरेक=अलग होने से शब्द जो है वह पृथ्वी आदि का गुण नहीं है जैसे शब्द व्यतिरेक होने से भिन्न होने से पृथ्वी आदि से भिन्न होने से अलग होने से और परिशेष में कोई

व्यभिचार न होने से अर्थात् अनैकांतिक न होने से आकाश का गुण है, उसी प्रकार से यहाँ जो प्रतीति ज्ञान गुण है और व्यतिरेक होने से परिशेष होने से और परिशेष के अव्यभिचारी होने से एक ही पक्ष में रहने से आत्मा का ही गुण है, इस प्रकार से विशेष रूप से सिद्धि हो जाने से शरीर से विशिष्ट अर्थात् भिन्न अहंकार वाला अहं इस प्रत्यक्ष अनुभूति वाले आत्मा का सिद्धत्व होने से वह आत्मा केवल आगम से ही जानने योग्य नहीं है, केवल आगम मात्र से सिद्ध होने वाला नहीं है ॥१८॥

भवतु शरीराद् भिन्नस्तावदात्मा 'अहम्' इति प्रत्ययेन साक्षात्सिद्ध आगमानुमानाभ्यां समर्थितः परन्तु सर्वप्राणिशरीरेषु खल्वात्मा स्यादेक एवति पूर्वपक्षत्वेनोच्यते –

सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ॥१९॥

(सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषात्ऐकात्म्यम्)

सुखदुःखज्ञानानामात्मगुणानामुत्पत्तिसमानत्वात् खल्वात्मा सर्वप्राणिशरीरेष्वेक एव । यथा हि शब्दगुणस्याभेदात्समानत्वादाकाशः खल्वेक एव यथा वा यौगपद्यादिकाललिङ्गाविशेषादेकः कालस्तथाहि सुखाद्यात्मलिङ्गाविशेषादात्मा सर्वप्राणिशरीरेषु स्यादेक एव ॥१९॥

हो सकता है शरीर से आत्मा भिन्न-भिन्न होवे, अहं इस प्रतीति से साक्षात् सिद्ध हो गया, और आगम व अनुमान से भी समर्थन हो गया। पर सभी शरीरों में एक ही आत्मा होनी चाहिए। इस बात को पूर्वपक्ष के रूप में रखते हैं-

सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ॥१९॥

सूत्रार्थ :- सुख-दु:ख ज्ञानादि गुणों की उत्पत्ति सब प्राणी शरीरों में एक जैसी होने से सब प्राणियों में व्यापक एक ही आत्मा है, अलग-अलग शरीरों में अलग-अलग आत्मा नहीं है ॥१९॥

भाषार्थ:- *(सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषात् ऐकात्म्यम्)* सुख, दु:ख, ज्ञान ये सब जो आत्मा के गुण हैं इनकी उत्पत्ति एक समान होने से सभी प्राणियों के शरीर में एक ही आत्मा है। जैसे कि शब्द गुण में भेद न होने से समान होने से एक ही आकाश है अथवा ऐसे ही युगपद आदि काल के जो लिंग हैं उनमें भेद न होने से काल भी सर्वत्र एक ही है उसी प्रकार से सुख आदि दु:ख आदि के जो समान लिङ्ग हैं उनके कारण आत्मा सभी प्राणियों के शरीरों में एक ही आत्मा होनी चाहिए ॥१९॥

समाधत्ते सूत्रद्वयेन –

व्यवस्थातो नाना ॥२०॥

(व्यवस्थातः नाना) सर्वप्राणिशरीरेषु नैक आत्मा किन्तु नाना सन्ति खल्वात्मानः, अतः प्रतिशरीरं भिन्न-भिन्न आत्मा व्यवस्थातः । व्यवस्था प्रतिनियतिः । एकस्मिन्काले देशे च कश्चित् सुखी,कश्चिद् दुःखी, कश्चिज्ज्ञानी, कश्चिदज्ञानी, कश्चिद् गुणवान्, कश्चिदगुणवान्, कश्चिद्धर्मात्मा, कश्चिदधर्मात्मा, कश्चित् पूर्वजन्मकृतकर्मतः सर्वाङ्गः कश्चिद् विकलाङ्गो गलिताङ्गश्चेति व्यवस्थातः सिद्ध्यति न खल्वेक आत्मा सर्वशरीरेषु परन्तु प्रत्येकस्मिञ्छरीरे पृथक् पृथगात्मेति निश्चयः ॥२०॥

दो सूत्रों के माध्यम से समाधान करते हैं-

व्यवस्थातो नाना ॥२०॥

सूत्रार्थ :- सुख-दु:ख, सर्वाङ्ग-विकलाङ्ग, जन्म-मरणादि व्यवस्थाओं से प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्माएँ हैं ॥२०॥

भाषार्थ:- *(व्यवस्थातः नाना)* सभी प्राणियों के शरीर में एक ही आत्मा नहीं है, किन्तु अनेक आत्माएँ हैं । अत: प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा व्यवस्था से है, व्यवस्था कहते हैं एक के लिए एक का होना । एक ही देश में या एक ही काल में कोई सुखी दिख रहा है, कोई दु:खी दिख रहा है, कोई ज्ञानी दिख रहा है, कोई अज्ञानी भी दिख रहा है, कोई गुणवान् दिख रहा है कोई अगुणवान् दिख रहा है, कोई धर्मात्मा है तो कोई अधर्मात्मा, कोई पूर्व जन्म में किए कर्मों के कारण सर्वांग है तो कोई विकलांग, अंधा, लूला, लंगड़ा दिख रहा है । तो इस प्रकार की व्यवस्थाओं से एक ही आत्मा सभी शरीरों में नहीं है, परंतु प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् आत्मा है, यही निश्चय होता है ॥२०॥

शास्त्रसामर्थ्याच्च ॥२१॥

(शास्त्रसामर्थ्यात् च) शास्त्रे प्राप्तसमर्थनत्वात् वेदादिशास्त्रं खलु प्रमाणमस्माकं तत्र वर्णनबलात् तस्य नानात्वमस्ति । यथा "ये समानाः समानसो जीवाः .... ।" (यजु. १९।४६) "य इत्तद् विदुस्त इमे समासते" (ऋ. १।१६४।३९) "चेतनानाम् ... ।" (कठो . ५/१३) ॥२१॥

शास्त्रसामर्थ्याच्च ॥२१॥

सूत्रार्थ :- शास्त्र के समर्थन से भी आत्माएँ अनेक है॥२१॥

भाषार्थ:- शास्त्र के प्राप्त समर्थन से अर्थात् वेद आदि शास्त्रों का हमारे लिए प्रमाण हैं, उनमें वर्णन के बल से आत्माओं का नानात्व है । जैसे *"ये समानाः समानसो जीवाः ...*

।" (यजु. १९।४६) "जो समान व समान मन वाले जीव हैं" *(यजु. १९।४६), "य इत्तद् विदुस्त इमे समासते" (ऋ. १।१६४।३९)* "जो इस आकाश रूप सर्वव्यापक ईश्वर को जानता है, वह इसको प्राप्त कर लेता है" *(ऋ. १।१६४।३९)*, *"चेतनानाम् ... ।" (कठो. ५/१३)* "चेतनों का" *(कठो. ५/१३)* इस तरह से बहुवचन का प्रयोग है, इससे आत्मा एक नहीं है ॥२१॥

द्वितीयाह्निकं समाप्तम्
समाप्तिंगतश्च तृतीयोऽध्यायः

---- ---- ---- --------------------------

॥ चतुर्थोऽध्यायः तत्र प्रथमाह्निकम् ॥

नव द्रव्याण्युद्दिष्टानि परीक्षितानि च "सदनित्यमित्यादिना" द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेणानित्यत्वमुक्तम् । अत्र विशेषेण खलूच्यते नित्यत्वविषये यत् –

सदकारणवन्नित्यम् ॥१॥

(सत् कारणवत् नित्यम्) सद् वस्तु यत्तु कारणवत् सकारणं तत्तु खल्वनित्यमस्ति, परन्तु यत् सत् खल्वकारणवत् स्वस्माद्भिन्नं कारणं नापेक्षते तत्तु नित्यमेंव तच्चान्तिमं कारणं तदन्तरवर्तिनां कारणानामपि कारणमिति यावत् । अथ च यदकारणं मूलकारणं तन्नासद्रूपं तत्तु सद्रूपमेंव हि न ह्यसतः सदुत्पादः । तत्तु सदेव स्वरूपतोऽपि सत् तथा कारणात्मना यद्वा समवायित्वेन स्वकार्यान्तवर्ति भवत् सदेव सद्रूपेणावभासते हि पटे तन्तव इव । तदेतत् सदकारणं तु नित्यम् ॥१॥

नौ द्रव्यों का नाम कह दिया, "सद अनित्य आदि सूत्रों के प्रमाणों के द्वारा" द्रव्य,गुण, कर्मों का अविशेषण सामान्य रूप से अनित्यत्व कहा । अब विशेष रूप से कहते हैं, पहले नित्यता के विषय में बताएँगे-

सदकारणवन्नित्यम् ॥१॥

सूत्रार्थ:- जो वस्तु सत्तात्मक हो किन्तु उसकी उत्पत्ति का कोई कारण न हो वह नित्य होता है ॥१॥

भाष्यार्थ:- *(सत् कारणवत् नित्यम्)* जो सद वस्तु है सत्तात्मक है पर कारण रहित है ऐसी वस्तु जो कारण सहित होती है वह अनित्य होती है । परंतु जो वस्तु अपने से भिन्न कारण नहीं रखता है वह तो नित्य ही है, वह कारणों का भी कारण अंतिम कारण है अंतर्वती कारणों का भी कारण है (जैसे वस्त्र का धागा और धागे का भी रुई है, रुई का और कोई कारण नहीं) । और जो कारण रहित होता है मूल कारण वह असद रूप नहीं होता है अपितु सद रूप ही होता है, क्योंकि असद से सद की उत्पत्ति नहीं हो सकती है । वह सद ही होता है स्वरूप से भी उस अपने ही स्वरूप के कारण से अथवा समवायित्व के कारण अपने कार्य के अंतर्गत होता हुआ वह सद रुप में ही ज्ञात होता रहता है, जैसे पट में तन्तु दिखते रहते हैं। यह जो सद है और अकारण रहित है ये नित्य होते हैं ॥१॥

अथैतादृशे कारणे किं लिङ्गं, यद्वैतादृशस्य कारणस्य सद्भावे किं लिङ्गमित्याकांक्षायामुच्यते –

तस्य कार्यं लिङ्गम् ॥२॥कारणाभावात् कार्यभावः ॥३॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति –

(तस्य कार्यम् लिङ्गम्) तस्य तथाभूतस्य मूलकारणस्य सत्त्वे कार्यं लिङ्गं ज्ञापकमस्ति । कार्येण खल्ववश्यं कारणस्य विद्यमानत्वं लिङ्ग्यते ज्ञायते । यतः (कारणभावात् कार्यभावः) कार्यभावः कार्यस्य सत्त्वं कारणभावात् कारणस्य सत्त्वाद् विद्यमानत्वात् सम्भवति नान्यथा, तस्मात् कार्यमिव व्यक्तमभवदपि कारणं सद्रूपमेंव । अस्ति किमप्यन्यद्वस्तु यत्खलु पृथिव्यादिभौतिकद्रव्यस्यापि कारणं सद्रूपं प्रकृत्याख्यं यदर्थं "कारणभावात् कार्यभावः" इति शब्दभेदेन पुनरावृत्तं "कारणाभावात् कार्यभावः" (वै. २।१।१) इति सिद्धे सति यच्च कार्यभूतेन द्रव्येण लिङ्ग्यतेऽदृश्यं च सच्चेति ॥३॥

जो सत होता है और कारण रहित होता है, ऐसा होने से वह नित्य होता है, इसमें लक्षण क्या है? ऐसी कोई सत्तात्मक वस्तु है जिसका और कोई कारण न हो, स्वयं में वह होती है, इसमें हेतु क्या होता है? इस विषय में बताते हैं कि वस्तु को माना कैसे जाए (कोई नित्य वस्तु भी होती है उसका आधार क्या है? इस विषय में बताते हैं) -

तस्य कार्यं लिङ्गम् ॥२॥ कारणाभावात् कार्यभावः ॥३॥

इन दो सूत्रों में एक वाक्यता है-

सूत्रार्थ:- मूल कारण का हेतु कार्य है । कारण के होने से ही कार्य होता है, उसके बिना नहीं होता ॥२-३॥

भाष्यार्थ:- *(तस्य कार्यम् लिङ्गम्)* उस अर्थात तथाभूत नित्य स्वरूप वाले मूल कारण का कार्य होने में लिङ्ग ज्ञापक है । कार्य के द्वारा निश्चय से कारण कि विद्यमानता जानी जाती है लिंगित होती है । क्योंकि *(कारणभावात् कार्यभावः)* कार्य का होना कार्य कि विद्यमानता कारण के होने से कारण कि वर्तमानता होने से संभव होता है अन्यथा नहीं होता है, इसलिए कार्य के समान व्यक्त न होता हुआ भी कारण सत्तारूप में होता ही है । कोई अन्य कार्य जो विद्यमान है वस्तु से अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु है जो कि पृथ्वी आदि भौतिक द्रव्यों का भी कारण है और सत रुप है वो, प्रकृति नामक है वो जिसके लिए कहा गया "कारण के होने से ही कार्य होता है", इस प्रकार से शब्द भेद करके अलग अलग शब्दों से पढ़कर के फिर से दोहरा दिया "कारण नहीं होगा तो कार्य भी नहीं होगा" *(वै. २।१।१)*, इस प्रकार सिद्ध होने पर भो जो कार्यभूत द्रव्य से जाना जाता है वह अदृश्य होता है और सत होता है इस प्रकार जान लेना चाहिए ॥२-३॥

कथं तदकारणवत् सद् वस्तु सर्वकारणं नित्यमित्यत्रोच्यते सूत्रद्वयेन –

अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥४॥ अविद्या ॥५॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति –

*(अनित्यः इति विशेषतः प्रतिषेधभावः)"सदनित्य.... ।" (वै. १।१।८) 'अनित्यः' इति सतः खलु विशेषतो विशेषणतो हि तस्य प्रतिषेधभावो नित्यमपि सद् वस्तु किञ्चिदस्तीति सिद्ध्यति । यत्खल्वकारणं सत् तन्नित्यमेंव सदनित्यमिति सूत्रे किमपि नित्यमस्तीति लक्ष्यीकृत्यानित्यमिति प्रयुक्तम् । यथा हि (अविद्या) सर्वप्रसिद्धमिदं यत् 'अविद्या' इति प्रयोगेऽस्ति 'विद्या' यस्य प्रतिषेधो 'अविद्या' यथा 'अविद्या' विशेषणतस्तत्प्रतिषेधो विद्या स्वतः सिद्ध्यति न हि तत्साधने प्रयत्नापेक्षा * शङ्करमिश्रादिभिः सूत्रद्वयमसम्बद्धं व्याख्यातम् ॥४-५॥*

कैसे वह कारण रहित सद वस्तु=सत्तात्मक वस्तु सभी का कारण और नित्य है, इस विषय में कहते हैं दो सूत्रो के माध्यम से-

अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥४॥ अविद्या ॥५॥

इन दो सूत्रों में एक वाक्यता है-

सूत्रार्थ:- अनित्य इस विशेषण से इसका विरोधी भाव नित्य सिद्ध होता है, जैसे अविद्या कहने से उसके विरोधी भाव विद्या की सिद्धि होती है।

(अनित्य इस विशेषण के द्वारा इसका जो प्रतिषेध भाव है, जैसे कि विद्या।) ॥४-५॥

भाष्यार्थ:- *(अनित्यः इति विशेषतः प्रतिषेधभावः) "सदनित्य.... ।" (वै. १।१।८)* 'अनित्य' यह जो शब्द है यह सत का ही=विद्यमान का ही विशेषता या विशेषण के कारण से उसका प्रतिषेध=निषेध भाव है, सद वस्तु भी कुछ नित्य है इस प्रकार से सिद्ध होती है । वह जो अकारण सत है कारण रहित सत्तात्मक है वह नित्य ही है, सद अनित्यम में जो अनित्य शब्द जो पढ़ा हुआ है वहाँ पर सद के साथ साथ अनित्य भी पढ़ा हुआ है, उससे लगता है कि कोई नित्य भी है जिसकी अपेक्षा से यहाँ अनित्य पाठ कर रहे हैं ये । इस उस्तरा में कुछ नित्य है ऐसा सामने रखकर ही 'अनित्यमिति' इस शब्द का प्रयोग किया । *(अविद्या)* जैसे कि यह सभी जगह प्रसिद्ध है कि 'अविद्या' इस प्रयोग में कोई 'विद्या' है जिसका निषेध किया गया है, जैसे 'अविद्या' के इस विशेषण से उसका जो निषेधात्मक स्वरूप है प्रतिद्वंदी स्वरूप है 'विद्या' वह स्वत: सिद्ध होती है,

उसको सिद्ध करने के लिए और किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं पड़ती है । शंकर मिश्र आदि ने दोनों सूत्रों से असम्बद्ध व्याख्यान किया है ॥४-५॥

यत्खलु कारणानामपि कारणं कार्येण लिङ्गेनानुमीयते तस्य कार्यस्योपलब्धिः प्रत्यक्षं कथं भवतीत्युच्यते –

महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः ॥६॥

(महति अनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपात् च उपलब्धिः) महति महत्परिमाणवति भवति खलूपलब्धिः प्रत्यक्षत्वम् । तत्रापि अनेकद्रव्याश्रयित्वात् । तथा रूपाद् रूपवशात् तस्य रूपवत्त्वात्, अर्थात् उपलब्धिर्यद्वा प्रत्यक्षज्ञानं भवति महत्ववति महत्परिमाणवति वस्तूनि न तु सूक्ष्मे, तच्च करणानां कारणं सूक्ष्ममस्ति, तस्मान्न तत्प्रत्यक्षम् । अथ चेत् कारणानां कारणमपि महत् सर्वत्र प्रसृतं तदा 'अनेकद्रव्यन्न, नह्यनेकद्रव्याश्रयि तस्मान्न प्रत्यक्षं यथाकाशस्य महतो सतोऽपि न प्रत्यक्षत्वम् । अथानेकद्रव्यवद् द्ध्याणुकं न तत्प्रत्यक्षमतस्तन्न महत् महत्त्ववत् महत्परिमाणवत् तस्मान्न प्रत्यक्षम् । वस्तुतो भवत्युपलब्धिः प्रत्यक्षत्वं महत्ववति अनेकद्रव्यवति रूपाद् रूपवशाद् रूपगुणसहभावाद् यद्वा समवेतरूपगुणवत्त्वाद्धि महदनेकद्रव्यवत् प्रत्यक्षं भवति नान्यथा ॥६॥

जो कारणों का भी कारण है अंतिम कारण है जो कि कार्य अर्थात लिङ्ग से अनुमान द्वारा ज्ञात होता है, उसके कार्य की अनुभूति उसका प्रत्यक्ष कब होता है, किस आधार पर ये कहने लगते हैं कि उसके ही ये कार्य हैं अर्थात कार्य तो अंततः अनुभति में आता ही है।

महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः ॥६॥

सूत्रार्थ:- अनेक द्रव्य आश्रित होने से रूप गुण होने से और महत परिमाण वाले कार्य द्रव्य में उपलब्धि या नेत्र प्रत्यक्ष होता है (महत परिमाण होने पर और अनेक द्रव्य वाला होने पर और उसमें रुप आ जाने पर उसकी उपलब्धि=प्रत्यक्ष होता है) ॥६॥

भाष्यार्थ:- महत परिमाण होना चाहिए, अणु परिमाण होते हुए भी उपलब्धि नहीं होती। महत परिमाण होने के पश्चात उपलब्धि होती है अर्थात प्रत्यक्ष महत परिमाण का ही होता है अणु का नहीं होता (ये एन्द्रीयक प्रत्यक्ष के विषय में है)। और महत परिमाण होने के साथ साथ अनेक द्रव्य उसमें होने चाहिए (एक ही महत होगा तो उसका भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि आंखे बहुत बड़े और अति सूक्ष्म को नहीं पकड़ती है) । तथा रुप उसमें होने से रुप वाला होने से अर्थात उपलब्धि हो होती है प्रत्यक्ष ज्ञान जो होता है वो महत परिमाण वाली वस्तु में होता है सूक्ष्म में नहीं होता है और जो कारणों का जो कारण है वह इन गुणों से रहित है सूक्ष्म होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है । और यदि कारणों का भी कारण महत होता सब जगह फैला होता फिर वो

अनेक द्रव्य वाला नहीं होता उसमें विशेषता नहीं आ पाती, और अनेक द्रव्य के आश्रित न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होगा। जैसे आकाश महान है फिर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। और अनेक द्रव्य वाला है जो की द्विणुक (60 परमाणु का एक अणु होता है, इसका दो गुणा = द्विणुक) है वो भी प्रत्यक्ष नहीं होता है यद्यपि अनेक द्रव्य वाला है वो, पर वो प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है इसलिए महत नहीं है, पर द्विणुक को भी महत परिमाण वाला नहीं माना है। वस्तुत: उपलब्धि जो होती है प्रत्यक्ष जो होता है वो महत होने के साथ-साथ अनेक द्रव्य वाला हो और रूपगुण के साथ होने पर अथवा रूप गुण उसके अंदर ही स्थित हो इस अवस्था में महत और अनेक द्रव्य वाला द्रव्य प्रत्यक्ष होता है ऐसे नहीं हो पाता है, न दिखने वाली वस्तुओं में कोई भी कारण नहीं हो सकता या तो उसमें रूप गुण नहीं होगा या वो महत परिमाण नहीं बन रहा है इसलिए भी नहीं दिख रहा है और अनेक भी नहीं है ॥६॥

----- ----- ------- ---- --------------------------

*। अनित्य शब्दाद् यथा नित्योऽत्र साध्यते 'अविद्या' दृष्टान्तमुक्त्वा तथैवाग्रेऽपि 'अविद्या' दृष्टान्तेन सप्तमाध्याये साधयिष्यते 'नित्यं परिमण्डम् .... ' अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥ (७।१। २०-२१)

ननु पृथिव्यां पार्थिवे घटादौ, अप्सु तथाप्ये च हिमादौ रूपमुपलभ्यते प्रत्यक्षी क्रियते कथन्न वयोरप्युपलब्धिः प्रत्यक्षत्वम्। अत्रोच्यते –

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद्वायोरनुपलब्धिः॥७॥

(वायोः द्रव्यत्वे महत्त्वे सति अपि) वायुः खलु महान् सर्वत्र गतिमत्त्वादथ द्रव्यं च, द्रव्यत्वात् सावयवोऽवयवात्मकानेकद्रव्यवान् यतो न स कारणानां कारणम्। इत्थं तस्य महत्त्वे महत्ववत्त्वे महत्परिमाणवत्त्वे द्रव्यवत्त्वे सत्यपि (रूपसंस्काराभावात् अनुपलब्धिः) रूपगुणस्य संस्काराभावो वासनाऽभावः संस्कारो वासना तत्र रूपगुणस्य वासना नास्ति तस्माद्वायोरुपलब्धिः प्रत्यक्षत्वं चाक्षुष प्रत्यक्षत्वं न भवति। अग्नौ तु रूपगुणो वर्तते तन्नैजिकगुणवत्त्वात्, पृथिव्यां पार्थिवेऽप्सु तथाप्ये रूपं तु खलु रूपसंस्कारवशादस्ति। रूपस्य संस्कारो वासना तत्रास्ति रूपं गुणो ह्यग्नेरस्ति, अग्नेर्गुणस्य रूपस्य संस्कारेण वासनया संस्कृता वासिताः पृथिवी पार्थिवा आप आप्याश्च पदार्थाः। तेषां रूपं न वास्तविकं परन्तु तैजसो रूपस्य संस्कारेण वासनया संस्कृतं वासितमेंव तत्र रूपम्, वायौ न तथा रूपगुणस्य संस्कारो वासना तस्माद् वायौ न चाक्षुषं प्रत्यक्षम्। वातीति वायुरिति योगाद् वायुः पार्थिवं गन्धमाप्यं रसं तैजसं रूपं तु वहति हि, यथा गन्धमादाय नयति रसं नयति तथाऽग्निरूपमपि ज्वालामितस्ततस्तिर्यगूर्ध्वं च नयति हि वायुरिति वहनं तत्कर्म। अन्यभाष्यकारैरित आरभ्य चत्वारि सूत्राण्यन्यथाव्याख्यातानि॥७॥

अच्छा पृथ्वी में या पार्थिव जो घट आदि हैं इनमें, हिम से अथवा जल जो से बने हैं उनमें तो रूप उपलब्ध होता है इसलिए प्रत्यक्ष होता है। वायु बहुत लंबी चौड़ी होती है फिर उसकी उपलब्धि क्यों नहीं होती है? इसको बताते हैं-

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद्वायोरनुपलब्धिः॥७॥

सूत्रार्थ:- अनेक द्रव्य वाला होने पर भी महत परिमाण होने पर भी रूप संस्कार का अभाव होने से वायु की उपलब्धि नहीं हो पाती है ॥७॥

भाष्यार्थ:- *(वायोः द्रव्यत्वे महत्त्वे सति अपि)* वायु महान है, सर्वत्र विद्यमान होने से, सर्वत्र गति वाला होने से द्रव्य वाला है, अवयवी है, अनेक द्रव्य वाला है। ऐसा होने पर वो कारण का कारण नहीं हो सकता । इस प्रकार उसके महत परिमाण वाला होने से और द्रव्य वाला होने पर भी *(रूपसंस्काराभावात् अनुपलब्धिः)* रूप गुण का जो संस्कार है उसकी जो वासना=छाप है, वह न होने से । संस्कार अर्थात वासना का अभाव है वहाँ रूप गुण की वासना नहीं है । इस कारण से वायु की उपलब्धि अर्थात प्रत्यक्ष चक्षुष उपलब्धि नहीं होती है । किन्तु अग्नि में रूप गुण है उसका अपना गुण होने से पृथ्वी में या पार्थिव घट आदि जल में और जलीय कर्क आदि में रूप जो है वह रूप से संस्कार के कारण अर्थात पीछे के संस्कार से आने के कारण से उनमें है । रूप अग्नि का ही गुण है । अग्नि के रूप गुण से अर्थात संस्कार से वासना से युक्त पृथ्वी और पार्थिव जल एवं जलीय पदार्थ होते हैं, उनका अपना रूप वास्तविक नहीं होता है परंतु तेजस रूप के संस्कार के कारण वहाँ रूप होता है इसलिए वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है, जो बहता या बहाता है इस परिभाषा से वायु पार्थिव वस्तुओं को अर्थात उसके गंध को, आप्य वस्तुओं के रस को और तेजस के रूप को वहन करता है । जैसे गंध को व रस को दूर ले जाता है वैसे अग्नि रूप ज्वाला को तिरछा और ऊपर ले जाता है, ये वायु का वहन कर्म है । यहाँ से लेकर के 7,8,9,10 इन सूत्रों की अन्य भाष्यकारों ने ठीक व्याख्या नहीं की है ॥७॥

द्रव्याणां चाक्षुषप्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वे विधाय गुणानामुपलब्धिंप्रदर्शयन् प्रथमं रूपगुणस्योपलब्धिः प्रदर्श्यते, तत्र च प्रकारद्वयमित्युच्यते –

अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥८॥

(रूपोपलब्धिः) रूपगुणस्योपलब्धिः प्रत्यक्षत्वं भवति खलु (अनेकद्रव्यसमवायात्) अनेकानां द्रव्याणां समवायात् संयोगात्, यः खलु रूपसंस्कारः स खल्वनेकेषु द्रव्येषु समवेतेषु रूपगुणस्योपलब्धिकारणं भवति, पृथिव्यां पार्थिवेऽप्सु तथा चाप्ये । (च) अथ

च (रूपविशेषात्) विशिष्टरूपगुणात्, अग्नौ हि रूपगुणविशेषस्तस्मादग्नौ तथाग्नेये पदार्थे रूपस्योपलब्धिः प्रत्यक्षत्वं भवति तस्याग्नेर्नैजिकगुणविशेषत्वात्, ततोऽन्यत्र तु रूपसंस्कारादेव रूपम् ॥८॥

द्रव्यों का चाक्षुष प्रत्यक्ष किसका होता है और किसका नहीं होता है अब प्रत्यक्ष को बताकर के अब गुणों की उपलब्धि दिखाते हुए, पहले रूप गुण की उपलब्धि दिखाते हैं जिसके दो प्रकार हैं । उसको बताते हैं-

अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥८॥

सूत्रार्थः- अनुद्बुद्ध अनेक रूप गुण वाले अनेक परमाणुओं के संयोग से और रूप गुण के विशेष होने से रूप गुण का प्रत्यक्ष होता है।
(अनेक द्रव्य का समवाय संयोग संबंध होना चाहिए और उसमें रूप विशेष होना चाहिए तब उपलब्धि प्राप्ति प्रत्यक्ष होता है) ॥८॥
भाष्यार्थः-(*रूपोपलब्धिः*) रूप गुण की उपलब्धि उसका प्रत्यक्ष होता है (*अनेकद्रव्यसमवायात्*) अनेक द्रव्यों के समवाय अर्थात संयोग से, जो रूप का संस्कार है वह अनेक द्रव्यों में होता हुआ सम्बद्ध होता हुआ रूप गुण की उपलब्धि का कारण होता है । पृथ्वी में और पार्थिव पदार्थों में जल में तथा जलीय पदार्थों में और विशिष्ट रूप गुण होने के कारण अग्नि में रूप गुण अपने आप में विशेष रूप से है । इसलिए अग्नि और आग्नेय पदार्थों में रूप की उपलब्धि अर्थात प्रत्यक्ष होता है, अग्नि का नेजिक गुण होने के कारण अग्नि का प्रत्यक्ष अल्प काल में हो जाता है, अग्नि से अन्यत्र रूप संस्कार के कारण ही प्रत्यक्ष होता है ॥८॥

अथान्येषु गुणेषु च –

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥९॥

*(तेन) तथाप्रकारेण संस्कारेण गुणसंस्कारेणानेकद्रव्यसमवायात् तथा नैजिकगुणविशिष्टत्वेन गुणविशेषात् (रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम्) गन्धे रसे स्पर्शे ज्ञानं ** घ्राणेन्द्रियजन्यं रसनेन्द्रियजन्यं त्वगिन्द्रयजन्यं व्याख्यातं वेदितव्यम् । तत्र पृथिव्यां पार्थिवे घ्राणेन गन्धस्य ज्ञानं गुणविशेषात् नैजिकगुणविशिष्टत्वात्, अन्यत्राप्सु तथाप्ये गन्धसंस्कारेणानेकद्रव्यसमवायात् । अप्सु तथाप्ये रसनया रसज्ञानं रसविशेषात् नैजिकगुणविशिष्टत्वात्, अन्यत्र पृथिव्यां पार्थिवे च रससंस्कारेणानेकद्रव्यसमवायात् भवति । एवं वायौ वायव्ये त्वगिन्द्रियेण स्पर्शज्ञानं स्पर्शविशेषात् नैजिकगुणविशिष्टत्वात्, अन्यत्र पृथिव्यां पार्थिवेऽप्सु तथाप्ये तथाग्नावाग्नेये स्पर्शसंस्कारेणानेकद्रव्यसमवायाद् भवतीति विज्ञेयम् ॥९॥*

सूत्रार्थ:- पूर्वोक्त दोनों हेतुओं से रस, गंध और स्पर्श विषयों का रसना नासिका और त्वग इंद्रियों से ज्ञान होता है, चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं ऐसा समझना चाहिए ॥९॥

भाष्यार्थ:- *(तेन)* तथा उस प्रकार से संस्कार हो जाने से उसमें रूप के सम्बद्ध हो जाने से गुण संस्कार से अनेक द्रव्यों के समवाय संबंध से तथा अपने गुण विशेष होने से *(रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम्)* गंध में, रस में, स्पर्श में ज्ञान अर्थात घ्राण इंद्रिय से ज्ञान हो रहा है (घ्राण से गंध का ज्ञान हो रहा है अर्थात गंध में भी अनेक द्रव्यत्व है) गंध विशेष होने से गंध की अनुभूति हो रही है। ऐसे ही रसना में भी अनेक द्रव्य हैं व त्वग इंद्रिय वाले है इस प्रकार से समझ लेना चाहिए । पृथ्वी में और पार्थिव द्रव्यों में नासिका के द्वारा गंध का ज्ञान हो रहा है अपने गुण के कारण से । और जल में अनेक द्रव्य गंध वाले होते हैं और गंध के संस्कार अर्थात गंध का समुदाय विशेष वहाँ उत्पन्न हो जाता है इसलिए वहाँ गंध आने लग जाती है, जल में तथा जलीय पदार्थों में रस विशेष का जो ज्ञान हो रहा है रसना से वह नेजिक गुणों के कारण से हो रहा है लेकिन अन्यत्र जो रस का ज्ञान हो रहा है पार्थिव पदार्थों में वह रस संस्कार के कारण अनेक द्रव्य समवाय के कारण हो रहा है एवं वायु व वायु पदार्थो में त्वग इंद्रिय के द्वारा स्पर्श का ज्ञान हो जाता है लेकिन वायु के स्पर्श विशेष से नेजिक गुण के कारण होता है और अन्य पार्थिव पदार्थों में जलीय व आग्नेय पदार्थों में स्पर्श का ज्ञान होता है स्पर्श वाले अनेक द्रव्यों का उसमें समवाय होने से होता है ऐसा जानना चाहिए ॥९॥

रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानमुक्तं कथन्न तत्र प्रत्यक्षम् । उच्यते –

तस्याभावादव्यभिचारः ॥१०॥

(तस्य अभावात् अव्यभिचारः) रसगन्धस्पर्शेषु तस्य प्रत्यक्षस्य प्रत्यक्षकारणस्य वा रूपसंस्कारस्य रूपविषेशस्य चाभावात् खल्वव्यभिचारः व्यभिचारो न भवति न ततोऽन्यत्र प्रत्यक्षत्वं किन्तु ज्ञानमेंव हि । अथ च कारणानां कारणे न चाक्षुषं प्रत्यक्षं न हि खल्वन्येन्द्रियजन्यं ज्ञानं तत्र तस्य रूपसंस्कारस्य रूपविशेषस्य गन्धरसस्पर्शसंस्कारस्य गन्धरसस्पर्शविशेषस्य चाभावान्न व्यभिचारः, किन्तु नियतिरेव तत्र न प्रत्यक्षं न च तथैन्द्रियिकं ज्ञानमस्ति तत्तु खलु कार्येणैवानुमीयते ॥१०॥

रस, गंध, स्पर्शो में ज्ञान कहा है उनमें प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता? उसको कहते हैं –

तस्याभावादव्यभिचारः ॥१०॥

सूत्रार्थ:- पूर्वोक्त दोनों हेतुओं से रस गन्ध और स्पर्श विषयों का रसना, घ्राण और त्वग् इंद्रियों से ज्ञान होता है, चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं ऐसा समझना चाहिए।॥१०॥

भाष्यार्थ:- *(तस्य अभावात् अव्यभिचारः)* रस, गंध, स्पर्श से उस प्रत्यक्ष का अथवा प्रत्यक्ष के कारण का=रूप संस्कार का और रूप विशेष का अभाव होने से अव्यभिचार=व्यभिचार नहीं होता (प्रत्यक्ष नहीं होता) उस (रूप) से अन्यत्र प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु ज्ञान ही होता है। और कारणों का कारण में चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं है और न ही अन्य इंद्रियों से उत्पन्न ज्ञान होता है उसके रूप संस्कार का=रूप विशेष का= गंध, रस, स्पर्श संस्कार का= गंध, रस, स्पर्श विशेष का अभाव होने से व्यभिचार नहीं है। किन्तु उनमें नियति ही है , प्रत्यक्ष नहीं होता और इंद्रियों से ज्ञान भी नहीं हो सकता है, वह तो कार्यों से ही अनुमान किया जाता है॥१०॥

अथ च –

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च
रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि॥११॥
अरूपिष्वचाक्षुषाणि॥१२॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यतास्ति –

(संख्याः ..... कर्म च) संख्यादयो गुणाःकर्म च स्नेहवेगद्रवत्वानि चेति सर्वाणि रूपवत्सु द्रव्येषु समवेतानि चाक्षुषाणि चक्षुरिन्द्रियग्राह्याणि तेषां चाक्षुषत्वात्स्पार्शनानि च सन्ति परन्तु (अरुपिष्वचाक्षुषाणि) समवेतानि चाक्षुषत्वास्पार्शनानि च सन्ति परन्तु (अरूपिषुअचाक्षुषाणि) रूपरहितद्रव्येषु समवेतानि तु न चाक्षुषाणि भवन्तु क्वचित्स्पार्शनानि, अथ च नेत्रहीनं जनं प्रति तु रूपवत्सु द्रव्येषु समवेतानि सन्त्यपि न चाक्षुषाणि, स्पार्शनानि तु सन्ति हि, जडं विहाय चेतने खल्वात्मनि तु मानसानि हि ॥११-१२॥

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च
रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि॥११॥
अरूपिष्वचाक्षुषाणि॥१२॥

इन दोनों सूत्रों में एक वाक्यता है-

सूत्रार्थ:- गन्ध, रस और स्पर्श में रूप गुण और संस्कार का अभाव होने से यः दोष नहीं आता कि उनका नेत्र प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता। संख्या परिमाणादि गुण और कर्म रूपवान द्रव्यों में संयुक्त होने से नेत्रेन्द्रिय से जाने जाते है॥११-१२॥

भाष्यार्थ:- *(संख्याः ..... कर्म च)* संख्यादि गुण और कर्म स्नेह, वेग और द्रवत्व सभी रूप वाले द्रव्यों में समवेत चाक्षुष=चक्षु इंद्रिय से ग्रहण किए जाते हैं उनके चाक्षुष होने से स्पर्श भी होता है परंतु *(अरुपिष्वचाक्षुषाणि)* रूप रहित द्रव्यों में समवेत चाक्षुष नहीं

होते कुछ स्पर्श होते हैं और नेत्रहीन जनों के प्रति तो रूप वाले द्रव्यों में समवेत होता हुआ भी चाक्षुष नहीं होते स्पर्श तो होते ही हैं, जड़ को छोड़कर चेतन आत्मा में तो मन से जाना जाता है ॥११-१२॥

एवम् –

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१३॥

*(एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम्) एतेन तत्तदिन्द्रियगुणस्य ज्ञानप्रकारेण गुणत्वे तथा भावे सत्तायां च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातं वेदितव्यं न हि तत्रान्यप्रयत्नापेक्षा, गुणत्वसत्तयोः सामान्ययोर्यद्वा जात्योरपि ज्ञानमिन्द्रियजन्यम् । इत्येषोऽर्थः क्रियते सर्वैरेवभाष्यकारैः । प्रश्नो ह्यत्रोपतिष्ठते कर्मत्वे द्रव्यत्वे च किंसाधनकं ज्ञानं किं तन्नैन्द्रियकम् ?यथा हि खलु गुणत्वं सामान्यं जातिर्वा तथा कर्मत्वं द्रव्यत्वमपि, सत्तां तु महासामान्यं परजातिर्वा, गुणत्वस्य सत्तायाश्च ज्ञानं तूक्तं कर्मत्वस्य द्रव्यत्वस्य ज्ञानेनापि तु भाव्यमेंवेति । अतोऽन्योऽर्थ (एतेन गुणत्वे सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम्) उक्तप्रकारेण गुणत्वे गुणजातौ गुणमात्रे सर्वेन्द्रियं ज्ञानं यथायोग्यं चाक्षुषं प्रत्यक्षं यद्वान्येन्द्रियजन्यमचाक्षुषं नासिक्यं रासनं स्पार्शनं श्रौत्रं ज्ञानं तत्र गुणगणे, अथ तत्र कर्माप्युक्तं 'परापरत्वे कर्म च' तस्मात् तेन कर्मज्ञानप्रतिपादनप्रकारेण कर्मत्वे कर्मजातौ कर्ममात्रे यथायोग्यं चाक्षुषं स्पार्शनं श्रौत्रं ज्ञानं तत्र गुणगुणे, अथ तत्र कर्माप्युक्तं 'परापरत्वे कर्म च' तस्मात् तेन कर्मज्ञानप्रतिपादनप्रकारेण कर्मत्वे कर्मजातौ कर्ममात्रे यथायोग्यं चाक्षुषं स्पार्शनं ज्ञानं प्रत्यक्षमानुमानिकं वा व्याख्यातं सत् (भावे च) भावात्मके पदार्थेद्रव्ये द्रव्यत्वे द्रव्यमात्रेऽपि चाक्षुषप्रत्यक्षमचाक्षुषं नासिक्यं रासनं स्पार्शनं श्रोत्रं वाऽऽनुमानिकं यथायोग्यं व्याख्यातं वेदितव्यम् । येनेन्द्रियेण गुणस्य कर्मणो वा ज्ञानं चाक्षुषमचाक्षुषं वा यथा भवति तथैव द्रव्याश्रिते हि गुणकर्मणी इत्यर्थस्वारस्यं सूत्रशैल्या * ॥१३॥*

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१३॥

सूत्रार्थः- ये ही गुण और कर्म रूपरहित द्रव्यों में रहते हुए नेत्र से नहीं जाने जाते है।॥१३॥ **भाष्यार्थः-** *(एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम्)* पूर्वोक्त प्रक्रिया से वह इंद्रिय गुण का ज्ञान के प्रकार से गुणत्व और भाव = सत्ता में सभी इंद्रियों का ज्ञान व्याख्यात समझना चाहिए, उनमें अन्य प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती, गुणत्व और सत्ता का जो कि सामान्य है उसका अथवा जाति का भी ज्ञान इंद्रिय जन्य है । इस प्रकार यह अर्थ सभी भाष्यकारों ने किया है । यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्मत्व और द्रवत्व में किस साधन से जाने जाते हैं? क्या वह ऐंद्रिक नहीं है? जैसे गुणत्व

सामान्य अथवा जाति है वैसे ही कर्मत्व द्रवत्व भी है सत्ता तो महासमान्य अथवा पर जाति है, गुणत्व का और सत्ता का ज्ञान तो कहा परंतु कर्मत्व का द्रवत्व का ज्ञान भी तो होना ही चाहिए । *(एतेन गुणत्वे सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम्)* इसलिए अन्य कर्म किया जाता है, उक्त प्रकार से गुणत्व में = गुणजाति में = गुण मात्र में सभी इंद्रियों से ज्ञान यथायोग्य चाक्षुष प्रत्यक्ष अथवा अन्य इंद्रिय जन्य चाक्षुष नासिका रसना स्पर्शन श्रोत्र से ज्ञान उन गुणों में होता है और उसमें कर्म भी कहा है । *'परापरत्वे कर्म च'* इसलिए उस पूर्वोक्त कर्म ज्ञान का प्रतिपादन के प्रकार से कर्मत्व में = कर्म जाति में = कर्म मात्र में यथायोग्य चाक्षुष स्पर्शन से ज्ञान प्रत्यक्ष अथवा आनुमानिक व्याख्यात किया जाता हुआ सत्तात्मक पदार्थ में द्रव्य में द्रवत्व में द्रव्य मात्र में भी चाक्षुष प्रत्यक्ष अचाक्षुष नासिक्य रसना स्पर्शन अथवा श्रोत्र आनुमानिक यथायोग्य व्याख्यात जान लेना चाहिए । जिस इंद्रिय से गुण का अथवा कर्म का ज्ञान चाक्षुष अथवा अचाक्षुष जैसे होता है उसी प्रकार ही द्रव्य का भी ज्ञान होता है क्योंकि द्रव्य के आश्रित गुण और कर्म होते हैं इस प्रकार अर्थ सूत्र कि शैली के अनुरूप हुआ है ॥१३॥

प्रथमाह्निकं समाप्तम्

॥ चतुर्थोऽध्यायः तत्र द्वितीयाह्निकम् ॥

प्रथमाह्निके कारणद्रव्याण्याभिधाय तत् कार्याणि प्रदर्श्यन्ते—

तत्पुनः पृथिव्यादिकार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ॥१॥

(तत्पुनः) तत्पश्चात् कारणद्रव्यानन्तरं यदुत्पाद्यमानाम् (पृथिव्यादिकार्यद्रव्यंत्रिविधं) पृथिव्यादिकं कार्यद्रव्यं त्रिविधमस्ति । तच्च (शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्) शरीरं यत् खलु भोगायतनं चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयश्च,इन्द्रियं घ्राणादिकं विषयजातस्य ग्रहणसाधनम्, विषयस्तु ताभ्यां शरीरेन्द्रियाभ्यामवशिष्टं यत् पृथिवी पार्थिवमाप आप्यं तेजस्तैजसं वायुर्वायव्यं च । शरीरं तु पार्थिवं पृथिवीलोके, आप्यमपांलोके वरुणलोके,तैजसमादित्यलोके, वायव्यं मरुतां लोके, इति विवेकः ॥१॥

प्रथम आह्निक में कारण द्रव्य बताकर उनके कार्य को दिखाते हैं-

तत्पुनः पृथिव्यादिकार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ॥१॥

सूत्रार्थ:- कारण द्रव्यों को कहकर अब पृथिवी आदि कार्य द्रव्यों को कहते है कि पृथ्वी आदि कार्य द्रव्य तीन प्रकार का है उनके नाम है शरीर, इंद्रिये और विषय ॥१॥

भाष्यार्थ:- (तत्पुनः) तत्पश्चात- कारण द्रव्य के अनंतर जो उत्पन्न होने वाले (पृथिव्यादिकार्यद्रव्यंत्रिविधं) पृथ्व्यादि कार्य द्रव्य तीन प्रकार के हैं । और वह (शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्) शरीर= जो भोग का आधार चेष्टा इंद्रिय (गोलक) उनके अर्थ का आश्रय है, इंद्रिय घ्राण आदि हैं विषय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का ग्रहण के साधन हैं, विषय तो उन शरीर इंद्रियों से अवशिष्ट (शेष बचा हुआ) जो पृथ्वी-पार्थिव, जल-जलीय तेज-तेजस वायु और वायवीय पदार्थ हैं । शरीर तो पार्थिव पृथ्वी लोक में जलीय है समुद्र लोक में= वरुण वरुण लोक में, तेजस है आदित्य लोक में वायवीय है मरुत लोक में इस प्रकार यह विवेक=ज्ञान है ॥१॥

शरीरादिकंकार्यं यत्खलूक्तमेकैकद्रव्योपादानकमाहोस्वित्पञ्चभूतोपादानकमित्यत्रोच्यते---

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात्पञ्चात्मकं न विद्यते ॥२॥

(प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्य अप्रत्यक्षत्वात्) पृथिवीजलाग्नीनां प्रत्यक्षाणां वाय्वाकाशयोरप्रत्यक्षयोश्च संयोगस्य खल्वप्रत्यक्षत्वादप्रसिद्धत्वात् पञ्चात्मकं पञ्चभूतोपादानकं शरीरादिकं कार्यं नास्ति संयुज्य हि द्रव्याणि कार्यस्योपादानत्वं भजन्ते

स्वकार्यं वोत्पादयन्ति,प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगो ह्यसंभवः । प्रत्यक्षाणां मूर्तिमतां हि संयोगेन भवितव्यं तस्माच्छरीरादिकं न पञ्चभूतोपादानकं पञ्चभूतसंयोगजन्यं वा ॥२॥

शरीर के विषय में तो कह दिया कि तीन प्रकार के शरीर होते हैं, परंतु वे तीन शरीर जो होते हैं वो एक एक शरीर पाँच भूतों के बने हुए होते हैं अथवा उससे कम या एक एक के बने हुए होते हैं, इस विषय में कहते हैं-

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात्पञ्चात्मकं न विद्यते ॥२॥

सूत्रार्थ:- पृथ्वी, जल, अग्नि प्रत्यक्ष द्रव्यों का और वायु आकाश के संयोग द्रव्य न दिखने से, शरीर पाँच भूतों का उपादान वाला नहीं है ॥२॥

भाष्यार्थ:- (प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्य अप्रत्यक्षत्वात्) पृथ्वी जल अग्नि इन तीनों का तो प्रत्यक्ष है और वायु, आकाश प्रत्यक्ष वाला नहीं है, इनके संयोग का प्रत्यक्ष न होने से प्रसिद्ध=स्पष्ट रूप से ज्ञान न होने से पाँच भूत उपादान वाला शरीर आदि जो कार्य है वह नहीं है । द्रव्य आपस में जुड़ करके ही किसी कार्य के उपादान को प्राप्त होते हैं या उसके उपादान बनते हैं अथवा अपने कार्य को उत्पन्न करते हैं, प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष वस्तुओं का संयोग संभव ही नहीं है । इस कारण से प्रत्यक्ष अर्थात जो मूर्ति रूप में कठोर आकार में आ चुके हैं उन्हीं का संयोग हो सकता है, इसलिए शरीर आदि जो है वो पाँच भूतों के उपादान वाले नहीं है, पाँच भूतों का संयोग इसमें नहीं है, यह अभिप्राय है ॥२॥

किन्तर्हि प्रत्यक्षाणांपृथिवीजलाग्नीनां संयोगजन्यं त्र्यात्मकं शरीरादिकम् । अत्रोच्यते--

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकं॥३॥

(न त्र्यात्मकम्) शरीरादिकं कार्यं न प्रत्यक्षाणांपृथिवीजलाग्नीनां संयोगजन्यं त्रिभूतोपादानकम् (गुणान्तराप्रादुर्भावात् च) संयोगे खलु गुणान्तरं प्रादुर्भवति यथा हरिद्राचूर्णयोः सति संयोगे लौहित्यं गुणान्तरं तद्युक्तं विलक्षणं द्रव्यञ्च प्रादुर्भवति, न च तथाऽत्र प्रादुर्भवति तस्मान्न भूतत्रयोपादानकम् । अत्र चकारोऽन्वाचयार्थः पूर्वं सूत्रमप्यन्वाचिनोति तत्प्रतिहेतुमुत्क्षिपति । यत् प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगः कल्प्येत तर्हि प्रत्यक्षाणां गन्धरसरूपाः खल्वप्रत्यक्षयोर्वाय्वाकाशयोरगन्धरसरूपयोस्तत्र शरीरादिकार्ये सम्मिश्रते गन्धरसरूपेभ्यो गुणान्तरमगन्धरसरूपत्वं यद्वोभयोदृश्यादृश्यवैलक्ष्यमापद्येतेति हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यम् ॥३॥

चलिए पाँच भूतों का तो संयोग नहीं है इसमें, संयोग प्रत्यक्ष न होने से, दो भूतों का प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है पर तीन भूतों के संयोग का तो प्रत्यक्ष हो रहा है अत: शरीर को तीन भूतो वाला मान लो तो क्या होगा? उस विषय में कहते हैं-

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकं ॥३॥

सूत्रार्थ :- गंध-रस-रूप से भिन्न गुण शरीर में उत्पन्न न होने के कारण ये शरीर तीन भूतो वाला भी नहीं है ॥३॥

भाष्यार्थ :- *(न त्र्यात्मकम्)* शरीर आदि जो कार्य हैं ये प्रत्यक्ष पृथ्वी, जल, अग्नि इनके संयोग से उत्पन्न भी या तीन उपादानों वाले भी नहीं हैं । 'किस हेतु से' *(गुणान्तराप्रादुर्भावात् च)* संयोग में गुणांतर की उत्पत्ति होती है जैसे कि हरिद्रा और चुने को मिलाने पर (न हल्दी बचती है न चुना बचता है उससे अतिरिक्त तीसरा पदार्थ=लाल रंग उत्पन्न होता है) लोहित रूप एक विलक्षण द्रव्य उत्पन्न होता है । मिट्टी और पानी को मिलाने से एक तीसरे प्रकार का द्रव्य उत्पन्न होना चाहिए था (जो पिघला भी रहना चाहिए था और कठोर भी रहना चाहिए था, ऐसा कोई पदार्थ नहीं मिलेगा जो पिघला भी रहे और कठोर भी) तीन को मिलाने पर चौथे प्रकार का रंग और चौथे प्रकार का द्रव्य उत्पन्न होना चाहिए था जो कि नहीं हो रहा है । चकार से और भी गुणो को ले लिया गया है, पहले सूत्र का भी संबंध यहाँ पर कर लेते हैं, पांचों को मिलाने पर जो छठे रंग का जो होना चाहिए था वो भी नहीं उत्पन्न होता है । यदि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष के संयोगो की कल्पना करें । फिर गंध, रस, रूप जो है अप्रत्यक्ष रूप वायु और आकाश के उसका गंध, रूप, रस का शरीर आदि कार्यों में सम्मिलित रूप में गंध रस रूप से अतिरिक्त कोई भिन्न गुण अगन्ध, अरस, अरूप ऐसे गुणों वाला होना चाहिए था अथवा दृश्य और अदृश्य से कोई तीसरे प्रकार का होना चाहिए था या फिर चौथे प्रकार का या छटे प्रकार का होना चाहिए था ये कुछ नहीं दिखाई देता है, ऐसे हेतु के रूप में उसको लगा लेना चाहिए ॥३॥

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां पञ्चानां यद्वा प्रत्यक्षाणां द्रव्याणां संयोगः शरीरादिकार्ये खलूपादानत्वेन प्रतिषिद्धः, यतस्तेषां संयुक्तानां शरीरादिकार्याणि न तस्मात् तान्युपादानकारणानि न, परन्तु –

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ॥४॥

(अणुसंयोगः तु अप्रतिषिद्धः) पृथिव्याः खलूपादानत्वेऽपि तत्रैकोपादानके शरीरादावाप्यादिनामणूनां संयोगस्तु खल्वप्रतिषिद्धो मन्तव्यः, न हि शरीरसंस्थानं तैराप्यादिभिरणुभिर्विना सम्भवति घटादिपार्थिववस्तुवत्, घटो यद्यपि पार्थिवः

परन्तुतत्र घटसंस्थाने जलादयो न विद्यन्ते परन्तु तदणूनामुपष्टम्भकत्वेन तु तत्र भवितव्यमेंव तथैव शरीरादौ खल्वपि तदणूनामुपष्टम्भकत्वेनावश्यं भवितव्यं हि, नोचेच्छरीरादौक्लेदपाकव्यूहावकाशानां यद्वा रसरूपस्पर्शावकाशानामसम्भवः स्यात् । सोऽणुसंयोस्त्वभीष्टः ॥४॥

प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष पांचों भूतों का अथवा केवल प्रत्यक्ष द्रव्य जो तीन कहे हैं उनके शरीर आदि कार्य के रूप में या उपादान के रूप में निषेध कर दिया जिस कारण से उन संयुक्तों का शरीर आदि कार्य नहीं है, इसलिए वे शरीर के उपादान कारण नहीं हैं। परन्तु-

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ॥४॥

सूत्रार्थ:- शरीर के रचना में मुख्य कारण द्रव्य पृथिवी है और शरीर में जल, अग्नि आदि अणुओं का संयोग कुछ मात्रा में स्वीकार किया है। (अणुओं का जो संबंध है उसका निषेध नहीं होता है।) ॥४॥

भाष्यार्थ:- *(अणुसंयोगः तु अप्रतिषिद्धः)* एक पार्थिव उपादान होने पर यहाँ जो एक उपादान वाला शरीर है उस एक उपादान के होने पर भी जलीय आदि अणुओं के संयोग का निषिद्ध नहीं है, उसको मानना चाहिए। शरीर का संस्थान=रचना जो है ये उन आप्य आदि परमाणुओं के बिना नहीं हो सकता है (जैसे घड़ा बनाना हो तो पानी डालना ही पड़ेगा उसके बगैर मिट्टी गीली नहीं होगी) यद्यपि घट पार्थिव होता है, घट की रचना में जल नहीं होता है। रचना करने के लिए जल होता है वहाँ पर। अणुओ को जोड़ने मात्र=स्थिर करने मात्र के लिए होना ही चाहिए। शरीर आदि में भी ये उपष्टम्भक के रूप में रहते ही हैं, अन्यथा शरीर आदि में क्लेद=गीला, पाक=भोजन आदि का, व्यूह=एक दूसरे की रचना होती है, अवकाश= चलने का स्थान होता है ये सब रस रूप आकाश आदि के बिना ये संभव नहीं हो सकते हैं। इसलिए अणुओं के संयोग का वहाँ संबंध तो है ही ॥४॥

<u>पृथ्वी मूल है उस मूल से जो बन गया उसे पार्थिव कहेंगे, मिट्टी मूल कारण है उस कारण से जो कार्य बनेगा वो पार्थिव कहलाएगा। ऐसे ही जल से जलीय, वायु से वायवीय हो जाएगा।</u>

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ॥५॥

(तत्र) शरीरेन्द्रियविषयेषु (शरीरं द्विविधं योनिजम् – अयोनिजम् च) शरीरं खलु द्विविधं द्विप्रकारं भवति, प्रकारद्वये खल्वेकं योनिजम्, प्राणिशरीरे शुक्रशोणितसन्निपातस्थानंयोनिस्तत्र जातमण्डजरायुभ्यां बहिर्गमनशीलं

यद्वाण्डजराय्वोः पुष्टिगतं योनिजम् । द्वितीयं तद्भिन्नाज्जातमयोनिजम्, शरीरमयोनिजमाप्यं वरुणलोके तैजसमादित्यलोके वायव्यं मारुते लोके पूर्वमुक्तं यथा । पृथिवी लोके तूभयविधं योनिजमयोनिजञ्च भवति ॥५॥

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ॥५॥

सूत्रार्थः- शरीर, इंद्रिय और विषय इनमें शरीर दो प्रकार का होता है एक योनिज और दूसरा आयोनिज ॥५॥

भाष्यार्थः- *(तत्र)* शरीर, इंद्रिय और विषय *(शरीरं द्विविधं योनिजम् – अयोनिजम् च)* (शरीर को दो विभाग में रखते हैं एक योनिज दूसरा अयोनिज) शरीर दो विध अर्थात दो प्रकार का होता है, उन दो प्रकारों में से एक प्रकार है 'योनिज', प्राणियों के शरीर में जो शुक्र-शोणित (रज और वीर्य) का सन्निपात स्थान=मिलन स्थान होता है उसका नाम है योनि । उसमें उत्पन्न होने वाला अंडज और जरायु (ये योनिज के भीतर भी दो प्रकार हो जाएंगे) योनि उसको कहते है जो अंडे के माध्यम से बाहर आते हैं पक्षी-सर्प आदि और जो जरायु के माध्यम से निकलते हैं मनुष्य-पशु आदि । इन दोनों प्रकार अंडज और जरायुज से जो अलग है इसका नाम है आयोनिज अर्थात ये माता-पिता के माध्यम से उत्पन्न नहीं होते हैं । शरीर जो आयोनिज होता है और जलीय होता है वो वरुण लोक में होता है, आयोनिज तेजस शरीर आदित्य लोक में होता है, आयोनिज वायवीय शरीर मरुत लोक में होता है, शेष पार्थिव आयोनिज पृथ्वी पर होते हैं । वरुण-मरुत-आदित्य लोक में आयोनिज होते हैं पर पृथ्वी पर होने वाले शरीर दोनों प्रकार के होते हैं योनिज और आयोनिज ॥५॥

पार्थिवशरीरस्यायोनिजत्वे परिकर्म निर्दिश्यते –

अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् ॥६॥ धर्मविशेषाच्च ॥७॥ समाख्याभावाच्च ॥८॥
संज्ञाया आदित्वात् ॥९॥ सन्त्ययोनिजाः ॥१०॥

एतेषां सूत्राणामेंकवाक्यताऽस्ति तस्मात् सहैव व्याख्यायन्ते –

*(अयोनिजाः सन्ति) पृथिवीलोकेऽपि सन्ति खल्वयोनिजाः शरीरभेदा यद्वा देहाः साङ्कल्पिकसांसिद्धिकस्वेदजोद्भिज्जाः । कथमित्यत्रोच्यते (अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् धर्मविशेषात् च) 'अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्' * इति तु 'धर्मविशेषात्' इत्यस्य विशेषणम् । धर्मविशेषात्, चकारेण 'अधर्मविशेषात्' इत्यपि गृह्यते । यद्वा धर्मशब्दाददृष्टं धर्माधर्मजन्यं गृह्यते । अदृष्टविशेषात् प्रबलादृष्टवशात्, शुभादृष्टविशेषादशुभादृष्टविशेषाच्चानियतदिग्देशपूर्वकात्, यस्य खलु धर्मविशेषस्याधर्मविशेषस्य शुभाशुभादृष्टविशेषस्य दिग्देशौ न नियतौ*

*देहारम्भकशक्तिमद्भिर्भूतसूक्ष्मैरणुभिः सह, तस्य हि सर्वदिग्देशेषु कुत्रापि प्रवर्तनाद् भवन्ति खल्वयोनिजाः शरीरभेदा देहा वा, तच्छुभाशुभादृष्टविशेषकारितं हि भूतसूक्ष्मेष्वणुष्वाद्यं कर्म, तस्मात् तदनियतदिग्देशपूर्वकादृष्टकारितैरयोनजैः शरीरैर्भवितव्यम् । ये चायोनिजा देहा अशुभादृष्टविशेषात् ते स्वेदजोद्भिज्जानां सर्वकाले भवन्ति । शुभादृष्टविशेषात् साङ्कल्पिका देहा वैदिकानां परमर्षीणाम् । सांसिद्धिका नैसर्गिका आद्या देहाश्चाप्याद्यायोनिजत्वधर्मविशेषाद् भवन्ति **। अन्या व्याख्या (अयोनिजाः सन्ति अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् धर्मविशेषात् च) पृथिवीलोकेऽपि सन्ति खल्वयोनिजाःशरीरभेदा देहा वा साङ्कल्पिकसांसिद्धिकस्वेदजोद्भिज्जाः । विधातुं शक्यते पूर्वं यस्य तथाभूताद् धर्मविशेषाच्छुभाशुभादृष्टविशेषात् । अर्थाद् यस्य शुभाशुभादृष्टविशेषस्य योनिमार्गो योनिप्रक्रिया वा न नियम्यते स्त्रीपुरुषसंयोगादिस्तथाभूताद् भवन्ति ह्ययोनिजाः शरीरभेदा देहा वा । शुभादृष्टविशेषात् साङ्कल्पिका वैदिकपरमर्षीणां सांसिद्धिकाश्चाद्यदेहा मनुष्यादीनाम्, अशुभादृष्टविशेषात् साम्प्रतमपि भवन्त्ययोनिजा देहाः क्षुद्रकृमिकीटानामुद्भिज्जानां च । अथ च तत्रैव स्वतन्त्रव्याख्यायामन्यो मार्गः (अयोनिजाः सन्ति अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्) पृथिवीलोकेऽपि सन्ति खल्वयोनिजाः शरीरभेदा देहा वा, तेषामयोनिजानामनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् । अयोनिजा देहा अनियतदिग्देशपूर्वका** भवन्ति, अयोनिजाः खलु देहा न नियतमार्गनिर्देशपूर्वकत्वं मैथुनादियोनिप्रक्रियापूर्वकत्वमपेक्षन्ते यतः सृष्टेरादौ योनिप्रक्रियाया असम्भवात् तेषां मातापित्रोरभावात् । तस्मात् ते प्रारम्भिकदेहा योनिप्रक्रियारहिताः सन्तो भवन्त्ययोनिजाः, मनुष्यपशुपक्ष्यादीनां सांसिद्धिका नैसर्गिकाः #। तथा (धर्मविशेषात् च) अथ च केचनायोनिजा धर्मविशेषात् – मानसिकविशिष्टधर्मात् सङ्कल्पादपि भवन्ति साङ्कल्पिका देहा वैदिकानां परमर्षीणाम् । (समाख्याभावात् च) समाख्या सम्यगाख्या यौगिकी संज्ञा यौगिकसंज्ञायाः सत्त्वात् तथाभूता संज्ञाः सन्ति महर्षीणां यथा तेषामयोनिजा देहाः । यथा स्वयम्भवनात् स्वयन्भूः, भृगुर्भर्जनात्, इत्यादयः तथा (संज्ञायाः आदित्वात्) अग्निब्रह्मादीनां परमर्षीणां संज्ञा खलु सर्गादौ प्रसिद्धा तदा तेभ्यः पूर्वं अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् # अनियतदिग्देशनम् अनियतरीतिनिर्देशनम् नियतयोनिमार्गो नियतयोनिप्रक्रिया ## वा न देष्टुं निर्देष्टुं नासन् मातापितृरूपा जनाः पुनरग्निब्रह्मादिकायाः सर्वप्रथमायाः खल्वमनुष्यकृतत्वादमातापितृकृतत्वादन्यजनाकृतत्वादासंस्तेऽवश्यमयो निजाः ॥६-१०॥*

--- --- --- --

**। 'त्व' प्रत्ययोऽत्र स्वार्थे ।*

***। प्रशस्तपादभाष्यभासपरा व्याख्या ।*

#'त्व' प्रत्ययः स्वार्थे ।

दिक् – रीतिः, मार्गः, प्रक्रिया, पद्धतिः । यथा "अन्येषां परीक्षामनयैव दिशा प्रतिपत्तुमर्हति" (वै. ७।१।१ चन्द्रकान्तः) "अवशिष्टानां परीक्षा उक्तदिशैव कर्तव्या" (वै. १०।२।७ जयनारायणविवृतौ) ।

------ ------ ----- ------------------------------------

***। "अनियदिग्देश" इतिशब्दः प्रशस्तपादे प्रयुज्यते कालकृतपरत्वापरत्वप्रकरणे । तत्रापि खल्वभिप्राय एतादृशः । यथा "कालकृतयोरपि वर्तमानकालयोरनियतदिग्देशसंयुक्तयोर्युवस्थविरयोः" इति विशेषणं'युवस्थविरयोः'। कथम्भूतयोः परत्वापरत्वे भवतः 'अनियतदिग्देशसंयुक्तयोः' इति विशेषणम् । अर्थात् नियतवंशपद्धतिनिर्देशासम्बद्धयोर्युवस्थविरयोरत्र परत्वापरत्वेऽभीप्येते न तु नियतवंशपद्धतिसम्बद्धयोर्भ्रातृव्यपितृव्ययोः, पितृव्यः स्थविरो भवति भ्रातृव्यो युवा भवतीति नियतवंशपद्धतिसम्बद्धत्वात्, तत्र न कालोऽपेक्ष्यते तत्र भ्रातृव्यादल्पायुष्कोऽपि पितृव्यः स्थविरस्तथाऽधिकायुष्कोऽपि भ्रातृव्यो युवा भवति । तत्र परत्वापरत्वे काललक्षणमिति यावत् ।*

#। अद्यत्वेऽपि केषाञ्चित्क्षुद्रजन्तूनामिन्द्रगोपादीनां योनिमार्गाभावाद् वर्षर्तौ भवन्त्ययोनिजा देहाः, तथोद्भिज्जानां वनस्पतीनां तु सदैवानियतदिग्देशपूर्वकत्वात् मैथुनादियोगपद्धतिरहितत्वादयोनिजत्वं स्थिरमस्ति ।

पार्थिव शरीर जो आयोनिज होते हैं उसका परिकर्म=उपसंहार दिखाते हैं-

अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् ॥६॥ धर्मविशेषाच्च ॥७॥ समाख्याभावाच्च ॥८॥
संज्ञाया आदित्वात् ॥९॥ सन्त्ययोनिजाः ॥१०॥

सूत्रार्थ:- (६) आयोनिज शरीर होते हैं उनका धर्माधर्म विशिष्ट दिशा (७) और स्थान निश्चित न होने से और (८) आदि-ऋषियों का नाम ईश्वर कृत होने से, (९) अन्य मनुष्यकृत न होने से ये योनिज शरीर वाले नहीं हैं (१०) आयोनिज वाले ही हैं ।

(जो आयोनिज शरीर हैं उसका कोई भी दिशा या देश निश्चित नहीं है, भिन्न-भिन्न स्थानों में हो सकते हैं। और धर्म भी इनके अलग-अलग होते हैं। किन्तु शरीर होने से ये होते हैं । संज्ञा का भी आरंभ देखे जाने से । आयोनिज शरीर भी होते हैं) ॥६-७-८-९-१०॥

इन पांचों सूत्रों का एक वाक्य बनता है, इसलिए एक साथ व्याख्यान कर रहे हैं-

भाष्यार्थ:- *(अयोनिजाः सन्ति)* पृथ्वी लोक में भी आयोनिज शरीरों की जातियां या भेद हैं अथवा जो सांकल्पिक, सांसिद्धिक, स्वेदज और उद्भिज्ज देह भी हैं यहाँ पर । कैसे हैं ये यहाँ पर? तो उसके विषय में बता रहे हैं कि-*(अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् धर्मविशेषात् च)* जिसका नियत दिशा और देश नहीं है इस प्रकार के धर्म विशेष के, धर्म और अधर्म कि विशेषता से भी सांकल्पिक, सांसिद्धिक, स्वेदज और उद्भिज्ज देह होते हैं । अथवा धर्म शब्द से यहाँ पाप-पुण्य जो अदृष्ट है उसका ग्रहण हो जाता है, अदृष्ट विशेष के कारण या अदृष्ट जिसके प्रवल होने से=कर्माशय जिसके प्रवल होने से, पुण्य कर्माशय अधिक हैं या पाप कर्मशाय अधिक हैं इस कारण से, अनियत दिशा और देश पूर्वक जो धर्म का कर्माशय है या अधर्म का कर्माशय है, सुख देने वाला है या जो दु:ख देने वाला जो अदृष्ट है उसका दिशा और देश निश्चित स्थान नहीं है । देह आरम्भक

शक्ति जो बहुत सूक्ष्म अणुओं के साथ बनता है उस अणु का सभी दिशाओं में और सभी देशों में प्रवर्तन संभव होने से, (अर्थात कहीं भी ये शरीर उत्पन्न हो सकते हैं स्थान विशेष इसका निश्चित नहीं होगा, जैसे वृक्षादि उनमें भी चन्दन के वृक्ष हिमालय पर नहीं होंगे और हिमालय के देवदारु आदि अन्य स्थलों पर नहीं होते, इस प्रकार से ।) कहीं भी उत्पन्न हो जाने से ये आयोनिज होते हैं (योनिज होने पर जहां माता पिता होंगे वहीं उत्पत्ति होती है) पाप पुण्य या शुभाशुभ कर्माशय विशेष कारित ही होते हैं सूक्ष्म भूतों में उनके कर्म कर्मवशात हो जाते हैं और ये कहीं भी उत्पन्न हो जाते हैं इसलिए उनका देश आदि नियत नहीं किया जा सकता है तो उनका अदृष्ट कार्य शरीर आयोनिज ही होना चाहिए । और जो आयोनिज देह अशुभ अदृष्ट वाले हैं वे तो स्वेदज होते हैं उद्भिज्ज होते हैं और सभी समय में हो जाते हैं । शुभ अदृष्ट वाले जो होते हैं वो सांकल्पिक देह होते हैं और वे वेदों के काल में परम ऋषि जो होते हैं उनके ही होते हैं । और सांसिद्धिक नैसर्गिक जो प्राकृतिक देह होते हैं जो अन्य मनुष्यों के भी आरंभिक देह होते हैं ये भी प्रथम में आयोनिज धर्म वाले होते हैं (क्योंकि सबसे पहले तो माता पिता होंगे नहीं) । अब दूसरी तरह भी व्याख्या कर रहे हैं सूत्र की-

(अयोनिजाः सन्ति अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् धर्मविशेषात् च) पृथ्वी लोक में भी आयोनिज भेद वाले देह हैं सांकल्पिक, सांसिद्धिक, स्वेदज और उद्भिज्ज। अनियत दिग्निर्देश= उनके कार्य का निश्चित नियम निर्देश न होने से, उसकी क्या योनि है क्या प्रक्रिया है जन्म की ठीक-ठीक निर्देश नहीं हो पाता है जिनका ऐसे उसका विधान नहीं किया जा सकता है ठीक से, इससे पहले ये होता है फिर ये होता है इस प्रकार से निश्चित नहीं है । ऐसे धर्म विशेष जो शुभ-अशुभ विशेष हैं उनके कारण अर्थात जिस शुभ अशुभ अदृष्ट वाले के योनि मार्ग या योनि प्रक्रिया का नियमन नहीं होता है, स्त्री पुरुष के संयोग का नियम नहीं बनता है जिसमें उस प्रकार वाले का आयोनिज शरीरों के भेद या देह होते हैं । शुभ अदृष्ट वाले तो अन्य हो जाएंगे वैदिक होते हैं सांकल्पिक होते हैं, सांसिद्धिक भी होते है वे शेष अन्य माता पिताओं के होते हैं । अशुभ अदृष्ट वाले नीच योनि वाले वर्तमान में भी आयोनिज शरीर या देह होते हैं, छुद्र, कीट, पतंगादि का और उद्भिज्ज जो वारिश में लताएँ व छोटे-छोटे पौधे होते हैं वे । (अब तीसरी पद्धति से अर्थ करेंगे) स्वतंत्र व्याख्या में एक और मार्ग है-

(अयोनिजाः सन्ति अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्) पृथ्वी लोक में भी आयोनिज शरीर होते हैं उन अयोनिजो का कोई दिशा देश आदि निश्चित न होने से आयोनिज देह अनियत दिग्देश वाले होते हैं, आयोनिज शरीर नियत मार्ग मैथिन आदि की जो प्रक्रिया होती है उसकी अपेक्षा नहीं रखते हैं क्योंकि सृष्टि के आरंभ में योनिज प्रक्रिया संभव ही नहीं होती है उनके माता-पिता का अभाव होने से । इसलिए वे प्रारम्भिक देह योनि

प्रक्रिया से रहित होते हुए आयोनिज होते हैं। मनुष्य पशु पक्षी आदि के जो शरीर होते हैं वे सांसिद्धिक नैसर्गिक शरीर होते हैं। *(धर्मविशेषात् च)* और कुछ आयोनिज जो धर्म विशेष वाले होते हैं मानसिकता जिनकी विशिष्ट होती है ऐसे विशिष्टि धर्म वाले सांकल्पिक देह ऋषियों के होते हैं।*(समाख्याभावात् च)* सामाख्या अर्थात सम्यक आख्या पारिभाषिक संज्ञाओं के कारण भी उस प्रकार के संज्ञा वाले महर्षियों के योनिज शरीर हैं, जैसे अपने आप जो हो जाता है उसे स्वयंभू कहते हैं, अपने क्लेशों को भ्रष्ट=नाश कर दिया था इस कारण से वे भृगु हो गए, आदि संज्ञाएँ भी उनकी मिलती हैं,*(संज्ञायाः आदित्वात्)* अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा, ब्रह्मा आदि ये जो ऋषियों के नाम हैं ये सभी सर्ग के आदि में प्रसिद्ध हुए तथा इन सबके पहले कोई माता-पिता तो थे नहीं , नाम भी रखने वाले नहीं थे जबकि नाम इनके रखे हुए हैं। और नाम के अनुरूप इनका शरीर था, इससे ये सिद्ध होता है के ये योनिज शरीर वाले तो नहीं थे परंतु थे अवश्य, योनिज वाले नहीं थे पर थे इसका अर्थ हुआ ये आयोनिज थे ॥६-७-८-९-१०॥

पुनश्च –

वेदलिङ्गाच्च ॥११॥

(वेदलिङ्गात् च) चकारोऽप्यर्थे । वेदलिङ्गादपि खलु सिद्ध्यति सन्ति ह्ययोनिजाः शरीरभेदा देहा वा । वेदो लिङ्गं प्रमाणं यस्य यद्वा वेदो लिङ्ग्यते प्रमाणीक्रियते यस्मिन् तत् स्मृतिशास्त्रं तस्मात् स्मृतिशास्त्रात्, चकारेण वेदादपि वेदलिङ्गं स्मृतिशास्त्रं तावत् "सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममें ॥" (मनु. १।२१) वेदः खल्वपि "यो देवानां नामधाः" (ऋ . १०।८२।३) "तेन चाक्लृपे ऋषयो मनुष्याः" (ऋ. १०।९०।१०) सृष्टेरादौ मनुष्यपशुपक्षिप्रभृतीनां सर्वेषां प्राणिनां देहानयोनिजान् मातापितृभ्यां विना परमात्मा खलूत्पदितवान् ॥११॥

फिर कहते हैं-

वेदलिङ्गाच्च ॥११॥

सूत्रार्थः- स्मृति शास्त्र और वेद से भी यह सिद्ध है कि अयोनिज शरीर होते हैं ॥१॥
भाष्यार्थः- *(वेदलिङ्गात् च)* भी अर्थ में चकार हैं यहाँ। वेद के प्रमाण से भी सिद्ध होता है कि आयोनिज शरीरों के भेद ऐसे देह होते हैं। वेद लिंग या प्रमाण है जिसका अथवा वेद का प्रमाण किया जाता है जिसमें स्मृति शास्त्रों में मनुस्मृति ब्राह्मण आदि में उसके प्रमाण से भी वेद प्रमाण वाला स्मृति शास्त्र होता है । जैसे कि*"सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममें ॥" (मनु. १।२१)* सभी के नाम और कर्म पृथक-पृथक हैं । वेद के ही शब्दों से लेकर *वेदः खल्वपि "यो*

देवानां नामधाः" (ऋ. १०।८२।३) सृष्टि के आरंभ में अलग-अलग स्थान बनाए अलग-अलग नाम किया ॥ वेद में भी कहा – जो विद्वानों का नाम रखने वाला है । *"तेन चाक्लृपे ऋषयो मनुष्याः" (ऋ. १०।९०।१०)* उसने ही ऋषियों और मनुष्यों को बनाया । तस्मादशवा अजायन्ता उसी से घोड़े उत्पन्न हुए जो कि दोनों ओर दांत वाले हैं, गाय भी उत्पन्न हुई और उसी से भेड़ और बकरियाँ आदि उत्पन्न हुई हैं । मनुष्य से लेकर पशु पक्षी पर्यंत सभी प्राणियों के देह अयोनिज वाले है उनको बिना माता-पिता के ही परमात्मा ने बनाया है॥१॥

द्वितीयाह्निकं समाप्तम् ।
समाप्तिंगतश्च चतुर्थोऽध्यायः ॥
----०----

पञ्चमोऽध्यायः तत्र प्रथमाह्निकम्

कर्मणः शरीरोत्पत्तिकारणत्वात् तत्परीक्षामारभमाण आह –

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥१॥

(आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म) संयोगश्च प्रयत्नश्च संयोगप्रयत्नौ तौ चात्मनो यौ भवतः, ताभ्यां भवति खलु शरीराङ्गे हस्ते कर्म। 'हस्ते' इत्युदाहरणमुत्क्षेपणकर्मणि। हस्तः समवायिकारणं कर्मणः, संयोगोऽसमवायि कारणं प्रयत्नो निमित्तकारणमात्मलिङ्गत्वात् ॥१॥

कर्म से शरीर की उत्पत्ति होती है (शरीर की उत्पत्ति का कारण कर्म के होने से) उस कर्म की परीक्षा आरम्भ करते हैं (वो कर्म ठीक लक्षण वाला है या नहीं, वह संयोग विभाग का कारण होता है या नहीं ? और यदि होता है तो कैसे होता है ?) इसको बताएँगे-

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥१॥

सूत्रार्थ:- आत्मा का हाथ से संयोग और प्रयत्न गुण के कारण हाथ में उत्क्षेपण कर्म होता है॥१॥

भाष्यार्थ:-*(आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म)* संयोग और प्रयत्न निन दोनों को संयोगप्रयत्नौ कहेंगे वो जो दोनों आत्मा में होते हैं, जो आत्मा के होते हैं। उन्हीं दोनों से शरीर के हस्त में कर्म होता है (आत्मा के प्रयत्न के द्वारा शरीर के अंगों में कर्म होता है)। "हस्ते" शब्द जो उदाहरण के रूप में पड़ा है वह उत्क्षेपण आदि कर्म को बताने के लिए है। उत्क्षेपण कर्म का समवायिकारण हाथ है, हाथ का या आत्मा का शरीर से संयोग असमवायिकारण हो गया और प्रयत्न निमित्त कारण है आत्मा का लिङ्ग होने के कारण ॥१॥

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ॥२॥

(तथा च) तथा च (हस्तसंयोगात् च) हस्तस्य संयोगात् मुसलेन सह संयोगात् (मुसले कर्म) मुसले कर्मोत्क्षेपणं भवति। मुसलं समवायिकारणं हस्तसंयोगोऽसमवायिकारणं गुरुत्वोत्तोलनपूर्वकः प्रयत्नो निमित्तकारणम्। 'मुसले' इत्युदाहरणम् ॥२॥

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ॥२॥

सूत्रार्थ:- और मूसल के साथ हाथ का संयोग होने से मूसल में भी उत्क्षेपण कर्म हो जाता है ॥२॥

भाष्यार्थ:- *(तथा च)* उसी प्रकार से *(हस्तसंयोगात् च)* हाथ के संयोग से मूसल के साथ संयोग हो जाने से*(मुसले कर्म)* मूसल में उत्क्षेपण कर्म हो जाता है। मूसल यहाँ समवायिकारण हो गया हाथ का मूसल से संयोग ये असमवायिकारण हो गया गुरुत्व से ऊपर उठाना में प्रयत्न निमित्त कारण हो गया । मूसल उदाहरण में इस प्रकार से समझना चाहिए ॥२॥

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः ॥३॥

(मुसलादौ अभिघातजे कर्मणि) मुसलादौ नीचैरुदूखलेन सह खल्वभिघाताज्जाते मुसलस्य खलूत्पतनकर्मणि (हस्तसंयोगः अकारणम्) मुसलेन सह हस्तस्य संयोगोऽसमवायिकारणं न भवति, (व्यतिरेकात्) विनाभावात्, हस्तसंयोगेन विनाऽपि खलूदुखलाभिघातान्मुसलादावुत्पतनं तु भविष्यत्येव तत्र मुसलादि समवायिकारणं तु भवत्येव ॥३॥

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः ॥३॥

सूत्रार्थ:- ऊखल से टकराकर मूसल में होने वाले उत्क्षेपण कर्म में हाथ का संयोग कोई कारण नहीं होता है, हस्त संयोग के बिना भी मूसल में उत्क्षेपण कर्म होने से ॥३॥

भाष्यार्थ:- *(मुसलादौ अभिघातजे कर्मणि)* मूसल आदि का ऊखल में ऊपर से नीचे गिरते समय जो चोट लगी उस चोट धक्के के लगने से वह ऊपर उठ गया*(हस्तसंयोगः अकारणम्)* उस समय मूसल के साथ जो ऊपर उठने का कर्म है उसमें जो उठते समय मूसल के साथ हाथ का असमवायिकारण होना चाहिए था वह नहीं है अर्थात उस क्रिया में संयोग निमित्त नहीं है उस कारण से वहाँ ये असमवायी कारण ये नहीं बनेगा।*(व्यतिरेकात्)* उसके बिना होने से, बिना हाथ के संयोग के भी वह ऊपर उछल सकता था इसलिए ऊखल के टक्कर से मूसल में उत्पन्न होने वाला वो कर्म तो होगा ही, तो समवायी कारण तो मूसल ही रहेगा और मूसल से ऊखल का जो वियोग हुआ वो वहाँ असमवायिकारण हो जाएगा, हाथ का संयोग वो यहाँ असमवायिकारण नहीं होगा॥३॥

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥४॥

(हस्तकर्मणि) अकारणमित्यनुवर्तते, मुसलादिनोत्पतता सह हस्तस्योत्पतनकर्मणि (आत्मसंयोगः) प्रयत्नादिगुणवत आत्मनः संयोगो हस्तेन सह

*संयोगो कारणं – असमवायीकारणं न * भवति (तथा) तथैव व्यतिरेकादित्यथः, तत्र प्रयत्नमन्तरेणानिच्छयाऽपि कर्म तु भवत्येव ॥४॥*

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥४॥

सूत्रार्थः- उसी प्रकार से आत्मा का जो संयोग है वो असमवायि कारण नहीं बनता है, मूसल के उपर उठते समय ॥४॥

भाष्यार्थः- *(हस्तकर्मणि)* अकारण नहीं होता है अर्थात असमवायी कारण नहीं होता है, मूसल आदि के साथ गिरने के बाद ऊपर उठते हुए हाथ के ऊपर उठने के कर्म में*(आत्मसंयोगः)* प्रयत्न गुण वाले आत्मा आदि का हाथ के साथ जो संयोग है वह असमवायि कारण नहीं होता, *(तथा)* उसी प्रकार से व्यतिरेक से भी जानना चाहिए कि वह उससे अलग है, प्रयत्न के बिना तो कर्म हो ही जाता है (लेकिन यहाँ हाथ का उठना होते हुए भी आत्मा का प्रयत्न कारण नहीं है, समवायि कारण हाथ है लेकिन हाथ और आत्मा का संयोग असमवायि कारण नहीं है)॥४॥

कुतस्तर्हि हस्तेऽप्युत्पतनं कर्म। उच्यते –

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥५॥

(अभिघातात् मुसलसंयोगात् हस्ते कर्म) पूर्वोक्तादभिघातात्त खलु हस्तेन मुसलस्य संयोगात् हस्ते कर्म जातम् । यथा मुसलसंलग्नत्वाद् वस्त्रे प्रचालनं घण्टायां दोलनं वा कर्म ॥५॥

तो फिर हाथ में भी ऊपर उठजाने का कर्म या उत्क्षेपण कर्म कैसे हो जाता है? इस विषय में बताते हैं-

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥५॥

सूत्रार्थः- अभिघात से मूसल में कर्म उत्पन्न होता है, उस कर्म युक्त मूसल के साथ हाथ का संयोग होने से, हाथ में कर्म होता है ॥५॥

भाष्यार्थः- पूर्वोक्त अभिघात से हाथ के साथ मूसल के संयोग से हाथ में कर्म उत्पन्न हुआ । मूसल के साथ जुड़े रहने से वस्त्र में चलना जैसे हो जाता है मूसल के साथ और भी बांध देते हैं घण्टी आदि सभी हिलते रहते हैं, दोलन आदि कर्म हो जाता है पहले वेग में उत्पन्न होता है ॥५॥

अथ तदानीं स्वस्मिन् शरीरेऽवयविनि कुतः कर्मेत्युच्यते –

आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥६॥

(आत्मकर्म) स्वस्मिन् खल्ववयविनि शरीरे यदुत्पतनं स्फुरणं वा कर्म मुसलाभिघातादुत्पद्यते चकारेण हस्तवेगाच्च ॥६॥

अब उस समय जब हाथ हिल गया उठ गया मूसल के संबंध से उस समय शरीर के अवयवों में जो कर्म होता है, उसका कारण कौन होता है? किस निमित्त से होता है? इसके विषय में बताते हैं-

आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥६॥

सूत्रार्थ:- शरीर में जो हिलना कर्म हुआ वह शरीर के साथ हाथ का संयोग होने से होता है ॥६॥

भाष्यार्थ:- अपने अवयवी शरीर में जो उछलना या फैलना जो कर्म हुआ है वो सब (हाथ हिलता है उसको 'मूसल' को पकड़े रहने से) मूसल के आघात से उत्पन्न होता है वहाँ आत्मा का कारण नहीं है हाथ के हिलने से शरीर हिल जाते हैं ॥६॥

पतने किं कारणम्, इत्युच्यते –

संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥७॥

(संयोगाभावे) उत्क्षेपणनिमित्तस्य संयोगस्य पतनप्रतिबन्धकस्य संयोगस्याभावे सति (गुरुत्वात् पतनम्) भारवत्त्वात् खलु वस्तुनो नीचैः पतनं भवति, पतने नान्यत् कारणं भार एव कारणम् ॥७॥

पतन किस कारण से होता है? इसके विषय में कहते हैं-

संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥७॥

सूत्रार्थ:- पूर्व प्रकरण अनुसार मूसल आदि में वेग का अभाव हो जाने पर मूसल में भार गुण होने के कारण और पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण मूसल में पतन कर्म होता है ॥७॥

भाष्यार्थ:- *(संयोगाभावे)* उत्क्षेपण के निमित्त संयोग से =जिसने उसको ऊपर उठाया था उस संयोग के निमित्त का पतन होने से, जब तक उसमें वेग था तब तक ढोए जा रहा था गिर नहीं रहा था । वह पतन का प्रतिबंधक था, उस संयोग के हट जाने से*(गुरुत्वात् पतनम्)* भारी भार वाली वस्तु का नीचे पतन हो जाता है, इसलिए गिरने में और कोई कारण नहीं है उसका भार ही कारण होता है ॥७॥

पतनं भवति संयोगाभावे गुरुत्ववतो व वस्तुनः । परन्तु विशिष्टनोदनादूर्ध्वं गतं गुरुत्ववद् वस्तु कथं पतति । उच्यते –

नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग्गमनम् ॥८॥

(नोदनविशेषाभावात्) प्रेरणासंस्कारस्य प्रणाशाद् गुरुत्ववतो वस्तुनः (न ऊर्ध्वं न तिर्यग् गमनम्) न ह्यूर्ध्वं न हि तिर्यग् गमनं भवति । ऊर्ध्वप्रेरणसंस्कारेणोर्ध्वं, तिर्यक्प्रेरणसंस्कारेण तिर्यग् गच्छतिहि वस्तु, नान्यथा । तत्प्रेरणसंस्कारसमाप्ते कथं स्यादूर्ध्वं तिर्यग् वा गमनम् ॥८॥

संयोग के अभाव में भार वाले गुरुत्व वाले वस्तु का गिरना होता है । ठीक है भारी वस्तु को बांध रखा था अथवा पकड़ रखा था, उसमें हाथ और संयोग ने रोका हुआ था लेकिन जिसमें संयोग ही नहीं है वाण ढेले आदि में वो क्यों गिरता है? उसके लिए कह रहे हैं-

नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग्गमनम् ॥८॥

सूत्रार्थ:- वेग संस्कार का अभाव हो जाने से भार वाली वस्तु पत्थर आदि न ऊपर जाती है, न दाएँ - न वाएं ॥८॥

भाष्यार्थ:- *(नोदनविशेषाभावात्)* वेग को आगे बढ़ाने वाली जो शक्ति है उसके नष्ट हो जाने से *(न ऊर्ध्वं न तिर्यग् गमनम्)* भारी वस्तु का न ऊपर जाना होता है और न तिरछा जाना होता है । इसलिए ऊपर उठाने वाले संस्कार से तो वस्तु ऊपर को जाती है और आगे बढ़ाने वाली प्रेरणा से आगे बढ़ जाती है, अन्यथा किसी भी दिशा में अपने आप गति नहीं होती है । उस प्रेरण के संस्कार के समाप्त हो जाने पर तो, दो ही उसके कारण थे एक ऊपर ले जाने वाले दूसरे तिर्यक ले जाने वाले, तो दोनों में से कोई नहीं रहा, तो अब वह वस्तु न ऊपर जा सकती है और न नीचे जा सकती है फिर उसको बीच में खड़ा होना चाहिए था, पर ऐसी स्थिति में वस्तु नीचे गिर जाती है ॥८॥

---- ---- ---- --

*

संयोगोऽसमवायिकारणं निमित्तकारणं चोभयथा भवति तदुक्त प्रशस्तपादेऽपि द्रव्योत्पत्तावसमवायिकाणं गुणकर्मोत्पत्तौ तु निमित्तकारणं चेतनसंयोगः सर्वत्र निमित्तकारणमिति विवेकः ।

---o----

प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ॥९॥

(प्रयत्नविशेषात्) प्रयत्नविशेषात् –वाणलोष्टादि वा तिर्यगूर्ध्वं दूरं प्रक्षेप्तुं हस्तज्यादिकस्य बलेन पश्चान्नीचैर्वा कर्षणं प्रयत्नविशेषो–विशिष्टप्रयत्नस्तस्मात् (नोदनविशेषः) प्रेरणसंस्कारविशेषो विशिष्टप्रेरणसंस्कारो भवति ॥९॥

अब कह रहे है जो गति होती है वह कहाँ से प्राप्त होती है?

प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ॥९॥

सूत्रार्थ:- पत्थर तीर आदि भार वाली वस्तु में प्रयत्न विशेष से वेग संस्कार उत्पन्न होता है॥९॥

भाष्यार्थ:-_(प्रयत्नविशेषात्)_ प्रयत्न विशेष अर्थात वाण और लोष्ठ=ढेला या अन्य कोई वस्तु उनको सीधे फैंकने के लिए या दूर फेंकने के लिए, सामने या ऊपर फेंकने के लिए हाथ और उसकी जो डोरी होती है धनुष की जो कमानी होती है उसको पीछे खेंचने से उसके बल से अथवा उसको नीचे खींचने से फिर ऊपर की ओर हो जाता है कर्षण विशेष प्रयत्न से विशिष्ट प्रयत्न उत्पन्न होता है ।_(नोदनविशेषः)_ उस प्रेरणा विशेष संस्कार से विशेष दूसरी प्रेरणा उसमें उत्पन्न हो जाती है इस प्रकार से प्रयत्न उत्पन्न किया जाता है ॥९॥

_पुनः –_

नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥१०॥

(नोदनविशेषात्) विशिष्टप्रेरणसंस्कारात् (उदसनविशेषः) उदसनविशेषो विशिष्टोदसनं विशिष्टोत्सर्पणं तिर्यगूर्ध्वं वा विशिष्टगमनं भवति ॥१०॥

फिर कहते हैं-

नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥१०॥

सूत्रार्थ:- विशेष वेग के उत्पन्न होने से वस्तु का दूर गमन होता है ॥१०॥

भाष्यार्थ:- _(नोदनविशेषात्)_ विशिष्ट प्रेरणा के संस्कार से _(उदसनविशेषः)_ ऊपर उठना विशेष रूप से ऊपर उठना, तिरछा या ऊपर जाना विशेष गमन होता है ॥१०॥

परन्तु तत्रायं विशेषः–

हस्तकर्मणा दारकर्म व्याख्यातम् ॥११॥

(दारकर्म) बालकस्योदसनकर्म तिर्यगूर्ध्वमङ्गचलनम् (हस्तकर्मणा व्याख्यातम्) हस्तकर्मणा तुल्यं व्याख्यातं वेदित्तव्यं, यथाभिघातान्मुसलेन सह यद्वा मुसलसंयोगाद् हस्ते भवत्युदसनं कर्म नोदनविशेषमन्तरेणानिच्छया च संयोगमात्रेण तथैव क्रीडतो बालकस्योदसनं कर्म नोदनविशेषमन्तरेण क्रीडनसाधनसंयोगेन, यद्वा बालकस्य नवजातशिशोरङ्गचलनं न नोदनविशेषेण किन्तु तदभ्यन्तरस्थितस्य प्राणवायोः संयोगेन ॥११॥

उस में इतनी विशेषता है कि –

हस्तकर्मणा दारकर्म व्याख्यातम् ॥११॥

सूत्रार्थ:- खिलौने पर बैठे बच्चे के शरीर में होने वाला कर्म सूत्र ४-५ के हस्त कर्म के तुल्य जानना चाहिए ॥११॥

भाष्यार्थ:- *(दारकर्म)* बालक का उदसन कर्म= बालक का हाथ फेंकना या हिलाना अर्थात तिर्यक ऊर्ध्व अङ्ग का चलाना= ऊपर नीचे हाथ घुमाना *(हस्तकर्मणा व्याख्यातम्)* हस्त कर्म के समान व्याख्यात समझ लेना चाहिए । जिस प्रकार से अभिघात के कारण अर्थात ऐसे अभिघातज से उत्पन्न मूसल के साथ जो हाथ का संयोग होता है (हाथ में कर्म उत्पन्न करता है जिससे हाथ ऊपर उठ जाता है) ऐसे ही नोदन विशेष के बिना और अनिच्छा से केवल संयोग मात्र से ही कर्म होता है । बालक का उदसन कर्म नोदन विशेष के विना क्रीडा साधन के संयोग से अथवा बालक का= नवजात शिशु का अङ्ग चलाना उसके आत्मा के नोदन विशेष से नही होता है किन्तु उस शिशु के अंदर स्थित प्राण वायु के संचार के कारण वह हाथ हिलाता रहता है ॥११॥

तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥१२॥

(तथा) तथा च (दग्धस्य विस्फोटने) दग्धस्य दह्यमानस्य काष्ठाश्मादिकस्य विस्फोटेन, विपाटने तदंशानां तिर्यगूर्ध्वगमनरूपमुदसनं कर्म हस्तकर्मणा तुल्यं व्याख्यातं नोदनविशेषमन्तरेण, अग्निसंयोगेनैव ॥१२॥

तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥१२॥

सूत्रार्थ:- उसी प्रकार से जलती हुई लकड़ी या पहाड़ों के बम से फूटने पर जो टुकड़े उछल कर दूर जाते हैं उन में आत्मा का विशेष कारण नोदन आदि नही होता, अग्नि का संयोग ही वहाँ कारण होता है ॥१२॥

भाष्यार्थ:- *(तथा)* उसका और *(दग्धस्य विस्फोटने)* जलते हुए का काष्ठ पत्थर आदि का विस्फोट होने पर या विपाटन = फूटने पर उनके अंशों का तिर्यक = तिरछा, ऊर्ध्व = ऊपर गमन रूपी उदसन कर्म हस्त कर्म के समान उस प्रकार का जानना चाहिए । नोदन विशेष के बिना केवल अग्नि संयोग से ही होता है, उसमें और कोई प्रेरक नही होता है ॥१२॥

एवं हि –

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥१३॥
तृणे कर्म वायुसंयोगात् ॥१४॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति –

(प्रसुप्तस्य यत्नाभावे चलनं तृणे कर्म वायुसंयोगात्) प्रकृष्टसुप्तस्य सुषुप्तिगतस्याचैतन्यगतस्य मूर्च्छितस्य प्राणिनश्च यत्नाभावे चलनं भवति वायुसंयोगाद् वातप्रबलत्वाद् वातरोगादिति यावत्, तथा तृणे तृणादिवनस्पतिवर्गे च कर्म यत्र तत्र गमनोड्डयनरूपकर्म वायुसंयोगाद् वायुसंसर्गाद्भवति ॥१३-१४॥

इस प्रकार से ही-

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥१३॥

तृणे कर्म वायुसंयोगात् ॥१४॥

दोनों सूत्रों की एक वाक्यता है-

सूत्रार्थ:- जीवात्मा के इच्छा ज्ञान पूर्वक प्रयत्न के अभाव में भी सोये व्यक्ति का चलना करवट लेना, हाथ-पाँव हिलाना आदि कर्म होता है वायु के संयोग या प्रभाव से । तिनके पत्ते आदि में इधर ऊधर जाना रूप कर्म वायु के संयोग से होता है ॥१३-१४॥

भाष्यार्थ:-*(प्रसुप्तस्य यत्नाभावे चलनं तृणे कर्म वायुसंयोगात्)* प्रगाढ़ निद्रा में जो सोया हुआ है जिसको बाहरी ज्ञान नही हो रहा है उसका, मूर्छित के समान प्राणी में आत्मा के विशेष प्रयत्न के बिना ही चलना हो जाता है वायु प्रधान होने से, वात रोग के प्रवल होने से अथवा वात रोग के कारण होता है । जैसे घाँस-पेड़-पौधे आदि जो हैं इन सभी में जो कर्म होते हैं तिनके का उड़कर दूर जाना पेड़ पौधों का हिलना आदि ये वायु के संयोग से होता है वायु के संसर्ग से होता है ॥१३-१४॥

अथ च –

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणकम् ॥१५॥

*(मणिगमनम्) मणेर्गमनं मणिगमनं मणेर्गतिर्विमानादिचालनार्थं गति कर्म * (सूच्यभिसर्पणम्) सूच्या अभिसर्पणमयस्कान्तं प्रति (इति) इत्यादिकं तृणस्य तृणकान्तं प्रति सर्पणवृत्तम् (अष्टकारणकम्) अदृष्टं हि तच्छक्तिनैसर्गिकी कारणं यस्य तथाभूतं तदस्ति ॥१५॥*

और-

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणकम् ॥१५॥

सूत्रार्थ:- इंजन का घूमना या वायुयान का चलना लोहे की सुई का चुंबक के प्रति सरकना रूप कर्म आदि उन पदार्थों में स्थित अदृष्ट शक्ति के रूप में होता है ॥१५॥

भाष्यार्थ:- *(मणिगमनम्)* मणि का चलना विमान आदि चलाने के लिए गति करना (मणि से विमान चलते हैं ऐसा वृहद विमान शास्त्र में आया है) *(सूच्यभिसर्पणम्)* सूचि=सुई का चुंबक के प्रति सरकना इत्यादि *(इति)* और तृण के खींचने वाले के प्रति

सरकना=जाना रूपी व्यवहार *(अष्टकारणकम्)* वह अदृष्ट शक्ति नैसर्गिक कारण से है इस प्रकार का है वह॥१५॥

ज्याविमुक्ते वाणे यावत्पतनमन्यान्यानि कर्मणि भवन्ति 'कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते' तत्र केनापि हेतुना भवित्तव्यम् । अत्रोच्यते –

इषावयुगपत्संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः ॥१६॥

(इषौ कर्मान्यत्वे) ज्याविमुक्ते वेगेन गच्छति वाण यावत्पतनमनेकानि कर्माणि भवन्ति नैकं कर्म तस्य पञ्च में क्षणे नश्यमानत्वात् तत्र कर्मानेकत्वे (संयोगविशेषाः) विशिष्टशक्तिसंयोगाः प्रेरणसंस्कारतरङ्गाः सन्ति ये खलु वाणे संयुक्ता विद्युत्तरङ्गा इव तरङ्गरूपाः (हेतुः) हेतुभूता विद्यन्ते ॥१६॥

ज्या की डोरी में बाण के छूट जाने पर जब तक वह गिर नही जाता तब तक अन्य-अन्य कर्म होते रहते हैं "कर्म कर्म को उत्पन्न नही करता" इस नियम से कोई तो फिर कारण होना चाहिए, कैसे कर्म के बाद कर्म होता जा रहा है । इस विषय में कहते हैं-

इषावयुगपत्संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः ॥१६॥

सूत्रार्थः- बाण में भिन्न-भिन्न काल में अन्य अन्य कर्मों की उत्पत्ति में बाण में स्थित वेग की तरंगे कारण होती हैं ॥१६॥

भाष्यार्थः- *(इषौ कर्मान्यत्वे)* ज्या से छूट जाने पर डोरी से छूट जाने पर वेग पूर्वक जाते हुए वाण में जब तक वह गिर नही जाता है तब गिरने से पूर्व पूर्व अनेक कर्म होते हैं, एक कर्म नही होते हैं । कर्म जो है वह पांचवे क्षण में नष्ट हो जाता है (पहले कर्म में संयोग होता है फिर दूसरे में बो कर्म उत्पन्न होता है तीसरे कर्म में उत्पन्न होने के बाद वह विद्यमान रहता है अस्तित्व सिद्ध होता है, चौथे कर्म में वह क्षीण होना शुरू होता है और पांचवे में वह नष्ट हो जाता है) वहाँ अनेक कर्मों के होने में *(संयोगविशेषाः)* विशिष्ट शक्ति का संयोग प्रेरित करने के जो संस्कार तरंगे हैं वे होते हैं जो कि वाण में संयुक्त विद्युत तरण के रूप में *(हेतुः)* हेतु रूप में होते हैं ॥१६॥

कथमिति विवृणोति –

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च ॥१७॥

---- ---- ---- --

*। "पश्चाच्छक्तिवेगेन मणयो भ्रमयन्ति हि ।"
(यन्त्रसर्वस्वस्य वैमानिकप्रकरणे त्रिपुरविमाने) ॥३९४॥*

(नोदनात् इषोः आद्यं कर्म) धृतवाणया ज्ययाऽऽकृष्टया वाणो नोद्यते तन्नोदनात्प्रक्षेपणबलाद् वाणस्य खल्वाद्यं कर्म ज्यातोऽपसर्पणम् (तत्कर्मकारितात् च संस्कारात् उत्तरम् उत्तरम् च) तदपसर्पणात् वाणे संस्कारो वेगो जायते वेगरूपात्संस्कारादुत्तरोत्तरं कर्म प्रवर्तते यावत् संस्कारो वेगो वाणेऽवतिष्ठते । अतो वाणस्य कर्मानेकत्वे प्रेरकसंस्कारतरङ्गाः संयोगविशेषाः कारणम् ॥१७॥

कैसे ये कर्म कई हो जाते हैं? तरंगों से कैसे कर्म हो जाते हैं ये बताते हैं-

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च ॥१७॥

सूत्रार्थ:- डोरी द्वारा फेंकने से बाण में प्रथम कर्म उत्पन्न होता है उस कर्म से तीर मे वेग संस्कार उत्पन्न होता है उस वेग संस्कार से जब तक तीर गिरे तब तक अगले अगले कर्म उत्पन्न होते हैं ॥१७॥

भाष्यार्थ:- *(नोदनात् इषोः आद्यं कर्म)* बाण जिसको उपर धारण कर दिया गया है रख दिया गया है ऐसी डोरी के आकर्षण से खींचने से बाण प्रेरित होता है उसके प्रेरण से बाण मे जो प्रथम कर्म होता है उसका पहला कर्म ज्या से छूटना वहाँ से दूर चलना*(तत्कर्मकारितात् च संस्कारात् उत्तरम् उत्तरम् च)* और उसके अपसर्पण से बाण मे संस्कार अर्थात वेग उत्पन्न होता है उस वेग रूप संस्कार से उत्तर उत्तर कर्म उत्पन्न होता है संस्कार या वेग बाण में स्थित होता है इसलिए बाण के जो अनेक कर्म होते हैं उसमें प्रेरक करने वाले संस्कार हैं उसके जो तरंगे है वे ही संयोग और विशेष हैं वे कारण होते हैं ॥१७॥

(इसमें हो सकता है वे संस्कार भी और वेग भी होता है लेकिन थोड़ा सा विरोध आ रहा है, जितना अधिक वेग होता है उतनी देर तक वो चलता है वायु आदि के कारण से टकराव भी होता जाता है लेकिन टकराव होने के बाद भी कुछ सामान्य स्थित अर्थात वेग जितना उत्पन्न होता जाता है पहले उसका निर्धारण हो जाता है की यह इतनी दूर तक गिरेगा, उससे ये लगता है कि ये अलग होगा। मुनि जी का यह मत ठीक हो सकता है लेकिन मुझे (स्वामी ब्रह्मविदानन्द जी) ये ठीक से समझ नही आया)

पुनः –

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥१८॥

(संस्काराभावे) संस्कारो वेगः स चाद्यकर्मणः कार्यम्, आद्यकर्म वेगस्य कारणम् – उक्तं हि "संयोगविभागवेगानां कर्मसमानम्" (वै. १।१।२०) कार्यं हि विनाशधर्मि नश्वरं भवति, तच्च शनैः शनैर्ह्रसति विनश्यति च तस्याभावे (गुरुत्वात् पतनम्) वाणस्य गुरुत्वाद् भारवत्त्वात् पृथिव्या गुरुत्वाकर्षणाद्वा पतनं भवति वाणस्य । संस्कारेण गुरुत्वनिमित्तकं पतनमवरुद्धमासीत् ॥१८॥

फिर उसके बाद क्या होता है-

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥१८॥

सूत्रार्थ:- चलते हुए तीर में वेग संस्कार का अभाव हो जाने पर तीर में भार और पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण बल के कारण तीर भूमि पर गिर जाता है, ऐसे ही अन्य वस्तुओं में समझ लेना चाहिए ॥१८॥

भाष्यार्थ:- *(संस्काराभावे)* संस्कार वेग है वह प्रथम कर्म का कार्य है, पहले जो शुरू हुआ कर्म वही उस कर्म का कारण है। जैसा कि कहा है-*"संयोगविभागवेगानां कर्मसमानम्" (वै. १।१।२०)* "संयोग विभाग और वेग का कर्म समान रूप से कारण होता है" । जो कार्य होता है वह विनाश धर्म वाला नश्वर होता है, वह स्वत: धीरे धीरे क्षीण होता जाता है विनष्ट हो जाता जिससे उसका अभाव हो जाता है । *(गुरुत्वात् पतनम्)* बाण गुरुवान होने से भारवान होने से और पृथ्वी के गुरुत्व के आकर्षण से भी वाण का पतन होता है । संस्कार जब तक उत्पन्न हो रहे थे या बने हुए था तब तक गुरुत्व का जो निमित्त कारण है पतन, वह अभी तक रुका हुआ था ॥१८॥

प्रथमाह्निकं समाप्तम् ।

-----o------

पञ्चमोऽध्यायः तत्र द्वितीयाह्निकम्

पृथिव्यादिषु नोदनादिजन्यं कर्म परीक्ष्यते –

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥१॥

(पृथिव्यां कर्म) पृथिव्यां कर्म द्विविधं दृश्यमदृश्यञ्च, यत् खलु दृश्यं कर्म तदत्र सूत्रे वर्णितं तदपि कारणद्वयाद् द्विविधं, पर्वतशिखरपतनभूस्खलनरूपमेकं भूकम्पनं द्वितीयं तत्र क्रमेण (नोदनाभिघातात्) बाह्यवस्तूनां नोदनाभिघातात् – नोदनं प्रतोदनं तत्प्रहाराद्, अतिवृष्टिवज्रपातवातप्रतोदनस्य प्रहारात् पर्वतशिखरपतनभूस्खलनरूपं कर्म पृथिव्यां भवति । तथा (संयुक्तसंयोगात्) पृथिव्या सह ये संयुक्ताश्चूर्णजले गन्धकादयश्च पदार्थास्तेषां परस्परसंयोगाद् भूकम्पनस्फोटनादिकं भवति तत्र पृथिवी समवायिकारणं नोदनाभिघातःसंयुक्तसंयोगश्चासमवायिकारणम् । नोदनाभिघातकारिणः संयुक्तसंयोगे संयुक्ताश्चूर्णगन्धकादय आग्नेयाः पदार्था निमित्तानि । शङ्करमिश्रादिभिः शास्त्रशैल्या विरुद्धं परस्परासंगतञ्च व्याख्यातं सूत्रम् ॥१॥

पृथ्वी आदि में जो नोदन से उत्पन्न कर्म होते हैं उसकी परीक्षा करते हैं-

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥१॥

सूत्रार्थ:- वायु बिजली आदि पदार्थों के धक्के से और पृथ्वी से संयुक्त चूना जल गंधक आदि रसायनों के परस्पर संयोग से पृथ्वी मे दो प्रकार का दृश्य कर्म होता है ॥१॥

भाष्यार्थ:- *(पृथिव्यां कर्म)* पृथ्वी में कर्म दो प्रकार के हैं एक तो दिखाई देने वाला और दूसरा न दिखाई देने वाला, जो अनुभव में आ रहा है कर्म उसका सूत्र में वर्णन समझना चाहिए, दो कारण होने के कारण दो प्रकार के होते हैं। पर्वत का शिखर अधिक बारिश के कारण गिर जाते हैं और भूमि फटती रहती है स्खलित होती रहती है और दूसरा है जो भूकम्प आता है, इस प्रकार ये दो कर्म क्रम से *(नोदनाभिघातात्)* किसी बाह्य वस्तु के प्रहार के कारण होते हैं। (ये किसी दूसरे के कारण प्रहार के गिरते हैं हिलते हैं, जैसेकि) अतिवृष्टि के कारण=मूसलाधार बारिश के कारण पहाड़ गिरता है, वायु का प्रहार होता है तूफान आता है, पर्वतों का गिरना और भूस्खलन होना ये कर्म पृथ्वी में होते हैं। तथा *(संयुक्तसंयोगात्)* पृथ्वी के अंदर चूना गंधक ये सारे के सारे पदार्थ भूमि में अंदर रहते हैं इनका जब आपस में संयोग हो जाता है उससे भूमि का काँपना हो जाता है, भूमि फट जाती है। विस्फोटन में पृथ्वी समवायी कारण है और नोदन का जो

ताड़न है बाह्य शक्तियों का और संयुक्त संयोग जो है वह असमवायी कारण होता है। इनका संयोग असमवायि कारण होता है और ये जो द्रव्य हैं टक्कर मारके प्रेरणा देने वाले जो कारण हैं ये और संयुक्त संयोग जिनका है चूर्ण गंधक आदि ये सारे आग्नेय पदार्थ होते हैं निमित्त कारण होते हैं। शंकर मिश्र आदि ने शास्त्र शैली के विरुद्ध परस्पर असंगत विरोधी एक दूसरे सूत्र कि व्याख्या की है ॥१॥

अथ च –

तद्विशेषेणादृष्टकारितम् ॥२॥

(तद्विशेषेण) 'तत्' शब्दो नोदनाभिघातसंयुक्तसंयोगौ परामृशति, विशेषश्च व्यतिरेको विनाभावः । नोदनाभिघातसंयुक्तसंयोगाभ्यां व्यतिरेकेण विनाभावेन नोदनाभिघातसंयुक्तसंयोगयोरभावे पृथिव्यां यददृश्यं कर्म स्वकेन्द्रे सूर्याभिमुखं दैनिकं भ्रमणं ध्रुवीयाक्षे सूर्यं परितो वार्षिकं परिक्रमणं च (अदृष्टकारितम्) अदृष्टशक्तिकारितं नैजिकीशक्तिरेवेशप्रेरिता खल्वदृष्टम् । अत्र पृथिवी समवायिकारणमदृष्टसमवायिकारणं, अदृष्टप्रेरक ईश्वरो निमित्तकारणम्,शङ्करमिश्रादिभिरिदमपि सूत्रमन्यथा व्याख्यातम् ॥२॥

तद्विशेषेणादृष्टकारितम् ॥२॥

सूत्रार्थ:- पूर्वोक्त नोदन अभिघात और संयुक्त संयोग इन दोनों के बिना पृथ्वी में जो दैनिक और वार्षिक संयुक्त संयोग इन दो हेतुओं के बिना पृथ्वी मे जो दैनिक और वार्षिक गतिरूप दो प्रकार के अदृश्य कर्म हो रहे हैं, उनका कारण पृथ्वीस्थ वेग और ईश्वर हैं ॥२॥

भाष्यार्थ:- *(तद्विशेषेण)* सूत्र में जो "तत्" शब्द पढ़ा वह पिछले सूत्र के नोदन अभिघात और संयुक्त संयोग इन दोनों को छूता है दोनों से सम्बद्ध होता है और उससे भिन्न अर्थ में विशेष शब्द पढ़ा हुआ है उससे अतिरिक्त। नोदन अभिघात और संयुक्त संयोग के द्वारा अर्थात इन दोनों के बिना ही पृथ्वी में जो अदृश्य कर्म होता है चारों ओर सूर्य के सामने से घूमना होता है, दैनिक गति और वार्षिक गति ये जो पृथ्वी के अंदर होती है ये दोनों ही संयुक्त संयोग और नोदन अभिघात के बिना होते हैं निश्चित रूप से होता है *(अदृष्टकारितम्)* अदृष्टि शक्ति कारित अर्थात नेजिक शक्ति की प्रेरणा से वह उत्पन्न होता है घूमने की शक्ति पृथ्वी मे इसकी अपनी ही है, लेकिन ईश्वर इसको घूमता रहता है जो कि नित्य घूम रही है सूर्य के। इसकी गति तो अपनी ही है लेकिन इस प्रकार कि रचना क्रम विन्यास ईश्वर के द्वारा है। शंकर मिश्र आदि ने इस कि अन्यथा व्यख्यात किया है ॥२॥

अपां पतनं कथमित्युच्यते –

अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥३॥

(अपां पतनम्) आकाशीयानामपां पतनं वृष्टिरूपे निपतनं कर्म (संयोगाभावे) विद्युद्वाताभ्रसंयोगस्य वृष्टिप्रतिबन्धकस्याभावे सति (गुरुत्वात्) भारवत्त्वाद् यद्वा पृथिव्या गुरुत्वाकर्षणाद्भवति । अत्रापः समवायिकारणं गुरुत्वसमवायिकारणं संयोगाभावो निमित्तम् ॥३॥

वर्षा कैसे हो जाती है? इसको बता रहे हैं-

अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥३॥

सूत्रार्थ:- बिजली-वायु-वादल आदि के संयोग का अभाव हो जाने पर, भार के कारण और पृथ्वी के आकर्षण बल के कारण पानी गिर जाता है या वर्षा होती है ॥३॥

भाष्यार्थ:- *(अपां पतनम्)* आकाश मे होने वाला जो जल का गिरना है वृष्टि रूप में वह कर्म *(संयोगाभावे)* बिजली और जल का संयोग न रहने से, वाष्प और जल का संयोग न रहने से वृष्टि को जो बांधने वाले रोकने वाले कारण हैं उनका न रहने पर *(गुरुत्वात्)* भारी होने के कारण अथवा पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से उनका गिरना होता है। (गिरते समय क्या होता है) जल के गिरने में जल समवायिकारण है और जो उसका गुरुत्व है वह है असमवायि कारण (यहाँ असमवायि कारण लिखा है गुरुत्व और उपर की पंक्ति मे लिखा है वात और जल का विघात ये होना चाहिए असमवायि कारण) और संयोग का जो अभाव है वह निमित्त कारण है (वैसे गुरुत्व यहाँ निमित्त कारण होना चाहिए, अभाव निमित्त कैसे होगा?) *"अत्रापः समवायिकारणं गुरुत्वसमवायिकारणं संयोगाभावो निमित्तम्"* ये पंक्ति का अर्थ ठीक नहीं है ॥३॥

अथ स्यन्दनम् –

द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥४॥

(स्यन्दनम्) अधःपतितानामपां स्यन्दनं स्रवणं संसरणवहनरूपं कर्म (द्रवत्वात्) तरलत्वाद् भवति । अत्रापः समवायिकारणं द्रवत्वमसमवायिकारणं पृथिवीपृष्ठनिम्नत्ववशपृथिवीगुरुत्वाधिक्यं तद्वशो वेगश्चापां निमित्तकारणम् ॥४॥

अब पानी का बहना बता रहे हैं कि पृथ्वी पर कैसे बहता है-

द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥४॥

सूत्रार्थ:-तरल होने से जल में स्यंदन अर्थात वहन कर्म होता है ॥४॥

भाष्यार्थ:- *(स्यन्दनम्)* नीचे गिरे हुए जल का जो स्यंदन हैं बहना है स्रवण है अथवा ससरण-वहन ये पर्याय हैं सारे, जो इस प्रकार का कर्म है *(द्रवत्वात्)* वह तरल होने से होता है। यहाँ जल समवायि कारण है उसकी तरलता असमवायि कारण है यहाँ वहते

समय पृथ्वी की पीठ पर अर्थात ऊपर जो नीचापन है उसके कारण पृथ्वी में गुरुत्व के अधिक हो जाने से उसके अधीन जो वेग होता है वह जल का निमित्त कारण बन जाता है ॥४॥

आरोहणं च –

नाड्यवायुसंयोगादारोहणम् ॥५॥

(नाड्यवायुसंयोगात्) नाड्यः खलु सूर्यरश्मयः शरीरस्नावानश्च तत्रोभयत्रभवो नाड्यः स च वायुसंयोगः, नाडीषु रश्मिषु स्नावसु भवो यो वायुना संयोगस्तस्मात् (आरोहणम्) आरोहणमूर्ध्वगमनमपां ग्रीष्मे भवति खल्वाकाशेऽथ शरीरे रसरूपेण सर्वदा, तत्रापो रसाः समवायिकारणं नाड्यवायुसंयोगोऽसमवायिकारणम्,अपां द्रवत्वं वायुर्नाड्यिश्चोष्णत्वप्रधानो निमित्तकारणम् ॥५॥

जल का ऊपर उठना भी होता है-

नाड्यवायुसंयोगादारोहणम् ॥५॥

सूत्रार्थ:- नाड़ियों और सूर्य रश्मियों में होने वाले वायु के संयोग से जलों का ऊर्ध्व गमन रूप कर्म होता है ॥५॥

भाष्यार्थ:- नाड़ी नाम है सूर्य की रश्मियों का और शरीर की स्नायुओं का भी नाम नाड़ी है, रश्मि के साथ होने वाला और शरीर की जो स्नायु है उनमें होने वाला उन दोनों को ही नाड्य कहेंगे, वह नाड्य संयोग है। नाड़ियों में जो वायु का संयोग है रश्मियों और स्नायुओं में जो वायु का संयोग है उससे *(आरोहणम्)* ग्रीष्म काल में जल का ऊपर उठना इनके कारण होता है, आकाश में होता है और शरीर में रस के रूप में होता है, (बाहर जल हो गया और अंदर रस हो गया) वे दोनों समवायिकारण हैं नाड़ी और वायु का जो संयोग है वह असमवायि कारण हो गया जल का जो पिघला हुआ है और उष्णता प्रधान है गर्मी से भरा हुआ है वो उसका निमित्त कारण हो गया। (ऊपर उठने के लिए गरम होना जरूरी है) ॥५॥

अन्यच्चारोहणं यल्लोकेऽपां भवति तत् –

नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥६॥

(नोदनापीडनात्) नोदनकृतापीडनात् प्रतोदनकृतोर्ध्वं प्रक्षेपणात् खलु भवत्यपामारोहणं लोके प्रतोदनप्रहाराद् भूमिष्ठं कूपादिगतं च जलमूर्ध्वमुद्गच्छति स्वतो विद्युद्यन्त्रप्रयोगेण वा तथा (संयुक्तसंयोगात् च) अद्भिः सह संयुक्ताः खलूर्ध्वगमनशीला अग्नीज्वालाः स्थालीसंयुक्तं जलमूर्ध्वं गमयन्ति, एवमद्भिः सह यानि संयुक्तानि स्थालीपात्राणितैः

सहाग्निज्वालानां संयोगात्तत्रस्थं जलं वाष्पीभूयोद्गच्छति । पूर्वस्मिन्नुदाहरणे जलं समवायिकारणं नोदनापीडनमसमवायिकारणं प्रतोदनसाधनसंयोगो निमित्तकारणम्, उत्तरस्मिन्नुदाहरणे तु जलं समवायिकारणं संयुक्तसंयोगोऽसमवायिकारणं संयुक्ता अग्निज्वाला निमित्तकारणम् । अन्यभाष्यकारैस्तु पूर्वसूत्रविषयस्यैव पिष्टपेषणमन्यथाकृतमस्ति ॥६॥

लोक में अन्यत्र जो वायु जल का उड़ना होता है उस विषय में कहते हैं -

नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥६॥

सूत्रार्थः- लाठी आदि की चोट से और पतीले में संयुक्त जल के साथ अग्नि ज्वालाओं के संयोग से जल ऊपर की ओर उठता है ॥६॥

भाष्यार्थः- *(नोदनापीडनात्)* नोदन=प्रेरणा के द्वारा जल में धक्का लगने से प्रतोदन=प्रेरणा के द्वारा ऊपर उठने से लोक में जल का आरोहण हो जाता है, प्रतोदन= किसी प्रकार से धक्का पहुँचाने से और बाहर न निकलने देने से भूमि का पानी ऊपर आ जाता है। मोटर में भी यही काम होता है पंखे से वायु को निकालना होता है, वायु के निकलने से जो स्थान खाली होता है उसमें फिर पानी आ जाता है तो पंखे का काम केवल वायु को निकालना होता है उससे नीचे का पानी आता रहता है, फिर ये फेंकता रहता है। *(संयुक्तसंयोगात् च)* जल के साथ जो संयुक्त है ऊपर जाने के स्वभाव वाली अग्नि की जो लपट है पतीले आदि में जो जल है उसको वह ज्वाला ऊपर ले जाती है, इस प्रकार जल के साथ संयोग जितने भी स्थाली पात्र हैं उनके साथ अग्नि ज्वालाओं का संयोग हो जाने से अर्थात पतीले को गरम कर देने से, वहाँ रहने वाला जल वाष्प बनकर के ऊपर उठ जाता है। पहले उदाहरण में भी जल का ही चलना है इसलिए जल समवायिकारण है, नोदन पीड़न असमवायि कारण और प्रतोदन साधन उसका जो संयोग है वह निमित्त कारण है। (संयोग कैसे निमित्त हो जाएगा? उसका जो साधन है प्रतोदन का पीड़न करने का वो निमित्त कारण बनेगा, संयोग हर समय असमवायि कारण ही होता है निमित्त नहीं। यह पंक्ति गलत होनी चाहिए)। और दूसरे उदाहरण में जो थाली से ऊपर उठना है उसमें भी जल समवायि कारण होता है और संयुक्त संयोग वह असमवायि कारण है तथा अग्नि का ज्वाला जो है वह निमित्त कारण होगा। अन्य भाष्यकारों ने तो पहले सूत्र मे जो विषय दिया है उसी का पिष्टपेषण अर्थात जैसा के तैसा लिख दिया, अन्यथा कर दिया है ॥६॥

अथ वृक्षे मूलनिषिक्तं जलं कथमभिसर्पति। इत्युच्यते –

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥७॥

(वृक्षाभिसर्पणम् इति) मूले निषिक्तस्य जलस्य वृक्षस्याभितः सर्वशाखापत्रपुष्पफलेषु सर्वभागेषूर्ध्वपर्यन्तेषु सर्वत्र प्रसरणादिकं कर्म (अदृष्टकारितम्) तज्जीवनहेतुभूताकर्षणरूपादृष्टनैजिकशक्तिकारितं भवति ॥७॥

वृक्ष के मूल में डाला हुआ जल ऊपर कैसे चला जाता है। इसको कहते हैं-

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥७॥

सूत्रार्थ:- वृक्ष में जड़ों से पानी का ऊपर की ओर सरकना या फैलना वृक्ष की अदृष्ट जीवन शक्ति के कारण होता है ॥७॥

भाष्यार्थ:- *(वृक्षाभिसर्पणम् इति)* जड़ में दिये पानी का वृक्ष के दोनों ओर सभी शाखाओं पत्तों और फूलों तक सभी भागों में ऊंचाई तक और सब ओर जो फैलना आदि जो कर्म *(अदृष्टकारितम्)* वृक्ष एक अंदर ही ऐसी संरचना होती है परस्पर के अवयव इस प्रकार के होते हैं ये परिणाम उत्पन्न कर देते हैं उनके जीवन को चलाने रूप जो कारण हैं आकर्षण रूप हैं उस अदृष्ट रूप नेजिक शक्ति के द्वारा पानी ऊपर उठता है ॥७॥

तथा –

अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात् ॥८॥

(अपां संघातः विलयनं च तेजःसंयोगात्) अपां संघातो हिमकरकादिरूपेण संहननं कठिनीभवनं कर्म तथा विलयनं द्रवीभावः कर्म तेजःसंयोगाद् भवति । तत्रेयान् भेदो हिमकरकादिरूपे संघाते कठिनीभावेऽनुद्भूतस्य शान्तस्य दिव्यस्य तेजसः संयोग एकात्मसंस्पर्शः कारणम्, विलयने द्रवीभावे तूद्भूतस्य तापवतः पार्थिवतेजसः संयोगः संस्पर्शः कारणम् । उभयत्र- आपः समवायिकारणं तेजःसंयोगोऽसमवायिकारणं तेजस्तु निमित्तकारणं भवति ॥८॥

और भी क्या होता है-

अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात् ॥८॥

सूत्रार्थ:- जल का बर्फ ओला आदि बनना और पिघलना अग्नि के संयोग से होता है ॥८॥

भाष्यार्थ:- अपां= हिम और करक ओला आदि के रूप में इकट्ठा हो जाना अर्थात कठिन हो जाना ये जो कर्म है तथा उसका विलीन हो जाना द्रवी भाव हो जाना पिघल जाना ये जो कर्म है वह अग्नि के संयोग से होते हैं । उसमें इतना भेद रहेगा कि हिम=बर्फ, करक= ओला के रूप में जो संघात कठिन भाव का होना है वो जो अनुद्भूत है अर्थात उद्बुद्ध नही होता है दिखता नही है ऐसा; और शांत दिव्य अग्नि जो है उसके संयोग से दोनों के साथ मिल जाने से जो स्पर्श हो जाता है वह स्पर्श कारण होता है । और पिघलने में तो बाहर वाला जो उद्बुद्ध ताप है अग्नि है पूरी तरह से दिखती है इस

पार्थिव तेज के संयोग से इसका स्पर्श होने से पिघलना हो जाता है । यहाँ जल समवायि कारण हो गया तेज का जल के साथ संयोग असमवायि कारण और तेज स्वयं निमित्त कारण होता है ॥८॥

अपां विलयने तु प्रत्यक्षं तेजःसंयोगः कारणं दृश्यते परन्तु करकादिरूपेण संघाते संहनने कर्मणि तेजःसंयोगः कारणमिति कथं ज्ञायते । अत्रोच्यते –

तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ॥९॥

(तत्र विस्फूर्जथुः लिङ्गम्) तत्र दिव्यास्वप्सु दिव्यतेजःसंयोगे वृष्टिप्रतिबन्धकरूपेण तथा करकादिसम्पादकरूपेण वर्तमाने विस्फूर्जथुर्वज्रनिर्घोषो लिङ्गमस्ति, यतो हि विद्युत्प्रकाशः पूर्वं दृश्यते पुनर्वज्रनिर्घोषः श्रूयते तत्कालं हि करका अवपतन्ति तदन्तर्हितं तेजो बहिर्निःसरणानन्तरं करकविच्छिन्नत्वं सम्पद्यते ॥९॥

जल के पिघल जाने में तो प्रत्यक्ष अग्नि का संयोग दिखता है बाहर का पिघलना (करक=बर्फ का पिघलना) का तो पता चलता है कि अग्नि से है, किन्तु बर्फ आदि बनने मे जो संघात हो रहा है, उस कर्म में तेज का संयोग कारण है इसमें क्या प्रमाण है? उसको बताते हैं-

तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ॥९॥

सूत्रार्थः- पानी का बर्फ बनने में दिव्य तेज संयोग कारण है, इस संबंध में बादलों के घर्षण होने पर बिजली का दिखना प्रमाण है ॥९॥

भाष्यार्थः- *(तत्र विस्फूर्जथुः लिङ्गम्)* वहाँ आकाश में स्थित जो दिव्य जल है और दिव्य तेज के संयोग से वृष्टि को रोकने स्वरूप और ओला आदि के निर्माण करने के स्वरूप में वज्र पात होना बिजली का चमकना ये उसका प्रमाण हैं । क्योंकि बिजली का प्रकाश पहले दिखता है फिर वज्र का घोष होता है वह सुनाई देता है उसके तत्काल बाद करक=ओला का गिरना होता है, ये तीनों इस क्रम से होते हैं, इसका अर्थ है उसके अंदर विराजमान जो अग्नि थी उसके निकाल जाने के बाद ही ये करकों=ओलाओं का चूर-चूर होकर बिखरना हो पाता है ॥९॥

अथ च तत्र –

वैदिकं च ॥१०॥

(वैदिकं च) वैदिकं वेदोक्तं वचनं च प्रमाणमस्ति "अग्ने गर्भो अपामसि" (यजु. १२/३३) "आपस्ता अग्निं गर्भमाब्धीरन्" ॥१०॥

और उसमें दूसरा प्रमाण भी है-

वैदिकं च ॥१०॥

सूत्रार्थ:- पानी में बिजली या अग्नि तत्व होता है, इस संबंध में वैदिक वचन भी प्रमाण है ॥१०॥

भाष्यार्थ:-*(वैदिकं च)* वेद में कथित वचन भी इसमें प्रमाण है *"अग्ने गर्भो अपामसि" (यजु. १२/३३)* "हे अग्ने तू जल का गर्भ है" (जल के भीतर रहने वाला है) *"आपस्ता अग्निं गर्भमाब्धीरन्"*, "जल ने अग्नि को अपने गर्भ में धारण कर लिया" इस प्रकार से वेद मंत्र भी इसमें शब्द प्रमाण भी है।

अथ कथं स्फूर्जथुरुत्पद्यते प्रसङ्गत उच्यते –

अपां संयोगाद् विभागाच्च स्तनयित्नोः ॥११॥

अत्र 'अपां संघातो विलयनं च तेज संयोगात्' इति सूत्रतः 'तेजः' अनुकृष्यते । तच्च संयोगविभागयोर्यथाक्रमम् 'अपाम्' इति शब्देन 'स्तनयित्नोः' इति शब्देन सहाभिसम्बध्यते । तथा कृत्वार्थयोजना खल्वीदृशी यत् (अपां संयोगात्) तेजसा सहापां संयोगात् । तथा (स्तनयित्नोः विभागात् च) स्तनयित्नोरर्थान्मेघात् तेजसो विभागाद्-विभाजनाद् भवति स्फूर्जथुर्गर्जनम् ॥११॥

बिजली का चमकना या बादल का जो गर्जना होता है वह कैसे होता है-

अपां संयोगाद् विभागाच्च स्तनयित्नोः ॥११॥

सूत्रार्थ:- बादलों के टकराने या फटने से गड़गड़ होती है ॥११॥

भाष्यार्थ:- यहाँ *'अपां संघातो विलयनं च तेज संयोगात्'* इस सूत्र से "तेज" की अनुवृत्ति ले लेते हैं। वह संयोग और विभाग इन दोनों शब्दों के साथ क्रमश: *'अपाम्'* इस शब्द के साथ जुड़ता है, और *'स्तनयित्नोः'* इस शब्द के साथ जुड़ जाता है। ऐसा करके अर्थ की योजना इस प्रकार से होती है कि *(अपां संयोगात्)* तेज के साथ जल का संयोग होने से। और *(स्तनयित्नोः विभागात् च)* मेघ का तेज=अग्नि के साथ विभाग होने से, अलग-अलग हो जाने से वहाँ पर चिंगारी अर्थात विद्युत का चमकना हो जाता है उसकी उत्पत्ति हो जाती है फिर बादल गरज पड़ते हैं अग्नि उत्पन्न हो जाती है ॥११॥

पृथिव्याः कर्मापां कर्म च विधाय क्रमप्राप्तं तेजःकर्म वायुकर्म च व्याचष्टे –

पृथिवीकर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ॥१२॥

(तेजःकर्म वायुकर्म च पृथिवीकर्मणा व्याख्यातम्) अतितपनं दिग्दाहादिकं तेजःकर्म,अन्धप्रवहणं वृक्षादिप्रभञ्जनं वायुकर्म पृथिवीकर्मणा पृथिवीकर्महेतुना तुल्यं व्याख्यातं वेदितव्यं नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगात् केषाञ्चित्पदार्थानां प्रतोदनप्रहारात् तत्संयुक्तानां संयोगात् तथाऽदृष्टात्तद्गतशक्तिविशेषादपि भवति । तच्चाग्रिमे सूत्रे कथयत्याचार्यः ॥१२॥

पृथ्वी के जो कर्म होते हैं उसके अंदर दोनों तरह के दृष्ट अदृष्ट उनका विधान करके या बोल करके उनको बता करके अग्नि और वायु के कर्म को अब कहते हैं-

पृथिवीकर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ॥१२॥

सूत्रार्थ:- पृथ्वी के कर्म के समान ही तेज और वायु का भी कर्म समझ लेना चाहिए ॥१२॥

भाष्यार्थ:- *(तेजःकर्म वायुकर्म च पृथिवीकर्मणा व्याख्यातम्)* बहुत अधिक ताप का होना दिशाओं मे जो जलन सी स्थिति होने लग जाती है ये सब अग्नि के कर्म हैं, आँधी का चलना और वृक्ष आदि शाखाओं का टूट जाना ये सब वायु के कर्म हैं। जिन हेतुओं से पृथ्वी में कर्म उत्पन्न होते हैं उन्हीं के तुल्य समझना चाहिए। उसकी के अनुसार बता दिया गया ऐसा जान लेना चाहिए, नोदन= बाह्य प्रेरक के चोट से और संयुक्त संयोग अर्थात उसके अंदर परस्पर विरुद्ध अवयवों के कारण गंधक आदि के रूप में और किसी पदार्थों के प्रतोदन=चोट से, प्रहार से उसमें जो जुड़े हुए हैं अंदर हैं उसमें मिले हुए उसमें कुछ अदृष्ट गति भी रहती है (के वो चलने लग जाते हैं) इस प्रकार वायु और अग्नि में ये कर्म होने लग जाते हैं। उसी को आचार्य अगले सूत्र में नाम लेकर के बता रहे हैं ॥१२॥

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यकर्मादृष्टकारितम् ॥१३॥

(अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं वायोः तिर्यक्पवनम्) अग्नेः खलूर्ध्वज्वलनं ज्वालानामूर्ध्वमुद्गमनं वायोश्चेतस्तस्तिर्यग्भूय संचरणं कर्म 'अदृष्टकारितम्' तदन्तर्गतनैजिकशक्तिकारितम् । तथा (अणूनां मनसः च आद्यं कर्म अदृष्टकारितम्) अणूनां सूक्ष्माणां पृथिव्यादिपरमाणूनां मनसःच यदाद्यं कर्म तदपि खल्वदृष्टकारितम् । अणूनामाद्यं कर्म द्व्यणुकादिक्रमेण प्रवर्तनं मनसश्चाद्यं कर्म संकल्पः कामो वेति सर्वमदृष्टकारितं तत्रादृष्टमीश्वरशक्तिराद्यपरमाणुकर्मणि तथाद्ये मनसः कर्मणि तु खल्वदृष्टमीश्वरशक्तिर्जीवात्माशक्तिश्च ॥१३॥

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यकर्मादृष्टकारितम् ॥१३॥

सूत्रार्थ:- अग्नि का ऊपर की ओर जलना वायु का दायें-वाएं वहना परमाणुओं का और मन का प्रथम कर्म अदृष्ट शक्ति के कारण होता है ॥१३॥

भाष्यार्थ:-*(अग्नेः ऊर्ध्वज्वलनं वायोः तिर्यक्पवनम्)* अग्नि का ऊपर की ओर जलना ज्वालाओं का ऊपर जाना वायु का इधर उधर तिरछा होके संचरन= चलना कर्म है वह अदृष्ट के द्वारा होता है, साक्षात इसका कोई कारण नहीं है। और वह है- उसके अंदर ही इस प्रकार की नेजिक शक्ति है कि जिससे अग्नि ऊपर की ओर जाने लगती है वायु ऊपर नहीं जाती तिरछी ही रह जाती है।*(अणूनां मनसः च आद्यं कर्म अदृष्टकारितम्)* ऐसे ही अणुओं के अंदर जो द्विणुक त्रिसरेणु आदि आदि जो बनते जाते हैं जो सूक्ष्म अणु हैं उनका जो पृथ्वी आदि के परमाणु हैं भूतों के, और मन के, जो सर्वप्रथम कर्म आरंभ होता है वह भी अदृष्ट द्वारा प्रेरित रहता है। (क्योंकि शुरू शुरू में इनके बनने से पहले कर्म कैसे होंगे, एक बार प्रेरित किया जाता है) अणुओं क आद्य कर्म या निर्माण रूप कर्म अणु से फिर द्विणुक बन जाना और मन को जो आदि कर्म है संकल्प आदि करना, इच्छाएँ आदि उत्पन्न करना यही सब कर्म हैं जो मन करने लगता है ये सब अदृष्ट के द्वारा सम्पन्न होता है। इन मन आदि का जो कार्य करने लग जाना संकल्प आदि के रूप में ये सब अदृष्ट के द्वारा ईश्वर की शक्ति के द्वारा सम्पन्न होता है आदि परमाणुओं के अंदर जो कर्म होते हैं अन्य अणु बनने के रूप में और मन के अंदर जो कर्म होने लगते हैं, ये सब ईश्वर की शक्ति और जीवात्मा की शक्ति से आरंभ होते हैं प्रयत्न आता है जीवात्मा से आगे फिर ये कार्य करने लग जाते हैं, इस प्रकार से। (ऐसे ही ये परमाणु आदि का निर्माण जो भूतों के रूप में होता है) ॥१३॥

अथानाद्ये साम्प्रतिके मनसः कर्मणि कारणमुच्यते –

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥१४॥

(मनसः कर्म हस्तकर्मणा व्याख्यातम्) मनसः साम्प्रतिकं कर्म तु हस्तकर्मणा व्याख्यातं वेदितव्यम् । यथा हस्तकर्म मुसलोत्थापने भवति । प्रयत्नवदात्मसंयोगेनासमवायिकारणेन तथैवेन्द्रियार्थसन्निकर्षे संकल्परूपमिन्द्रियप्रेरणमपि मनसः कर्म भवति ॥ १४॥

अनादि और वर्तमान मन के कर्म मे जो कारण होते हैं। उसको बताते हैं-

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥१४॥

सूत्रार्थ:- हस्त कर्म के समान मन का वर्तमान कर्म भी समझना चाहिए ॥१४॥

भाष्यार्थ:- *(मनसः कर्म हस्तकर्मणा व्याख्यातम्)* मन में जो वर्तमान में अभी कर्म होता है इंद्रियों से जुड़ना आदि या संकल्प आदि करना ये तो हाथ के समान ही जब आत्मा इनको प्रेरित करता है या संयोग होने कर बाद हो जाता है वैसे ही जान लेना चाहिए।

जैसे हाथ में मूसल को ऊपर उठाने के लिए आत्मा पहले मन को करेगा (फिर मन इंद्रिय को हाथ जोड़ेगा फिर मूसल में फिर उठाएगा इस क्रम से कर्म होता है) । इसमें प्रयत्न वाला आत्मा जो है उसके संयोग होने पर, आत्मा और मन का जो संयोग होता है उस असमवायि कारण के द्वारा और उसी प्रकार से इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष हो जाने से पर संकल्प आदि के रूप में इंद्रियों को बो मन प्रेरित कर देता है इसलिए प्रेरणा रूपी कर्म इसमें उत्पन्न हो जाता है ॥१४॥

मनस्त्वन्तःकरणं न हि हस्तवत् प्रत्यक्षं तस्य कर्मणि लिङ्गमुच्यते-

आत्मेन्द्रियमनोर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥१५॥

(आत्मेन्द्रियमनोर्थसन्निकर्षात्) सन्निकर्षः संयोगविशेषः । आत्मा मनसा सह सन्निकृष्यते संयोगं लभते, मनस्त्विन्द्रियेण सह सन्निकृष्यते संयोगं लभते, इन्द्रियमर्थेन सह सन्निकृष्यते संयोगं लभते । यद्वा आत्मनो मनसा सह सन्निकर्षः संयोगविशेषस्तदुद्बोधनाय, मनसः खल्विन्द्रियेण सन्निकर्षः संयोगस्तत्प्रेरणाय, इन्द्रियस्यार्थेन सह सन्निकर्षः संयोगविशेषस्तद्ग्रणाय भवति । पुनः (सुखदुःखे) सुखदुःखे भवतः, सुखं दुःखं वा भवति यच्च कर्मणः फलम् । अर्थग्रहणे सुखं दुःखं वा भवति, अभीष्टे सुखमनिष्टे दुःखम् । अर्थग्रहणं सन्निकर्षात् तत्तत्संयोगविशेषात्, संयोगस्तु कर्मणः कार्यम् "संयोगविभागवेगानां कर्म समानम्" (१।१।२०) इत्युक्तत्वात् । तत्र कर्माधिष्ठानानि त्रीणि- आत्मा, मनः, इन्द्रियम् - आत्मनः कर्म मनःप्रबोधनं, मनसः कर्म खल्विन्द्रियप्रेरणमथेन्द्रियकर्म त्वर्थग्रहणं तेन सुखं वा दुःखं वा फलं भवति । अनेन मनसोऽपि कर्म सुखदुःखयोः कारणं सुखेन दुःखेन मनसः कर्माभिलक्षितं तत्रैवं सुखं दुःखं च लिङ्गमस्ति ॥१५॥

मन अन्त:करण है, हाथ के समान प्रत्यक्ष पदार्थ नहीं है तो उसमें कर्म होता है इसका हेतु बताते हैं इसका लिङ्ग क्या है ? इसको बता रहे हैं-

आत्मेन्द्रियमनोर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥१५॥

सूत्रार्थ:- आत्मा और इंद्रिय विषय के संयोग विशेष से सुख-दु:ख का होना मन में हुए कर्म का प्रमाण है ॥१५॥

भाष्यार्थ:- *(आत्मेन्द्रियमनोर्थसन्निकर्षात्)* जो संयोग विशेष होता है दूसरे के साथ मन का जुड़ना, आत्मा मन के साथ सन्निकृष्ट होता है अर्थात संयोग को प्राप्त होता है । मन इंद्रियों के साथ जुड़ता है और संयोग को प्राप्त होता है । इंद्रियाँ अर्थ के साथ सन्निकृष्ट होती हैं, अर्थात संयोग को प्राप्त होती हैं अथवा आत्मा और मन का जो सन्निकर्ष है वो

एक संयोग विशेष है उसको बताने के लिए=उद्बोध करने के लिए, और मन का इंद्रियों के साथ जो संयोग होता है=सन्निकर्ष वो इंद्रियों को प्रेरित करने के लिए फिर इंद्रियों का अर्थ के साथ जो सन्निकर्ष संयोग विशेष होता है वो अर्थ को ग्रहण करने के लिए होता है। (इतना सब होने एक बाद) सुख और दुःख होता है, जो की कर्म का फल होता है, अर्थ के ग्रहण होने पर सुख या दु:ख होता है अभीष्ट यदि अर्थ मिल गया तो सुख अनिष्ट अर्थ दिखाई दिया तो दु:ख होने लगता है। अर्थ का ग्रहण तो सन्निकर्ष से होता है जिस जिस से संयोग होगा उस उसका ग्रहण हो जाएगा, और संयोग जो है वह कर्म का कार्य होता है=कर्म के कारण होता है। संयोग का विभाग का और वेग का कर्म समान रूप से कारण होता है, सभी में कर्म जुड़ता है, वहाँ कर्म के जो अधिष्ठान है वे तीन हैं आत्मा, मन और इंद्रिय। इनमें से पुन: आत्मा मन को प्रेरित करता है और मन का कर्म हो जाता है इंद्रियों को धक्का देना=प्रेरित करना और इंद्रिय का कर्म होता है अर्थ का ग्रहण करना, अर्थ के साथ इंद्रिय जुड़ जाती है जिससे सुख और दु:ख की अनुभूति होती है=उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार से मन के भी कर्म सुख और दु:ख होते हैं और सुख-दु:ख के द्वारा मन का कर्म दिखा दिया। इस प्रकार से वहाँ पर सुख और दुःख मन के होने का लिङ्ग बनता है ॥१५॥

सुखदुःखे मनसः कर्मणि लिङ्गं कथमित्यत्रान्यो हेतुरुच्यते –

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः ॥१६॥

(आत्मस्थे मनसि) आत्मनिष्ठे- इन्द्रियानभिमुखे वृत्तिरहिते मनसि, वृत्तिरहितं मनो ह्यात्मनि नितिष्ठति, उक्तं हि 'आत्मकल्पेन व्यवतिष्ठते' [व्यासः] (तदनारम्भे) कर्मणोऽनारम्भोऽनुत्पादोऽप्रवर्तनं भवति तत्र कर्मानारम्भे सति (शरीरस्य दुःखाभावः) शरीरस्यात्माधिष्ठितस्य शरीरस्य दुःखाभावो भवति, पूर्वोक्तसुखदुःखयोरभावो भवति, अत्र दुःखशब्दः सुखेऽपि प्रयुक्तो दुःखशबलत्वात् सुखस्य सांसरिकसुखदुःखाभावो भवति (सः योगः) स खलु योगो भवति यदा मनः खलु वृत्तिरहितं सदात्मनि तिष्ठति सुखदुःखे नानुभवति ॥१६॥

सुख-दु:ख जो है वह मन के कर्म का हेतु है=लिङ्ग है, इस विषय में और भी हेतु बताते हैं-

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः ॥१६॥

सूत्रार्थ:- कर्म को रोक देने पर तथा मन का आत्मा में स्थिर हो जाने पर सुख दु:ख का अभाव हो जाना योग=समाधि है ॥१६॥

भाष्यार्थ:-*(आत्मस्थे मनसि)* आत्मनिष्ठ अर्थात इंद्रियाओं के विषयों के प्रति न जाने वाला=वृत्ति रहित मन के हो जाने पर, जब वृत्ति रहित मन हो जाता है तो आत्मा की ओर झुक जाता है। कहा भी है- 'आत्मा के जैसा हो करके स्थित हो जाता है' ऐसा व्यास भाष्य में आया है।*(तदनारम्भे)* कर्म का अनारम्भ अर्थात उत्पाद अर्थात प्रवर्तन=प्रवृत्ति नही होना=गति नहीं होना उसमें होता है और वह वृत्ति बंद हो जाने पर *(शरीरस्य दुःखाभावः)* ऐसे शरीर जिसमें आत्मा स्थित है उस शरीर में दु:ख का अभाव हो जाता है, पहले जिस सुख-दु:ख के विषय में कहा था उसी सुख-दु:ख का अभाव हो जाता है। अब यहाँ इनका भाष्य है कि 'सुख' शब्द सूत्र में तो पढ़ा नहीं है इस कारण से 'दु:ख' शब्द यहाँ सुख अर्थ को भी देता है, सुख होने पर भी प्रयुक्त यहाँ 'दु:ख' के बहुल हो जाने से उस सुख का अर्थात सांसरिक सुख का (जो सांसरिक सुख होता है वह एक प्रकार से दु:ख ही होता है) का भी अभाव हो जाता है।*(सः योगः)* वह अवस्था योग की होती है, जब मन वृत्ति से रहित हो करके आत्मा में स्थित हो जाता है तब सुख और दु:ख का अनुभव वह नहीं करता है (लौकिक सुख नहीं होता है) ॥१६॥

अथ शरीरधारणरूपसंसारदशायां मनसः कर्मोच्यते –

अपसर्पणमुपसर्पणमशीतपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ॥१७॥

*(अदृष्टकारितानि) अदृष्टं जीवात्मनो धर्माधर्मविशेषस्तज्जीवनसंस्कारश्च तत्कारितानि तन्निमित्तानि कर्माणि । कानि तानि । उच्यन्ते (अपसर्पणम्) जीवात्मनः पूर्वदेहादुत्क्रमणमपसर्पणं कर्म, आत्मना साकं सर्वप्राणानामपि भवत्यपसर्पणम्, 'स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति' (कौषीतकि. ३।३) एवमात्ममनः प्राणानामपसर्पणं कर्म तत्र च मुख्यमपसर्पणं त्वात्मन एव यतः "तम् [आत्मानम्] उत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति" (बृह. ४।४।२) तस्मादत्र सूत्रे सर्वेषामेवापसर्पणं कर्म लक्ष्यते न केवल मनसोऽपसर्पणमेवान्येषामपि कर्मणां विधानात् । तथैव सर्वेषाम् (उपसर्पणम्) देहान्तरे प्रवेशनं कर्म (अशीतपीतसंयोगाः) भुक्तपीताहारस्य गर्भे मात्राशीतपीतस्य प्रसवानन्तरं स्वाशीतपीताहारस्य संयोजनानि * रसरक्तादिपरिणामकराणि कर्माणि (च) तथा (कार्यान्तरसंयोगाः) रसरक्तादिभ्यो यानि कार्यान्तराणि तद्भिन्नानि कार्याणिइन्द्रियाणीन्द्रियस्थानानि तेषां संयोगाः संयोजनानि तदाकारनिर्माणकर्माणि भवन्ति ॥१७॥*

अब मन का ऐसा कर्म जो शरीर को धारण करता है, सांसरिक दशा में। उसको कहते हैं-

अपसर्पणमुपसर्पणमशीतपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ॥१७॥

सूत्रार्थ:- अपसर्पण=शरीर से निकालना, नए शरीर में प्रवेश करना, खाये-पीए आहार में रस रक्त आदि परिणाम का होना, इंद्रियों का गोलक निर्माण इत्यादि (अदृष्ट) कर्म मन के द्वारा किए गए कर्मों के परिणाम स्वरूप बनते हैं ॥१७॥

(विशेष- मन के द्वारा एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाना ये मान्यता तो अनिश्वर वादियों की व कर्म को मानने वालों की है)

भाष्यार्थ:- *(अदृष्टकारितानि)* अदृष्ट का अर्थ यहाँ जीवात्मा के अंदर जो धर्म अधर्म आदि संस्कार के रूप में हैं, संस्कार और जीवन को चलाने वाले जो उसके निमित्त जो कर्म हैं वे कितने हैं उसको कहते हैं- उनमें से एक तो *(अपसर्पणम्)* एक शरीर को छोड़कर के दूसरे शरीर में पहुँचना ये अपसर्पण कर्म है, आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर में सब प्राणों का भी चला जाना होता है । कैसे-*'स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति' (कौषीतकि. ३।३)* 'जब वह आत्मा इस शरीर से ऊपर उठता है तो ये सभी प्राण उसके साथ ही उठ जाते हैं' । इस प्रकार से मन का एक ऐसा जो कर्म है ऊपर उठना=शरीर से निकल जाना जो है, यह वस्तुत: आत्मा का होता है लेकिन मन में भी ऐसा होता है । आत्मा के प्राणों का जो अपसर्पण कर्म है, मुख्य अपसर्पण तो आत्मा का ही होता है ।*"तम् [आत्मानम्] उत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा उत्क्रामन्ति" (बृह. ४।४।२)* उसी आत्मा के उठने से प्राण भी ऊपर उठते हैं, और प्राण के उठ जाने पर अपान समान आदि भी उठ जाते हैं, इसलिए इस सूत्र में सभी का अपसर्पण कर्म लक्षित है, केवल मन को ही नहीं समझना चाहिए । अन्यों के भी कर्म का विधान होने से मन का भी यहाँ पर ग्रहण हो जाता है।*(उपसर्पणम्)* उसी प्रकार से दूसरे देह में ये सब सूक्ष्म शरीर के साथ पहुँच जाते हैं और*(अशीतपीतसंयोगाः)* अशीत=खाना, पीत=पिया । भोग का जो आहार कर लिया है, गर्भ में फिर माता के द्वारा खाये-पीए जो अन्न होते है वे गर्भस्थ शिशु को लगते जाते हैं और प्रसव के पश्चात फिर अपने शरीर के द्वारा खाया-पिया गया जो आहार होता है उसका संयोजन होने लग जाता है रस रक्त आदि के रूप में जो परिणाम होने लगते हैं भोजन के पचने का और शरीर के अंगों में इनके जुडने का ये सब कोई साथ साथ नही करता ईश्वर आदि का, ये सब व्यवस्था मन आदि के वेग से हो जाती है । इसलिए ये मन के कर्म हैं ।*(च)* इसी प्रकार से *(कार्यान्तरसंयोगाः)* अन्य कार्यों का संयोग होता है । रस रक्त आदि बनने से भी अन्य कार्य होते हैं। उससे जो अतिरिक्त कार्य हैं इंद्रिय और इंद्रिय के साथ में जो स्थित होने वाले है उनका संयोग और संयोजन करना, उस प्रकार

का हो जाना=विषय आदि के आकार मे मन का परिणित हो जाना होता है ये सभी के सभी मन के कर्म होते हैं ॥१७॥

पुनः –

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥१८॥

(तदभावे) तस्यादृष्टस्याभावे नाशे (संयोगाभावः) संयोगस्य संयोजनस्य कर्मणो रसरक्तेन्द्रियपरिणामकारिणः कर्मणो भवत्यभावः क्षयः । (च) तथा (अप्रादुर्भावः मोक्षः) देहस्यानुत्पादः । अथ मोक्षो भवति ॥१८॥

मन के और भी कर्म हैं-

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥१८॥

सूत्रार्थः- शुभ-अशुभ कर्म रूप अदृष्ट उत्पत्ति के न होने पर पूर्व शरीर के साथ आत्मा का संयोग न रहना और नए शरीर की उत्पत्ति भी न होना मोक्ष कहलाता है। (अविद्या अर्थात संस्कार जो है उसके नष्ट हो जाने पर अगला शरीर मिलना बंद हो जाता है, जब ऐसी स्थित आ जाएगी तो समझिए वह मोक्ष है) ॥१८॥

भाष्यार्थः- *(तदभावे)* जिन-जिन कारणों से मन का संस्कार आदि से युक्त रहना होता है, उन सभी के हट जाने पर *(संयोगाभावः)* शरीर के साथ इसको युक्त मानें करने वाले कर्म हैं ऐसे रस रक्त आदि रूप में परिणाम जिस कर्म के कारण होता है उसका अभाव हो जाता है क्षय हो जाता है। तथा *(अप्रादुर्भावः मोक्षः)* अगला देह पुन: नहीं मिलता है। अथ शब्द पश्चात अर्थ में है अर्थात इसके बाद मोक्ष हो जाता है ॥१८॥

ननु कर्म परीक्षाप्रसङ्गे तमसोऽपि कर्म दृश्यते तत्किं द्रव्यस्य सतस्तमसः कर्म वा अन्यथेत्यत्रोच्यते –

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ॥१९॥

(द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यात् अभावः तमः) तमः खलु भावो भावात्मको नास्ति पृथिव्यादिवत्, यतो द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यात् द्रव्यगुणकर्मणां निष्पत्तेः सिद्धेर्वैपरीत्यात् ।द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिरवयवेभ्यो भवति यथा तन्तुभ्यः पटनिष्पत्तिः, न तथा तमसो निष्पत्तिर्भवति पटे तन्तवस्तदवयवा दृश्यन्ते न तमसि तदवयवा दृश्यन्ते । द्रव्यं खलु भवति गुणवत् कर्मवच्च, तमसि नीलं रूपं कल्प्यते चलनं कर्म च, परन्तु गुणनिष्पत्तिवैधर्म्यमथ कर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यं च तत्रास्ति । यत्र रूपं गुणः स्यात् तत्र स्पर्शेन गुणेनापि भाव्यं न हि तमसि स्पर्शोऽस्ति यथा तमस्वतः स्थलस्य पूर्वः स्पर्शः कर्कशो

मृदुर्वा खल्वासीत् तथैव सति तमसि विद्यते। अथ रूपवत्त्वात् तमसस्तत्र गन्धरसाभ्यामपि भावितव्यं न च भवति तस्माद् गुणवैधर्म्यात् तमो न द्रव्यम् । तथा कर्म्मवैधर्म्याच्च, यत् कर्म चलनं कल्प्यते तन्न तस्य, चलनं तु रूपवतः स्पर्शवतश्च द्रव्यस्य चलतः स्थानान्तरप्राप्त्या भवति यथा मनुष्यः पशुः पक्षी वा चलति मनुष्याद्यः स्वाकृतिभिः प्रकाशे नेत्रदृश्याः सन्ति न तथा तमः स्वाकृत्या प्रकाशे नेत्रदृश्यम्, तथा मनुष्यादयश्चलन्तः स्पर्शगुणवन्तो हस्ताभ्यामवरोद्धुं शक्यते न तथा तमो हस्ताभ्यामवरोद्धुं शक्यते तदेतत्कर्मवैधर्म्यम् । तस्मात्तमो न द्रव्यम् ॥१९॥

**। संयोगशब्दो नात्र गुणवाचकः किन्तु यौगिकरीत्या क्रियावाचकः संयोगः संयोजनं कर्म ।*

अब कर्म की परीक्षा के प्रसंग में उसके अंतर्गत अंधकार में भी कर्म होता दिखता है जहां प्रकाश नही होता है ऐसी स्थित भी चलती दिखाई देती है अर्थात अंधकार भी चलता है, उसको कह रहे हैं कि क्या वो द्रव्य होने के कारण उस अंधकार में कर्म हो रहा है या किसी अन्य कारण से वहाँ अंधकार में भी कर्म हो रहा है। इसको बताएँगे-

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ॥१९॥

सूत्रार्थ:- द्रव्य गुण और कर्म की उत्पत्ति से विरोध होने के कारण अंधकार द्रव्य रहित अभावात्मक पदार्थ है अर्थात प्रकाश का अभाव मात्र है ॥१९॥

भाष्यार्थ:- *(द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यात् अभावः तमः)* तम=अंधकार जो है वो क्या है वास्तविक नही होता है, पृथ्वी आदि के समान भावात्मक पदार्थ नहीं है, द्रव्य-गुण-कर्म कि निष्पत्ति या सिद्धि के विपरीत होने से द्रव्य जो उत्पन्न होते हैं वो अनेक अवयवों के मिलने से होते हैं । जैसे तंतुओं से वस्त्र बनता है वैसे तम की उत्पत्ति भी तो नही होती है, पट में तो उसके अलग अलग तन्तु दिखाई देते हैं लेकिन अंधकार बहुत बड़ा होता है, महत परिमाण वाला भी है दिखाई भी दे रहा है ऐसी स्थिति में उसमें अवयव होना चाहिए । निरवयव भी नही है क्योंकि उत्पन्न होता है इसलिए अनित्य भी है, अनित्य होने से और महत परिमाण वाला होने से । दोनों विरोधी स्थिति हो रही है उसमें,इसलिए इसमें अवयव भी नहीं दिखते हैं, जैसे वस्त्र के तन्तु आदि दिखते हैं । द्रव्य की निष्पत्ति तो उसके कारण अवयवों से होती है जैसे तंतुओं से वस्त्र की उत्पत्ति होती है, वैसे अंधकार की उत्पत्ति नहीं होती है । और पट में तो तन्तु उसके अवयव रूप हैं वे दिखाई देते हैं किन्तु अंधकार में उसके तन्तु अवयव दिखाई नहीं देते । जो कोई भी द्रव्य होता है उसमें या तो गुण होता है या कर्म होता है अथवा दोनों होते हैं ।

तमस=अंधकार में काला जैसा रूप होता है, उसका चलना कर्म के रूप में प्रतीत होता है, अंधकार रूप अर्थात आँख से जो दिखाई सा देता है वह उस अंधकार का रूप है, लेकिन रूप से विरुद्ध है। उसका जो चलना कर्म है वह भी कर्म की उत्पत्ति जैसे संयोग आदि से होती है,उस तरह से नहीं होता है वो, कैसे नही होता है? आगे बताएँगे-जहां आँख से दिखने वाला रूप होता है वहाँ पर स्पर्श भी होता है, पर अंधकार में अपना स्पर्श नही होता है, अंधकार से पहले प्रकाश की अवस्था में उस स्थल का स्पर्श जैसा भी था मृदु या कठोर। वहाँ अंधकार हो जाने पर वो ज्यों का त्यों रहता है, मृदु का मृदु और कठोर का कठोर ही रह जाता है। अंधकार रहने पर यथावत स्थिति रह जाती है जबकि नही होनी चाहिए। यदि रूप वाला अंधकार होता तो उसमें रूप के साथ-साथ गंध और रस भी होना चाहिए, नहीं होता है। इसलिए गुण के विरुद्ध होने से वह=अंधकार द्रव्य नहीं है। उसका कर्म से भी विरोध है, कैसे ? जो चलन कर्म है चलने वाली वस्तु तो स्वतंत्र होती है वो किसी की अपेक्षा नहीं रखती है अपने आप उठके चल देती है, लेकिन छाया कब चलेगी? वास्तविक द्रव्य को किसी की अपेक्षा नही होती लेकिन छाया को चलने में प्रकाश की अपेक्षा होती है, तो ये विरुद्ध है उसके, कर्म के कर्म ऐसा नही होता। कर्म तो स्वतंत्र द्रव्य, में होता है। किन्तु रूप और स्पर्श तो चलते हुए द्रव्य का होता है अलग-अलग स्थान में संयोग विभाग से। मनुष्य आदि जो है वे चलते है और अपनी आकृति के साथ प्रकाश मे नेत्र से दिखाई देते हैं, किन्तु अंधकार उस मनुष्य आदि के समान अपनी आकृति विशेष में प्रकाश में नेत्र दृश्य (अंधकार प्रकाश में आँख से दिखाई नही देता है) नहीं देता है। ऐसे ही मनुष्य आदि जो चलते हैं उनको तो हाथ से रोका जा सकता है, लेकिन छाया पकड़ में नही आती है। ये द्रव्य से विरोध है अंधकार का। अंधकार तो हाथों के द्वारा रोका नही जा सकता है इसलिए कर्म से भी इसका वैधर्म्य है। इसलिए तम=अंधकार द्रव्य नही हो सकता है, वो अभाव ही है और कुछ नहीं ॥१९॥

तस्याद्रव्यत्वेऽन्यो हेतुरुच्यते –

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥२०॥

(द्रव्यान्तरेण तेजसः आवरणात् च) वृक्षभित्त्यादिद्रव्येण प्रकाशस्य खल्वावरणात् तमोनिष्पत्तिर्भवति द्रव्यनिष्पत्तिस्तु नावरणमपेक्षतेऽनावरणे भवति द्रव्यनिष्पत्तिरिति हेतुरयमन्योऽपि, तथा तेजसश्चलतस्तदावरकवृक्षादेरचलतोऽपि चलति तस्मात्

प्रकाशस्य चलतस्तदावरकसम्बद्धस्तमश्चलति न स्वतन्त्रं द्रव्यं सत् तमश्चलति तस्य चलनव्यवहारो गौणः, तस्मान्न द्रव्यम् ॥२०॥

अंधकार का द्रव्य न होने में दूसरा कारण बताते हैं-

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥२०॥

सूत्रार्थ:- और प्रकाश की वृक्ष आदि तथा दीवार आदि के ढक लेने पर अंधकार दिखता है, वास्तव में अंधकार कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है ॥२०॥

भाष्यार्थ:- *(द्रव्यान्तरेण तेजसः आवरणात् च)* वृक्ष-दीवार आदि द्रव्यों के द्वारा प्रकाश का अवरोध हो जाने से अंधकार की उत्पत्ति होती है किन्तु द्रव्य को उत्पन्न होने के लिए आवरण की अपेक्षा नहीं होती है, द्रव्य की निष्पत्ति में अन्य हेतु भी है। चलते हुए तेज का उसका जो आवरक है वृक्ष आदि के न चलने पर भी प्रकाश का तो चलना हो जाएगा, इसलिए चलते हुए प्रकाश का आवरक का जो संबंध है वही=तम उसी के साथ चलता है अलग से स्वतंत्र रूप में अंधकार नहीं चलता है उसके आवरक को साथ-साथ चलते रहना चाहिए प्रकाश के साथ में। इसलिए स्वतंत्र द्रव्य होता हुआ तम नहीं चलता है, तो इसलिए उसका जो चलन व्यवहार प्रतीति है वह गौण है, इसलिए वह द्रव्य नहीं है ॥२०॥

तमसि कर्म न वास्तविकं न च तमो द्रव्यमिति तु परीक्षितम्। अधुना दिक्कालाकाशानां कर्मशून्यत्वं प्रतिपाद्यते –

दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥२१॥

(दिक्कालौ आकाशं च) दिशाकालाकाशानि द्रव्याणि (निष्क्रियाणि) क्रियारहितानि कर्मशून्यानि कर्मनिष्पाद्यपरिणामरहितानि (क्रियावद्वैधर्म्यात्) क्रियावद्भ्यः कर्मवद्भ्यो वैधर्म्याद् वैपरीत्यात्, तेषां दिक्कालाकाशानां तद्विपरीतस्वरूपवत्त्वात्।यत्र यत्र द्रव्ये क्रिया तत्तदेकदेशि द्रव्यं तस्य स्थानान्तरप्राप्तिः कर्मणा भवति हि, दिक्कालाकाशानि द्रव्याणि तु नैकदेशीनि किन्तु सर्वदेशीनि सर्वत्र व्याप्तानि विभूनीति क्रियावैधर्म्यम्। तथा क्रियावन्ति कर्मवन्ति द्रव्याणि सावयवानि एतानि तु निरवयवान्यमूर्त्तानि तस्मात्परिणामरहितानि कर्मशून्यानि क्रियावद्वैधर्म्यात्। पुनश्च परमात्मा विभुः सन्नपि क्रियावान् कर्मवान् चैतन्यधर्मवत्त्वाज्ज्ञानवत्त्वाच्चेतयति क्रियां प्रेरयति जगति तन्निर्माति परिणयति च स्वयं परिणामरहितोऽस्ति विभुत्वात्। आत्मा क्रियावान् कर्मकर्त्ता चैतन्यधर्मवत्त्वाज्ज्ञानधर्मवत्त्वात् स्वसाधनैः कर्म करोति परन्तु क्रियापरिणामरहितोऽणुः सन्नपि तस्य निरवयवत्वात्। निष्क्रियत्वप्रकरणे

दिगादिवदात्मपरमात्मनोरपठनादाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञपयति तत्र न कर्मशून्यत्वं क्रियावत्त्वप्रकरणऽपाठात् तत्र परिणामकारिणी क्रिया न विद्यतेनिरवयवात् ॥२१॥

चलो अंधकार में जो कर्म होता है वो वास्तविक नहीं होता है और तम द्रव्य भी नहीं है, यह परीक्षा हो गयी। अब दिशा-काल-आकाश की कर्म शून्यता बताई जाती है-

दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥२१॥

सूत्रार्थः- दिशा काल और आकाश द्रव्यों से विपरीत स्वभाव वाले होने से निष्क्रिय द्रव्य हैं॥२१॥

भाष्यार्थः- *(दिक्कालौ आकाशं च)* दिशा काल और आकाश ये तीन द्रव्य *(निष्क्रियाणि)* क्रिया रहित हैं अर्थात कर्म शून्य हैं, कर्म की उत्पत्ति से जो परिणाम आते हैं उस परिणाम से रहित होते हैं ये, क्यों होते हैं- *(क्रियावद्वैधर्म्यात्)* क्रिया=कर्म वाले जो धर्मी हैं उसके वैधर्म्य अर्थात उसके विपरीत स्वभाव वाला होने से, उन दिशा काल आकाश से विपरीत स्वभाव वाला होने से जहां जहां द्रव्य में क्रिया होती है वो वो द्रव्य एक देशीय द्रव्य होता है और उसमें स्थानतार प्राप्ति= एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना रूप क्रिया होती है। और दिशा काल आकाश ये एक देशीय पदार्थ नहीं है व्यापक हैं, किन्तु ये सर्व देशीय होते हैं सर्वत्र व्यापक होते हैं, ये तीनों ही द्रव्य विभु होते हैं क्रिया और एक देशीय से वैधर्म्य है इनका। क्रिया वाले जो द्रव्य होते हैं और दूसरे द्रव्य ये द्रव्य अवयव वाले होते हैं, और ये तीनों निरवयव अमूर्त हैं। इसलिए इनमें कोई परिणाम भी नही होते, कर्म से रहित होते हैं, क्रिया वाले सक्रिय पदार्थ से विपरीत होने से। और दूसरी बात है- विभु होने से ये क्रिया रहित नही हैं क्योंकि परमात्मा विभु होता हुआ भी क्रियावान है कर्मवान है, उसमें देशान्तर क्रिया तो नहीं होती है लेकिन एक देशीय वस्तुओं में क्रिया देता है है इसलिए वो=परमात्मा क्रियावान है। चेतन धर्म होने के कारण, ज्ञान स्वरूप होने के कारण बताता है क्रिया को प्रेरित करता है जगत में उसका निर्माण करता है, उसको परिणित करता है, विभक्त करता है भिन्न-भिन्न स्वरूपों में, किन्तु अपने में (अपने आप) परिणाम रहित होता है। विभु होने के कारण। आत्मा भी क्रियावान कर्म कर्ता है, चेतन धर्म वाला होने से अर्थात ज्ञान धर्म वाला होने से, अपने अपने साधनों से कार्यों को करता है, परंतु वह क्रिया परिणाम से रहित वह भी होता है और एक देशी होने पर भी वो निरवयव होने के कारण परिणाम रहित होता है, परमात्मा विभु होने से अवयव रहित होने से परिणाम रहित है और आत्मा एक देशी होने पर भी निरवयव होने से परिणाम रहित है, इसमें जो भी निरवयव होगा उसमें परिणाम नही होगा। प्रकृति के भी परमाणु ऐसे ही रहेंगे। तो परिणाम न होना

निरवयव का कारण होता है, काल में भी निरावयव होने से परिणाम नहीं आते हैं। क्रिया रहितत्व के प्रकरण में उस स्थिति में दिक आदि के समान आत्मा-परमात्मा का पाठ न पढ़ने से दिक-काल-आकाश के साथ नही पढ़ा आत्मा को, तो इससे आचार्य बताते हैं कि आचार्य की प्रवृत्ति से पाठ न होने से आत्मा परमात्मा का ये अर्थापत्ती निकलती है एक कि उसमें कर्म शून्यता नही है जबकि ये तीनों कर्म शून्य हैं पर ऐसा ही आत्मा परमात्मा होने पर कर्म की शून्यता नहीं है । ये बात निकल कर आती है । क्रियावाले प्रकरण में पाठ न होने से, परिणामी क्रिया नहीं है ये उसका अभिप्राय निकलेगा। इनमें परिणामी क्रियाएँ भी होती हैं।

(जो लोक कहते हैं कि ये जो कुछ हो रहा है काल कर रहा है काल के कारण हो रहा है प्राय: ऐसा बोलते हैं। तो यह भी एक गौण कथन है काल तो कुछ करता नहीं है उसमें क्रिया नही होती है। करने वाला तो कोई और ही कारण होना चाहिए। काल तो केवल सयोगों का प्रतिनिधि है कि इस अवस्था में ऐसा होगा) ॥२१॥

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥२२॥

(एतेन) क्रियावद्वैधर्म्येण निरवयवत्वेन (कर्माणि गुणाःच व्याख्याताः) कर्मभेदा गुणाश्च व्याख्याता विज्ञेयास्तेऽपि क्रियाशून्याः सन्ति ॥२२॥

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥२२॥

सूत्रार्थ:- पूर्वोक्त हेतु से अर्थात निरवयव होने से सभी कर्म और सभी गुण क्रिया शून्य जानने चाहिए ॥२२॥

भाष्यार्थ:- *(एतेन)* क्रिया वाले वस्तु जो हैं उससे विपरीत धर्म वाला होने से अर्थात निरवयव होने से *(कर्माणि गुणाःच व्याख्याताः)* कर्मों के भेद और गुण व्याख्यात जानना चाहिए अर्थात गुण और कर्म ये भी क्रिया शून्य होते हैं, इनमें अलग से कोई कर्म नही होता ॥२२॥

पुनः –

निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ॥२३॥

(निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यः निषिद्धः) निष्क्रियाणां द्रव्याणामद्रव्याणां गुणकर्मणामुभयेषामपि यथायोग्यं समवायः समवायसम्बन्धः कर्मभ्य उत्क्षेपणादिकर्मभ्यो निषिद्धोऽस्ति यानि तु निष्क्रियाणि द्रव्याणि दिक्कालाकाशानि तेषां समवायसम्बन्ध उत्क्षेपणादिकर्मभ्योहेतुभ्यो निषिद्धो वेदित्तव्यः । उत्क्षेपणादिकर्माणि लक्ष्यीकृत्य क्रियावतां द्रव्याणामेव समवायसम्बन्धो भवति, दिक्कालाकाशेषु खलूत्क्षेपणादिकर्माणि भवन्ति सक्रियद्रव्यसमवेतानि तस्माद् दिक्कालाकाशानां

संयोगसम्बन्धस्त्वाधारत्वेनावतिष्ठते । यथा पूर्वस्यां दिशि गत्वोड्डीय वोत्तरस्यामागतः, चिरेण गत इदानीमागतः, आकाशे चन्द्रताराणां भ्रमणंनिरन्तरं भवति । इति संयोगो लक्ष्यते । अथ च ये निष्क्रियाः कर्मगुणाश्च तेषां निष्क्रियाणां तद्वद्भिः कर्मगुणवद्भिर्द्रव्यैः सह यः समवायः समवायसम्बन्धः स खलु कर्मभ्यो हेतुभ्यो निषिद्धः, उत्क्षेपणादिकर्माणि लक्षीकृत्य न भवति किन्तु स तु नित्य एवेति ॥२३॥

और फिर-

निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ॥२३॥

सूत्रार्थ:- निष्क्रिय अर्थात दिशा काल आकाश द्रव्यों तथा गुण और कर्मों का उत्क्षेपण आदि कर्मों के साथ नित्य संबंध नहीं है साथ वालों के संबंध से संबंध होते है॥२३॥

भाष्यार्थ:- *(निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यः निषिद्धः)* जो निष्क्रिय द्रव्य और द्रव्य से भिन्न गुण कर्म हैं, जो निष्क्रिय द्रव्य हैं गुण और कर्म दोनों का ही समवाय संबंध कर्म के साथ अर्थात उत्क्षेपण आदि जो कर्म होता है वह प्रतिसिद्ध होता है, जितने भी निष्क्रिय द्रव्य हैं दिशा काल और आकाश उनका उत्क्षेपण आदि हेतुओं से निषिद्ध समझना चाहिए। ऊपर उठने आदि कि जो क्रियाएँ हैं उसको लक्ष्य करके ही यह द्रव्य भी क्रिया वाला है इस प्रकार से ऐसे द्रव्यों के साथ कर्मों का संबंध होता है। दिशा काल और आकाश में उत्क्षेपण आदि कर्म तो होते हैं किन्तु अन्य जो सक्रिय द्रव्य हैं उनसे सम्बद्ध होने से होते हैं उसमें, सीधे आकाश में क्रिया नही होती है आकाश मे एक देशी द्रव्य आयेगा या अवयवी द्रव्य आएगा उसमें क्रिया होगी। इसलिए दिशा काल और आकाश का क्रिया के साथ अर्थात कर्म के साथ जो संबंध है वह आधार के रूप में है समवायि द्रव्य के रूप में हैं। जैसे कि पूर्व दिशा में जाकर के उड़कर के उत्तर दिशा में आगया, बहुत पहले गया था और अब आया है ये काल में हो रहा है, आकाश में चन्द्र तारे आदि का घूमना सदैव होता रहता है। ये संयोग उनमें दिखाई देता है। और ये जो निष्क्रिय कर्म और गुण होते हैं उन क्रिया वालों के साथ कर्म गुण वाले द्रव्यों के साथ जो समवाय है अर्थात कर्म वाले द्रव्यों के साथ कर्म या गुण का जो संबंध है=समवाय संबंध है, कर्म वाले हेतु से निषिद्ध होता है उत्क्षेपण आदि कर्मों को लक्षित करके नही होता है, एक देशीय द्रव्यों मे भी कर्म होता है वो उत्क्षेपण कि दृष्टि से नहीं है वो सभी कर्मों की दृष्टि से है फिर वह कुछ भी हो सकता है ॥२३॥

परन्तु –

कारणं त्वसमवायिनो गुणाः ॥२४॥

(गुणाःतु असमवायिनः कारणम्) निष्क्रियाणां कर्मभ्यः समवायो नास्ति तेन सक्रियाणि द्रव्याणि समवायिकारणानि कर्मणां, निष्क्रियाणि द्रव्याणि गुणानां समवायिकारणानि

गुणैः सह समवायसम्बन्धवत्त्वात् । उभयेषां गुणकर्मणां तदाश्रयभूतानि सक्रियाणि द्रव्याणि समवायिकारणानि । निष्क्रिया गुणास्तु कर्मप्रति खल्वसमवायिकारणानि सन्ति द्रव्यं प्रति गुणं प्रति तु सन्ति हीति विवेकः । यथा तन्तुसंयोगो द्रव्यस्य वस्त्रस्यासमवायिकारणं संयोगविभागवेगाः शब्दस्यासमवायिकारणानि, बाणे वेगः कर्मणोऽसमवायिकारणम् ॥२४॥

परंतु-

कारणं त्वसमवायिनो गुणाः ॥२४॥

सूत्रार्थ:- द्रव्यों और कर्मों के गुण असमवायि कारण होते हैं ॥२४॥

भाष्यार्थ:- *(गुणाःतु असमवायिनः कारणम्)* गुण तो असमवायि कारण होते हैं। निष्क्रिय द्रव्यों का समवायी संबंध नही होता है इसलिए कर्मों का सक्रिय द्रव्य जो होते हैं वे समवायी कारण होते हैं, निष्क्रिय द्रव्य जो होते हैं वे गुणों के समवायि कारण होते हैं गुणों के साथ समवाय संबंध रखने से । दोनों गुण अर्थात कर्मों का आश्रय बनने वाला द्रव्य है वो सक्रिय द्रव्य समवायी कारण होते हैं, निष्क्रिय गुण जिनमें क्रिया नहीं होती है वह गुण कर्म के प्रति असमवायि कारण होता है, द्रव्य और गुण के प्रति तो होते ही होते हैं । जैसे तंतुओं का जो संयोग है वह द्रव्यों का वस्त्र का असमवायि कारण होता है और संयोग विभाग तथा वेग ये शब्द के असमवायि कारण होते हैं, बाण मे जो वेग होता है वो कर्म का असमवायि कारण होता है । इस तरह से गुण असमवायि कारण बनते हैं ॥२४॥

गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥२५॥

(गुणैः दिक् व्याख्याता) गुणैस्तुल्या दिक् खलु व्याख्याता विज्ञेया गुणवद् कर्म प्रति दिगप्यसमवायिकारणमस्ति पूर्वस्यामुदितः पश्चिमायामस्तंगतः । इत्यादि कर्मप्रवृत्तेः ॥२५॥

सूत्रार्थ:- जैसे गुण क्रिया शून्य होने से कर्म का समवायि कारण नही होता वैसे दिशा भी कर्म का समवायि कारण नही होती है।

अथवा

जैसे गुण कर्म का निमित्त कारण है वैसे ही दिशा भी कर्म का निमित्त कारण है (विचारणीय है) ॥२५॥

भाष्यार्थ:- *(गुणैः दिक् व्याख्याता)* गुणों के समान ही दिशा की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए, गुण के समान कर्म भी कर्म के प्रति दिशा भी असमवायि कारण होती है, पूर्व में हुआ और पश्चिम में अंत हुआ यहाँ पर उसमें क्रिया होती हुई दिखाई देती है, ये

असमवायि मे होता है समवायि कारण में नही होता है । ये सब कर्म की प्रवृत्तियाँ हैं ॥२५॥

अथ कालः –

कारणेन कालः ॥२६॥

(कालः कारणेन) प्रातः सायंमासवसन्तादिकालो वस्तूनामुत्पत्तिप्रभृतिकर्मणः क्रियामाणकर्मणश्च कारणेन कारणभावेन सिद्धः प्रसिद्धोऽस्ति तस्मात् स कारणं निमित्तकारणमस्ति, तस्य निष्क्रियत्वान्न भवतु समवायिकारणं निमित्तकारणं तु साक्षादस्त्येव, पुनः कारणशब्दोपादानात्कालस्य निमित्तकारणत्वमभीष्टमुत्पत्त्यादिपरिणामनिमित्तत्वात् ॥२६॥

अब काल के विषय में कह रहे हैं-

कारणेन कालः ॥२६॥

सूत्रार्थ:- द्रव्यों की उत्पत्ति में कारण होने से काल द्रव्यों का निमित्त कारण है ॥२६॥

भाष्यार्थ:-*(कालः कारणेन)* प्रात: सायं मास ऋतु वसंत आदि महिना जो काल है, जो वस्तुओं की उत्पत्ति आदि कर्म हैं और हो रहे कर्मों का कारण रूप में कारण होता है ऐसी सिद्धि है इसकी, प्रसिद्ध है, इसलिए वह निमित्त कारण है । उसके समवायि कारण निष्क्रिय होने से नहीं होना चाहिए निमित्त कारण वह साक्षात होता है वहाँ पर क्योंकि विद्यमान रहता है। पुन: काल शब्द यहाँ पड़ने के साथ काल को निमित्त कारण मानना होता है या मानना चाहिए, ये उचित हैं उत्पत्ति परिणाम आदि के निमित्त होने से क्योंकि छोड़ा नही जा सकता उसे, समवायि असमवायि में नही आयेगा निमित्त में आजाएगा इस रूप में ॥२६॥

द्वितीयाह्निकं समाप्तम् ।

समाप्तिंगतश्च पञ्चमोऽध्यायः ॥

षष्ठाध्यायः तत्र प्रथमाह्निकम् ।

भौतिकद्रव्याणां मनसश्च कर्माणि खलूक्तानि सम्प्रति त्वात्मकर्माणि विधिनिषेधपराणि वक्ष्यन्ते । तेषां कर्मणां प्रतिपादकं शास्त्रं वेदस्तस्मात् तावद् वेदविहितानि कर्माणि स्वीकर्त्तव्यानि निषिद्धानि त्वग्राह्याणीत्यत्र हेतुं प्रदर्शयति –

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥१॥

(वेदे वाक्यकृतिः बुद्धिपूर्वा) वेदे धर्माधर्मबोधकानां विधिनिषेधपराणां वाक्यानां कृतिः खलु बुद्धिपूर्वाऽस्ति,बुद्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्, ज्ञानपूर्विकाऽस्ति । परमात्मना खलु वेदो रचितो वेदो ज्ञानागारोऽस्ति 'विद ज्ञाने' संज्ञायाः सार्थकत्वात्, स च ज्ञानस्वरूपस्य सर्वज्ञस्य परमात्मनः कृतिः । तत्राऽन्यथाकर्मप्रतिपादनेन न भवितव्यं तस्मात्तत्र प्रतिपादितकर्मणां ज्ञानमनुष्ठानं चावश्यं कार्यं निषिद्धानां च परित्यागः कार्यः ॥१॥

भौतिक द्रव्यों के और मन का कर्म कह दिये अब आत्मा के कर्म विधिनिषेध परक कहे जाएंगे, उन दोनों प्रकार के कर्मों का प्रतिपादक विधान करने वाला शास्त्र वेद है । इसलिए तब तक वेद विहित कर्मों का स्वीकार और निषेध का अग्रहण क्यों है? इसको प्रदर्शित किया जाता है –

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥१॥

सूत्रार्थ:- क्योंकि वेद में वाक्य रचना ज्ञान पूर्वक है । (क्योंकि शब्द यहाँ आकांक्षित हैं इसलिए वेद के विहित कर्मों का आचरण और निषिद्ध का परित्याग करना चाहिए) ॥१॥

भाष्यार्थ:- वेद में वाक्य की जो रचना है वह बुद्धि पूर्वक उसके अर्थ के अनुकूल है । वेद में धर्म अधर्म को बताने वाले विधि और निषेध परक जो वाक्य कृतियाँ हैं वह बुद्धि पूर्वक है ज्ञान पूर्वक है । बुद्धि और ज्ञान में अर्थ का भेद नहीं है अर्थात एक ही अर्थ है दोनों का, उसकी जो कृति है वह ज्ञान पूर्वक है । परमात्मा ने वेद की रचना की वेद ज्ञान का आगार=भंडार है, कैसे? ***'विद ज्ञाने' संज्ञायाः सार्थकत्वात्,*** इससे जो उत्पन्न वेद शब्द बनता है उसके सार्थक होने से, वेद से ज्ञान होता है । और वह वेद ज्ञान स्वरूप सर्वज्ञ परमात्मा की रचना है । इसलिए वहाँ पर विपरीत कर्म का प्रतिपादन नहीं होगा, इसलिए वहाँ जो विहित कर्म हैं उनके कर्मों का ज्ञान अथवा अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए और निषिद्धों का परित्याग करना चाहिए ॥१॥

तदत्र विषये –

ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ॥२॥

(ब्राह्मणे) ब्राह्मणग्रन्थे वेदव्याख्यानग्रन्थे (संज्ञाकर्म) वेदोक्तानां संज्ञानां कर्म 'अर्थकरणं' अर्थानुरूपं स्पष्टीकरणं तदर्थविधानं कर्म वा (सिद्धिलिङ्गम्)'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिरिति सिद्धेर्यद्वा सिद्धिः प्रसिद्धिर्ज्ञानमयो हि वेद इत्यस्य लिङ्गं प्रमाणम् । यथा "विश्वामित्रः सर्वमित्रः विश्वस्य ह वै मित्रं ....." (ऐ. ६।२०) "देवापिर्देवानामाप्त्या, त्रितस्तीर्णतमो मेंधया" (निरु.) "भरद्वाजस्य वाजभृतः" (आर्षेय ब्रा. १।२।१।२।२) "अत्रिरत्रैव तृतीयमृच्छतेः" (निरु.) "छन्दांसि छादनात्" (निरु. ७।१३) "अच्छादयंस्तस्माच्छन्दांसि" (शत. ८।५।२।१) (निरु. ७।१२) "यदरोदीत् तस्माद् रुद्रः" (शत. ६।१।३।१०) "मन्त्रा मननात्" "प्राणा वै रुद्रा प्राणा हीदं सर्वं रोदयन्ति" (जै. उ. ४।२।६) ॥२॥

इस विषय में उसको और कहते हैं-

ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ॥२॥

सूत्रार्थ:- ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक शब्दों का व्याख्यान करना इस बात का प्रमाण है कि वेद में वाक्य रचना ज्ञान पूर्वक है ॥२॥

भाष्यार्थ:- *(ब्राह्मणे)* ब्राह्मण ग्रंथ जो वेदों के व्याख्यान ग्रंथ हैं । *(संज्ञाकर्म)* वेदोक्त जो संज्ञाएँ हैं उनका करना अर्थात अर्थ को करना, अर्थ के अनुरूप स्पष्टीकरण हैं उस अर्थ के लिए विधान है या कर्म है *(सिद्धिलिङ्गम्)*'बुद्धि पूर्वक वाक्य कृति है इसकी सिद्धि के लिए अथवा या जो प्रसिद्धि है कि वेद ज्ञानमय है इसकी सिद्धि में ये लिङ्ग है प्रमाण है । हेतु देते हैं क्या प्रमाण है- वेद में विश्वामित्र शब्द है और ब्राह्मण ग्रंथ में इसका स्पष्टीकरण किया विश्वामित्र=सर्वमित्र- जो सभी का मित्र है विश्व का मित्र है वह विश्वामित्र है *"विश्वामित्रः सर्वमित्रः विश्वस्य ह वै मित्रं ....." (ऐ. ६।२०)* देवों की अर्थात दिव्य गुणों की प्राप्ति करने वाला जो है वह देवापि है *"देवापिर्देवानामाप्त्या,* तीर्णतम को त्रित कहेंगे जो तीन प्रकार के अज्ञान को नष्ट कर दिया मेंधा बुद्धि से *त्रितस्तीर्णतमो मेधया" (निरु.)* वाजभृत भारद्वाज= वाजों का का अनाज का अन्न आदि का जो बल धारण करने वाला है *"भरद्वाजस्य वाजभृतः" (आर्षेय ब्रा. १।२।१।२।२)* यही पर ही संसार में मोक्ष को जो प्राप्त हो जाता है उसको अत्रि कहते हैं *"अत्रिरत्रैव तृतीयमृच्छतेः" (निरु.)* छन्द इसलिए कहलाते हैं वो अर्थो को ढक करके रखता है वाक्यों में *"छन्दांसि छादनात्" (निरु. ७।१३)* उसने छांन लिया उसको घेर लिया *"अच्छादयंस्तस्माच्छन्दांसि" (शत. ८।५।२।१) (निरु. ७।१२)* जिस कारण से रो दिया इसलिए उसे रुद्र कहते हैं *"यदरोदीत् तस्माद् रुद्रः" (शत. ६।१।३।१०)* मनन करने

योग्य होने से मंत्र है वो *"मन्त्रा मननात्"* प्राण ही रुद्र हैं क्योंकि प्राण निकलते ही सबको रुला देता है *"प्राणा वै रुद्रा प्राणा हीदं सर्वं रोदयन्ति" (जै. उ. ४।२।६)* तो जैसे यहाँ अर्थ देखा जाता है ऐसा ही वेद में प्रयुक्त हुए अन्य अर्थ भी है जो सार्थक हैं ज्ञान पूर्वक हैं, ये सिद्ध होता है ॥२॥

संज्ञाया ज्ञानपूर्वकत्वं तूक्तमथ कर्मणोऽपि ज्ञानपूर्वकत्वं निदर्शयति –

बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥३॥

(ददातिः बुद्धिपूर्वः) ददातिरिति धातुनिर्देशे यद्वा धात्वर्थे श्तिप् प्रत्ययान्तः प्रयोगः । ददातिर्दानप्रकारः स च वेदे बुद्धिपूर्वो ज्ञानपूर्वको विद्यते तेनापि तद्विहितकर्माणि स्वीकर्त्तव्यानि, तद्यथा "अहं भूमिमददामार्याय" (ऋ. ४।२६।२) "अहं दाशुषे विभाजामि भोजनम्" (ऋ. १०।४८।१) भूमिदानमार्याय श्रेष्ठाय वीराय, श्रेष्ठ आर्यो वीरो हि भूमेः परिष्कारं शासनं च कर्तुं शक्नोति नाश्रेष्ठोऽवीरो निर्बलः । भोजने कृतकर्मणोऽधिकारस्तस्मात् यथायोग्यं तद्विभजनम्, इति बुद्धिपूर्वं दानं भूमेर्विभाजनं स्पष्टमेव ॥३॥

वेद में जो नाम हैं वे ज्ञान पूर्वक हैं ये कह दिया अब उसमें जो कर्म बताए गए हैं वे भी ज्ञान पूर्वक हैं, उसको अब बताते हैं-

बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥३॥

सूत्रार्थः- वेद में दान देना आदि कर्मों का विधान भी ज्ञान पूर्वक है ॥३ ॥

भाष्यार्थः- *(ददातिः बुद्धिपूर्वः)* देना भी बुद्धि पूर्वक है धातु के भाव जो जब बताया जाता है तो उसमें श्तिप् प्रत्यय लगाया जाता है वह अर्थ नहीं देता केवल भाव देता है (जैसे कृ धातु के केवल करना अर्थ को बताना है)। धातुओं में क्त और श्तिप् प्रत्यय लगाए जाते हैं । ददाति= 'दा' धातु के निर्देश में अथवा धातु के अर्थ में श्तिप् प्रत्यय का यहाँ प्रयोग है, दादति अर्थात दान का जो भेद है प्रकार है और वह वेद में बुद्धि पूर्व अर्थात ज्ञान पूर्वक है, उस कारण से, इसलिए उसमें जो विहित कर्म हैं=जिन कर्मों का विधान किया है करने का । उसको स्वीकार करना चाहिए, जैसे कि वह 'मैंने आर्यों को भूमि प्रदान किया है' *"अहं भूमिमददामार्याय" (ऋ. ४।२६।२)'* मैंने दान देने वाले को=पुरुषार्थ करने वाले को भोजन का विभाजन किया है, जिसका जैसा पुरुषार्थ है उसको वैसा ही भोग कराया है' *"अहं दाशुषे विभाजामि भोजनम्" (ऋ. १०।४८।१)* यहाँ भूमि के दान का जो संबंध बताया है वह आर्यों से श्रेष्टों से वीरों से बताया है, क्योंकि जो आर्य है वीर है श्रेष्ठ है वही भूमि का परिष्कार=ठीक ठाक करना, खेती आदि

के योग्य बनाना और फिर उस पर शासन करना, दुष्टों का दलन आदि करने में वही समर्थ होता है, निर्वल अश्रेष्ठ जो वीर नहीं है वो भी ऐसा नहीं कर सकता है। भोजन में जो होता है कर्म को जिसने पूर्ण किया है उसका अधिकार है इसलिए भोजन भोग्य का विभाजन भी यथायोग्य है उसके अनुरूप ही हैं यहाँ पर, इसलिए दान जो है यहाँ पर बुद्धि पूर्वक है इसी तरह से भूमि का जो विधान कहा है वो भी स्पष्ट है आर्यों का नाम लिया है ये दस्युओं का नहीं है ॥३॥

तथा प्रतिग्रहः ॥४॥

(तथा प्रतिग्रहः) तथैव प्रतिग्रहो दानस्वीकारो योग्यादानाभिलाषोऽपि बुद्धिपूर्वो ज्ञानपूर्वको वेदे खलूपलभ्यते तेनपि तद्विहितकर्माणि स्वीकर्त्तव्यानि 'तद्यथा'– "वर्चो विज्ञानमाददे" (अथर्व. ७।१२।३) वर्चो विज्ञानं तु सर्वेभ्यः सर्वैः प्रतिग्राह्यमादेयं स्वीकार्यं वा। तथा च "मोघमन्नं विन्दतेऽप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" (ऋ. १०।११७।६) अत्र 'अहम्' पदं भिक्षोर्वचनं स्वात्मप्रदर्शनार्थं प्रतिग्रहाकांक्षायां साक्षात् खल्वदातारं निन्दति, "पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत् पन्थाम्" (ऋ. १०।११७।५) भिक्षुरेव प्रतिग्रहाय दानादानार्थं दातारं प्रेरयति ॥४॥

तथा प्रतिग्रहः ॥४॥

सूत्रार्थः- वैसे ही दान लेना भी वेद में बुद्धि पूर्वक बतलाया गया है अर्थात हम पात्र हैं इसलिए हमको दान दो ॥४॥

भाष्यार्थः- *(तथा प्रतिग्रहः)* दान स्वीकारो ऐसे प्रतिग्रह अर्थात दान का स्वीकार करना भी योग्य से लेने की जो अभिलाषा है वो प्रतिग्रह भी बुद्धि पूर्वक ही है, वेद में उपलब्ध होता है इसलिए वेद में कह दिया है तो उसे स्वीकार करना चाहिए (क्योंकि वेद लेना और देना दोनों ही बुद्धि पूर्वक कह रहा है) और ऐसा ही करने से लोक में अभीष्ट की सिद्धि होती है। उदाहरण दे रहे हैं- वर्चस को प्राप्त करो विज्ञान को प्राप्त करो (अब इन दोनों की प्राप्ति में सुखद परिणाम आता है) *"वर्चो विज्ञानमाददे" (अथर्व. ७।१२।३)* वर्च=तेज बल आदि जो भी है ज्ञान बुद्धि आदि सभी से सबों से ले लेना चाहिए, स्वीकार कर लेना चाहिए और पाप रूप अन्न को प्राप्त होता है विना सोचे ग्रहण करने वाला मूर्ख व्यक्ति। ऐसा मैं सत्य कह रहा हूँ निश्चय से उसका वध होता है क्योंकि वह अपने स्वामी को भी पुष्ट नहीं करता है न अपने मित्रों का पोषण करता है अपने आप खाता है इसलिए वह पाप का खाने वाला होता है (अकेला स्वार्थ के लिए सभी भोगों का उपभोग करता है न अपने समान वालों को देता है और जिसको वस्तु है उसके प्रति

कृतज्ञता प्रकट करता है इस प्रकार से वह पापी हो जाता है) *"मोघमन्नं विन्दतेऽप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" (ऋ. १०।११७।६)* यहाँ 'अहम' जो पद है दान स्वीकार करने वाले का है वह अपने आप को बताने के लिए लेने की भावना में साक्षात स्वयं देने वाले को लेने वाले की निंदा करता है मैं वैसा नहीं हूँ अकेला खाने वाला नहीं हूँ अन्यों का उपकार करता हूँ। जो बढ़ने का उत्सुक है आगे बढ़ने वाला है उसको तृप्त करना चाहिए वो लंबे मार्ग को देखे लंबी आयु को प्राप्त होवे *"पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनुपश्येत् पन्थाम्" (ऋ. १०।११७।५)* भिक्षु ही दान को लेने के लिए स्वीकार के लिए कह तो स्वयं रहा है लेकिन मैं अनुचित के लिए नहीं मांग रहा हूँ ऐसा कहके दाता को प्रेरित कर रहा है ॥४॥

दानादिकर्मणः फलं तत्कर्ता भुंक्ते, इति दर्शयति –

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥५॥

(आत्मान्तरगुणानाम्) आत्मान्तरस्यान्यस्यात्मनो गुणानां पुण्यपापकर्मसम्भूतधर्माधर्माणाम् (आत्मान्तरे) अन्यस्मिन्नात्मनि (अकारणत्वात्) फलं प्रदातुमकारणं भवति तस्मात्तेषामन्यस्मिन्नकारणत्वादन्येन कृतस्य कर्मणः फलं नान्यो भुंक्ते किन्तु स्वकृतस्य हि फलं भुंक्ते । यथा च तत्रान्तरे कथितम् "शास्त्रदेशित फलमनुष्ठातरि" ॥५॥

दान जो देने या लेना होता है वो लेने वाला और देने वाला ही उसका फल प्राप्त करता है। इसको दिखते हैं-

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थ:- एक आत्मा के द्वारा किए गए धर्माधर्म के कर्मों का दूसरी आत्मा को फल देने में कारण न होने से कर्म कर्ता ही स्वयं फल को भोगता है ॥५॥

भाष्यार्थ:- *(आत्मान्तरगुणानाम्)* आत्मान्तर अर्थात अन्य आत्मा के गुणों का पुण्य पाप के रूप में हुए धर्म या अधर्मों का *(आत्मान्तरे)* दूसरे आत्मा में *(अकारणत्वात्)* फल प्रदान करने की स्थिति नहीं होती है इसलिए उनमें अन्य के किये हुए कर्मों का फल अन्य=दूसरा नहीं भोगता है किन्तु अपने ही किए हुए का फल प्राप्त करता है। जैसे कि दूसरे शास्त्र में कहा *"शास्त्रदेशित फलमनुष्ठातरि"* शास्त्र में जो विधान किया है उसके आचरण का जो फल होता है वो अनुष्ठाता को ही होता है दूसरे को नहीं होता है। (उस कर्म से उपलब्ध परिणाम तो किसी को भी हो जाएगा फल नहीं होगा उदाहरण के लिए जैसे खेत में कार्य करता हुआ मजदूर खेती से फसल आ रही है उस फल को तो कोई भी खा सकता है लेकिन जो मजदूरी है वह किसी और की नहीं होगी जो काम कर रहा है उसी की होगी, मजदूरी फल है। ऐसा जो फल होता है वह केवल कर्ता को

मिलता है अर्थात जिसने फल को ले करके कर्म को आरंभ किया था वो कर्ता होता है उसका) ॥५॥

तद् दुष्टभोजने न विद्यते ॥६॥

(तद् दुष्टभोजने न विद्यते) 'तत्' शब्देन पुण्यं फल परामृशति तत् पुण्यफलं कल्याणकरं दुष्टभोजने दुष्टानां भोजने पात्रत्वेन दुष्टानां भोक्तृणां भोजने प्रदानकर्मणि तथा दुष्टानां भोजनस्वामिनां दातृणां भोजनविधाने भोजनस्वीकरणे तथा दुष्टभोजनपदार्थप्रदाने न विद्यते नास्ति ॥६॥

तद् दुष्टभोजने न विद्यते ॥६॥

सूत्रार्थ:- पुण्य फल दुष्ट भोजन में नहीं होता (खाने वाले और खिलाने वाले दुष्ट खाद्य होने पर भी वह पुण्य फल नहीं मिलता है) ॥६॥

भाष्यार्थ:- *(तद् दुष्टभोजने न विद्यते)* 'तत्' शब्द से यहाँ जो पुण्य फल प्राप्त होता है एक आत्मा को पुरुषार्थ करने से धर्माचरण करने से जो फल होता है वह पाप हो जाने पर अर्थात दुष्ट कर्म हो जाने पर और जो पुण्य फल है कल्याण करने वाला है दुष्ट भोजन में= दुष्टों का जो भोजन है यहाँ पत्र रूप में जो दुष्ट है जो भागने वाला है उसको नहीं मिलता है और प्रदान करने वाले जो दुष्ट हैं उनको भी नहीं मिलता है वह जो पुण्य होना है दुष्ट भोजन में नहीं होता है दुष्टों के भोजन का जो स्वामी है या उसका जो देने वाले है उसके देने के विधान में और उस भोजन को जो ले रहा है या भोजन ही दुष्ट है उसको जो ले और दे रहा है वो पुण्य फल प्राप्त नहीं होता है पाप हो जाता है उसमें ॥६॥

किं तद् दुष्टत्वमित्युच्यते –

दुष्टं हिंसायाम् ॥७॥

(हिंसायां दुष्टम्) हिंसायां दुष्टं भवति भोजनम्, हिंसकाय भोजनप्रदानं हिंसकस्य भोजयितुर्भोजनप्रतिग्रहणं हिंसाकृतभोजनं दुष्टमनुचितं भवति, तद्दानं प्रदातुः प्रतिग्रहीतुश्च न पुण्यफलप्रदायकमित्यर्थः ॥७॥

वो दुष्टता क्या है वहाँ पर उसको कहते हैं-

दुष्टं हिंसायाम् ॥७॥

सूत्रार्थ:- हिंसा में दोष होता है ॥७॥

भाष्यार्थ:- *(हिंसायां दुष्टम्)* हिंसा से सम्बद्ध हो जाने पर भोजन दुष्ट हो जाता है, हिंसक व्यक्ति के लिए भोजन देना उसको भोजन प्रदान करने में भी दुष्टता रहेगी और हिंसक

व्यक्ति से भोजन लेने में दोष रहेगा और जो हिंसा करके ही बनाया गया भोजन है वो दुष्ट है अनुचित है। देने और ग्रहण करने वाले दोनों के लिए पुण्य फल देने वाला नहीं होता पाप होगा ॥७॥

तस्य समभिव्याहरतो दोषः ॥८॥

(तस्य समभिव्याहरतः) तस्य हिंसाजन्यभोजनस्य समभिव्याहराद् यथाकथञ्चिदपि व्यवहारात् क्रयानयनपरिवेषणपाचनरूपात्, तस्य हिंसकजनस्य भोक्तुः प्रदातुश्च समभिव्यवहारादेकासनवासविवाहादिव्यवहारात् (दोषः) दोषो भवति शुभफलस्य तु का कथा ॥८॥

तस्य समभिव्याहरतो दोषः ॥८॥

सूत्रार्थ:- दुष्ट भोजन के किसी भी प्रकार के व्यवहार से लाना पकाना आदि में दोष ही होता है पुण्य नहीं ॥८॥

भाष्यार्थ:- *(तस्य समभिव्याहरतः)* उस हिंसा जन्य दोष का कुछ व्यवहार करने पर खरीद करके लाना, खरीदना, बांटना, पकाना आदि रूप में हिंसा जन्य भोजन को खाने वाला, उसको देने वाला, खिलाने वाला उसके साथ उठने बैठने से विवाह आदि संबंध बनाने से (साथ साथ बैठने और संबंध रखने से) *(दोषः)* भी दोष होता है दोषी के साथ रहने पर। दोषी को शुभ फल तो मिलेगा नहीं ॥८॥

तददुष्टे न विद्यते ॥९॥

(तत् अदुष्टे न विद्यते) दुष्टभोजनाद्भिन्नं यददुष्टभोजनं तस्मिन्नदुष्टभोजने न विद्यते दोषःसमभिव्याहरात् । अहिंसाजन्यभोजनेऽहिंसकाय भोजनप्रदाने अहिंसकस्य भोजन प्रतिग्रहे न दोषोऽपितु शुभफलमेंव ॥९॥

तददुष्टे न विद्यते ॥९॥

सूत्रार्थ:- शुद्ध भोजन में लेने और देने वालों को भी दोष नहीं लगता बल्कि पुण्य मिलता है ॥९॥

भाष्यार्थ:- *(तत् अदुष्टे न विद्यते)* दुष्ट भोजन से भिन्न जो अदुष्ट भोजन है शुद्ध भोजन है हिंसा संबन्धित भोजन नहीं है उसके साथ व्यवहार करने में दोष नहीं होता है। अहिंसा जन्य भोजन में अहिंसकों को भोजन देने में और अहिंसकों से भोजन लेने में दोष नहीं होता है अपितु उसको अच्छा फल ही मिलता है ॥९॥

अज्ञानाद् दुष्टं जनं भोजयित्वा पुनः किं कार्यमित्युच्यते –

पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥१०॥

(पुनः विशिष्टे प्रवृत्तिः) पुनः स्वस्माद्विशिष्टगुणसम्पन्ने पवित्राचारसंयुक्ते भोक्तरि प्रवृत्तिर्विधेया स एतादृशो जनो भोजयितव्यः ॥१०॥

अब कह रहे हैं कि अज्ञानता में दोष हो गया तो उस समय क्या करना चाहिए? इसको कहते हैं-

पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥१०॥

सूत्रार्थ:- यदि किसी दुष्ट को अज्ञानता से भोजन खिला दिया गया तो, फिर किसी उत्तम व्यक्ति को भी भोजन देना चाहिए ॥१०॥

भाष्यार्थ:- *(पुनः विशिष्टे प्रवृत्तिः)* जिसको दिया था उसी से या अपने से बड़ा जो हो उसके सम्पन्न होने पर पवित्र आचरण से युक्त होके जो भोगता है उसके प्रति व्यवहार कर लेना चाहिए, ऐसे को भोजन या दान दे देना चाहिए ॥१०॥

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥११॥

(समे हीने वा प्रवृत्तिः) स्वस्माद्विशिष्टानुपलब्धौ सत्यां समे स्वसमानगुणचारयुक्ते प्रवृत्तिर्विधेया तदभावेऽपि हीने स्वस्माद्गुणहीने-ऽप्यदुष्टे जने प्रवृत्तिर्विधेया ॥११॥

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥११॥

सूत्रार्थ:- यदि उत्तम व्यक्ति न मिले तो अपने समान स्तर के अथवा न्यून स्तर के धार्मिक व्यक्ति को दान देना चाहिए, पर दुष्ट को नहीं ॥११॥

भाष्यार्थ:- अपने से ऊंचा उपलब्ध न होने पर तो अपने जैसा आचरण करने वाले के प्रति व्यवहार करना चाहिए यदि बराबर वाला नहीं मिला तो अपने से कम गुण वाला भी हो लेकिन अधार्मिक नहीं है उसके साथ प्रवृत्ति व्यवहार=संबंध कर लेना चाहिए ॥११॥

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥१२॥

(एतेन) प्रदानप्रकारेण विशिष्टाभावे सति (हीनसमविशिष्टधर्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम्) हिनात् समाद् विशिष्टात् पुनर्धार्मिकात् परधनप्रतिग्रहो व्याख्यातो विज्ञेयः । प्रथमं विशिष्टात् तदभावे समात् तदभावे च हिनादपि धर्मिकाद्दानं ग्राह्यम् ॥१२॥

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥१२॥

सूत्रार्थ:- इस पूर्वोक्त दान प्रक्रिया अनुसार अधिक और कम धार्मिक से भी दान लेना चाहिए ॥१२॥

भाष्यार्थ:- *(एतेन)* दान के प्रकार में विशेषता के न मिलने पर *(हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम्)* दान देते समय विशिष्ट व्यक्ति के न मिलने पर हीन को या कम वाले को या विशिष्ट को लेकिन वह धार्मिक होना चाहिए उसको दूसरे से धन लेना रूप कार्य करना चाहिए, ऐसी व्याख्या समझनी चाहिए। पहले तो विशिष्ट से ही लेवे उसके अभाव में समान से उसके भी अभाव होने पर हीन से लेले धार्मिक को ही देखना चाहिए भले ही धनी नहीं है लेकिन धार्मिक होना चाहिए, अधार्मिक धनी से नहीं लेना चाहिए ॥१२॥

तथा विरुद्धानां त्यागः ॥१३॥

(तथा विरुद्धानां त्यागः) तथैव विरुद्धानामधर्मिकानां धनादानत्यागः कार्यः, तत्र त्यागे प्रातिलोम्यं विधेयं पूर्वं हीनस्यादानत्यागः पश्चाद् समस्यादानत्यागः पुनर्विशिष्टस्यादानत्यागः कार्यः। सत्यापत्तिकाले कस्याप्यादानत्यागो न विधेयः ॥१३॥

तथा विरुद्धानां त्यागः ॥१३॥

सूत्रार्थ:- उसी प्रकार से अधार्मिकों का दान नहीं लेना चाहिए ॥१३॥

भाष्यार्थ:- *(तथा विरुद्धानां त्यागः)* वैसे ही विरुद्ध अधार्मिक व्यक्तियों का धन का ग्रहण त्याग कर देना चाहिए, उस त्याग में विपरीत क्रम से विधान करना चाहिए, पहले हीन का आदान त्यागना चाहिए पश्चात समान का आदान त्यागना चाहिए फिर विशिष्ट का आदान त्याग करना चाहिए आपत्ति काल उपस्थित होने पर किसी का भी आदान त्यागना नहीं चाहिए ॥१३॥

*हीने परत्यागः * ॥१४॥*

(हीने परत्यागः) तथैवापत्तिकाले स्वस्मिन् परस्मिंश्च धर्मिके जने बुभुक्षिते प्राप्ते प्राणसंशये च हीने परत्यागः परस्य भोजनत्यागः परो ही जनो भोजनात् पृथक् कर्त्तव्यः, यद्वा हीने परे त्याग इति पाठे परेऽत्यागः, तन्निमित्तं स्वभोजनस्य त्यागो न कर्त्तव्यः ॥१४॥

हीने परत्यागः * ॥१४॥

सूत्रार्थ:- आपत्ति काल में सामने यदि कम योग्य व्यक्ति हो तो दूसरे कम योग्यता वाले व्यक्ति को भोजन छोड़ देना चाहिए ॥१४॥

भाष्यार्थ:- *(हीने परत्यागः)* वैसे ही आपत्ति काल में अपने और दूसरे धार्मिक व्यक्ति में भूख प्राप्त होने पर और प्राण संशय होने पर भी हीन का परित्याग=दूसरे के लिए

भोजन त्याग करना चाहिए दूसरे व्यक्ति ही भोजन से पृथक करना चाहिए अथवा 'हीन परे त्यागे' इस पाठ में "*परेऽत्यागः* " उसके निमित्त अपने भोजन का त्याग नहीं करना चाहिए ॥१४॥

समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥१५॥

(समे) स्वसमानगुणयुक्ते धर्मिके जने प्राप्ते प्राणसंशये बुभुक्षिते (आत्मत्यागः) स्वभोजनस्य त्यागः कर्त्तव्यो यद्वा (परत्यागः) परस्य भोजनत्यागः कार्यः । न वैशिष्ट्यमस्ति पुण्यफलप्राप्तौ ॥१५॥

समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥१५॥

सूत्रार्थ:- यदि दो समान व्यक्ति हो तो आपत्ति काल में कोई भी भोजन छोड़ दे ॥१५॥

भाष्यार्थ:- अपने समान गुण से युक्त धार्मिक व्यक्ति में भूख से प्राण संशय प्राप्त होने पर अपने भोजन का त्याग कर देना चाहिए अथवा पर के भोजन का त्याग कर देना चाहिए। पुण्य फल की प्राप्ति में कोई विशेषता नहीं है ॥१५॥

परन्तु –

विशिष्टे आत्मत्याग इति ॥१६॥

(विशिष्टे) स्वस्माद् गुणविशिष्टे धर्मिके जने तु (आत्मत्यागः) आत्मनो भोजनत्यागो विधेयः । सत्यापत्तिकाले भोजनमन्तरेण प्राणसंशये (इति) प्रकारे खल्वेतादृशेऽवसरे यथायोग्यमनुष्ठेयम् ॥१६॥

परंतु-

विशिष्टे आत्मत्याग इति ॥१६॥

सूत्रार्थ:- यदि अपने से अधिक धार्मिक गुणवान व्यक्ति हो तो आपत्ति काल में उसके लिए अपना भोजन छोड़ देना चाहिए ॥१६॥

भाष्यार्थ:- *(विशिष्टे)* अपने से विशिष्ट गुण वाले धार्मिक जन में तो *(आत्मत्यागः)* अपने भोजन का त्याग कर देना चाहिए। आपत्ति काल में भोजन के बिना प्राण संशय में *(इति)* इस प्रकार के अवसर में यथायोग्य अनुष्ठान करना चाहिए ॥१६॥

---------------------- o ------------------------------

**। 'परेत्यागः' अन्येषां मुद्रितपुस्तकानां पाठः सूत्रक्रमेंण तु 'परत्यागः' पाठः स्यात्, यथा 'समें आत्मत्यागः परत्यागो वा' सूत्रे ।*

प्रथमाह्निकं समाप्तम्

षष्ठाध्यायः - द्वितीयाह्निकम्

सामान्येन वैदिककर्मण्यात्मघटकानि प्रदर्श्येदानीं विशिष्टकर्मणां तत्फलानां च विषयः प्रोच्यते–

दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥१॥

(दृष्टादृष्टप्रयोजनानाम्) दृष्टादृष्टे फले, प्रयोजनं तु कर्म, करणार्थे ल्युट् प्रत्ययः। दृष्टादृष्टे फले, प्रयुंक्ते – उपभुंक्ते एभिस्तानि कर्माणि, दृष्टादृष्टयोः फलयोः प्रयोजनानि प्रयोगनिमित्तान्युपभोगसाधनानि कर्माणि । तेषां दृष्टादृष्टफलोपभोगनिमित्तानां कर्मणांदृष्टादृष्टफलप्रदकर्मणाम् (दृष्टाभावे) दृष्टफलाभावे साम्प्रतिकफलाभावे साम्प्रतिकफलाप्राप्तौ (प्रयोजनम्) तथाविधं फलनिमित्तं कर्म (अभ्युदयाय) अभिमुखीभूताय भाविने खलूदयायोत्कर्षाय भवति खल्विह जन्मनि परजन्मनि वा निष्पत्स्यमानाय कल्याणाय भवति। दृष्टं फलं सद्यस्तनम्, अदृष्टं चिरेणनिष्पत्स्यमानम् ॥१॥

पिछले आह्निक में व्यक्तिगत कर्म के विषय में बताया, स्वयं को किन किन परिस्थितियों में क्या क्या करना चाहिए । अब सामाजिक स्थितियों को देख कर के क्या करना चाहिए क्या नहीं करना चाहिए- उस विषय में कहते हैं – वैदिक कर्म जो अपने से आचरित होने वाले हैं उसको दिखाकर के अब जो विशेष कर्म हैं और जो उनके विशेष फल हैं उस वैश्य को कहते हैं -

दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥१॥

सूत्रार्थ:- दृष्ट और अदृष्ट फल दायक कर्मों का तत्काल फल प्राप्ति न होने पर वह कर्म भविष्य में फल देने के लिए कारण होता है ॥१॥

भाष्यार्थ:- *(दृष्टादृष्टप्रयोजनानाम्)* जिसका फल दृष्ट और अदृष्ट है, ऐसे जो प्रयोजन कर्म है, यहाँ करने अर्थ में 'ल्यूट' प्रत्यय हुआ है । दृष्ट और अदृष्ट फल प्रयुक्त होते हैं उपभुक्त होते हैं जिनके द्वारा ऐसे कर्म दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन का जो फल है प्रयोग का जो निमित्त है उपभोग के जो साधन हैं= जिन कर्मों का दृष्ट और अदृष्ट फल प्राप्त होता है, ऐसे कर्मों का *(दृष्टाभावे)* यदि दृष्ट फल नहीं मिल रहा है ऐसी स्थिति में वर्तमान में उसका फल न मिलने पर तत्काल फल न मिलने पर*(प्रयोजनम्)* उस प्रकार के फल का निमित्त जो कर्म होता है *(अभ्युदयाय)* वह अभिमुखी भूत वाला हो जाता है भविष्य में उत्कर्ष देने वाला हो जाता है अर्थात इसी जन्म में या अगले जन्म में कल्याण करने

वाला हो जाता है। तत्काल जो फल होता है वह दृष्ट है और अदृष्ट कर्म देर से फल पूर्ण करता है॥१॥

तत्रादृष्टफलकानां कर्मणामुदाहरणानि दीयन्ते –

अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय॥२॥

(अदृष्टाय) अदृष्टफलाय चिरेण चिरतरेण चिरतमेन कालेन फलाय कल्याणायास्मिन् परस्मिन् जन्मनि जन्मोपरमें च सन्ति । के ते ?, उच्यन्ते (अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रम-न्त्रकालनियमाः च) यथावचनं विग्रहस्तत्र – अभिषेचनं नित्यशुद्धजलेन स्नानम्, उपवासः पापादुपरम्य गुणैः सहवासः, ब्रह्मचर्यमुपस्थेन्द्रियसंयमः, गुरुकुलवासो गुरुकुले विद्याध्ययनार्थो वासः, इत्येतानि कर्माणि ब्रह्मचारिणोऽदृष्टफलाय । वानप्रस्थसेवनं वानप्रस्थाश्रमिणः । यज्ञदाने तथा प्रोक्षणं व्रीह्यादीनां धान्यानामाम्रादीनां वृक्षाणांच सिञ्चनं दिगुपयोगः पूर्वाभिमुखोपवेशनादौ कर्मणि, नक्षत्रापयोगो नामकरणादिसंस्कारे, मन्त्रो मन्त्रजपः, कालो वसन्तादिर्दीक्षायामिति गृहस्थकर्माणि, नियमाः शौचसन्तोषादयः पञ्च संन्यासिनः कर्माणि, चकारेणावशिष्टानि योगङ्गानि समाधिपर्यन्तानि कर्माणि मुमुक्षूणां सन्ति । तान्येतानि खल्वदृष्टफलाय चिरेणास्मिन् जन्मनि चिरतरेण वा परजन्मनि चिरतमेंन वा जन्मोपरमेंऽपवर्गे मोक्षे॥२॥

कौन से वो अदृष्ट कर्म वाले फल हैं जिनका आगे जाके फल मिलता है-

अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय॥२॥

सूत्रार्थ:- अभिषेचन आदि कर्म अदृष्ट फल देने वाले होते हैं, इसी जीवन में भविष्य में अगले जन्म में व मोक्ष में फल देने वाले होते हैं॥२॥

भाष्यार्थ:- *(अदृष्टाय)* अदृष्ट फल के लिए बहुत देर से उससे भी देर से बहुत विलंव से काल में जो फल देने के लिए कल्याण करने के लिए वह उस जन्म में या अगले जन्म में अथवा कई जन्मों के बाद जो फल देते हैं वे कर्म कौन कौन से होते हैं? वे कहे जाते हैं- *(अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रम-न्त्रकालनियमाः च)* एक एक करके इनका पद्छेद कर लेना चाहिए- अभिषेक, उपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुल वास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान, प्रोक्षण, दिक, नक्षत्र और मंत्र ये सब काल नियम अदृष्ट के लिए होते हैं। प्रतिदिन शुद्ध जल से स्नान करना इसका जो फल होता है वह अदृष्ट के लिए होता है। उपवास= पाप से रुकना (भोजन छोड़ना नहीं अपितु पाप की प्रवृती से रुकना, भोजन छोड़ने से तो व्यक्ति रुक जाता है कार्य नहीं कर पाता है,

पाप को कुछ अंश में रोकने में सहायक है उपवास) धर्म के निकट वास करना या पाप से उपरत होना, गुणों को धारण करने की अवस्था बना लेना है वह उपवास है,(एक दिन में उसका फल नहीं मिलता लेकिन आगे-आगे उसका फल बनता जाता है) । ब्रह्मचर्य=उपस्थेंद्रिय का संयम करना, ये भी भावी काल में या अगले जन्म में फल देता है । गुरुकुल में रहना= विद्यालय रह जाना, उस वास का विशेष फल मिलता है । ये कर्म जो होते हैं ब्रह्मचारियों के अदृष्ट फल देने वाले होते हैं । वानप्रस्थ= वानप्रस्थ का सेवन वानप्रस्थियों को उत्तम फल देने वाला होता है । यज्ञ में दान करना और चावल आदि को धो करके खाना, फल और फूल दार वृक्षों में पानी देना जिससे उनका जीवन आगे बढ़े ये भी उत्तम कर्म होता है आगे फल देने वाला होता है । दिक= पूर्व की ओर बैठ करके संध्या उपासना करना । नक्षत्र= नक्षत्र में नामकरण अर्थात समय का ज्ञान ठीक ठीक होना चाहिए उत्तम काल का ज्ञान होना चाहिए, मंत्र= मंत्र का जप आदि करना अर्थ पूर्वक हो तो और अधिक फल देगा, वसंत आदि काल में शुभ अनुष्ठान करना, दीक्षा लेना उपनयन आदि करना ये उत्तम काल होता है । वसंत काल में ही गृहस्थ को धारण करने वाला पुरोहित आदि से अग्नि लाता है । नियम= शौच आदि का पालन करना ये सन्यासियों के कर्म होते है वो भी अदृष्ट फल देने वाला होता है । ‘चकार’ से जो यम है योग के जो अंग है समाधि पर्यंत इन सभी का आचरण करना मुमुक्षुओं के जो कर्म हैं ये सभी आगे चल करके उत्तम फल देंगे । तो इस जन्म में दे सकता है या अगले जन्म में अथवा अगले से अगले जन्म में फल दे सकता है या फिर मोक्ष के बाद देगा ये फल ॥२॥

तत्र –

चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ॥३॥
भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा ॥४॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति–

(चातुराश्रम्यम्) पूर्वानन्तरसूत्रे यदभिषेचनादिकं चातुराश्रम्यं कर्मविधानमुक्तं तत्रोपधानुपधाभेदाद् द्वैविध्यं विज्ञेयम् । तत्र तथाविधेषु कर्मसूपधाश्चानुपधाश्च भवन्ति । तत्र (भावदोषः -उपधाअदोषः -अनुपधा) भावनादोषः–अश्रद्धा नास्तिक्यं भ्रमोऽज्ञानं तूपधाऽर्थादन्तःकरणस्योपरिधानमावरणम् । अदोषः श्रद्धाऽऽस्तिकताऽध्यवसायो ज्ञानमनुपधाऽर्थात् सौमनस्यम् । उपधायामधर्मोऽनुपधायां धर्मो भवति ॥३-४॥

चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ॥३॥

भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा ॥४॥

दोनों सूत्रों की एक वाक्यता होती है-

सूत्रार्थ:-पूर्वोक्त चारों आश्रमों के कर्मों में उपधा और अनुपधा दोनों होते हैं, उपधा का अर्थ है भावना का दोष अश्रद्धा नास्तिकता आदि, अनुपधा का अर्थ है श्रद्धा आस्तिकता आदि भावना का शुद्ध होना ॥३-४॥

भाष्यार्थ:-*(चातुराश्रम्यम्)* पहले और दूसरे सूत्रों में चारों आश्रमों के जो कर्म कहे गए उपधा और अनुपधा इन दोनों भेदों से दो प्रकार के कर्म समझने चाहिए। उसी अवस्था में उसी प्रकार से कुछ उपधा वाले और कुछ अनुपधा वाले होते हैं। वहाँ *(भावदोषः -उपधाअदोषः -अनुपधा)* भाव दोष हैं उन कर्मों में लेकिन कर्म तो करते रहते हैं लेकिन मन में संशय आदि बना रहता है, तो उसका भी परिणाम वहाँ आएगा। अच्छे कर्मों के अनुष्ठान में अश्रद्धा भ्रम नहीं होना चाहिए। श्रद्धा रखना आस्तिकता रखना निश्चय रखना ये निश्चयात्मक ज्ञान अनुपधा वाला होता है, अर्थात इन कर्मों का अनुष्ठान निश्चय पूर्वक और श्रद्धा पूर्वक करना चाहिए। यदि श्रद्धा आदि से युक्त होकर कर्म करते हैं तो धर्म होता है और श्रद्धा रहित होकर करते हैं तो द्वेष आदि अधर्म उसमें होता है ॥३-४॥

यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितं च तच्छुचि ॥५॥

(यत् इष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितम् अभ्युक्षितं च तत् शुचि) इष्टाः खलु वेदशास्त्रेषु वर्णिता येऽभीष्टा रूपरसगन्धस्पर्शा यस्य तथाभूतं वस्तु खल्विष्टरूपरसगन्धस्पर्शकं प्रोक्षितं संस्कृतेन यज्ञियेन जलेन सिक्तं पूर्वं चसामान्येन जलेन धौतं प्रक्षालितं यद् वस्तु भोज्यमुपयोज्यं वा तद् भवति शुचि पवित्रम् भोज्यमुपयोज्यं स्वार्थायान्यार्थाय वा ॥५॥

यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितं च तच्छुचि ॥५॥

सूत्रार्थ:- जो रूप रस गंध स्पर्श आदि गुणों वाला पदार्थ वेद में स्वीकृत है वह सामान्य जल से और विशेष जल से अच्छी प्रकार शुद्ध किया हो, ऐसा पदार्थ शुद्ध अर्थात पवित्र कहलाता है उसका सेवन करना चाहिए ॥५॥

भाष्यार्थ:-*(यत् इष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितम् अभ्युक्षितं च तत् शुचि)* वेदों में जिसका विधान कर दिया गया भोग करने का वो अभीष्ट कहलाते हैं रूप-रस-गंध-स्पर्श उस प्रकार की जो वस्तु है। जो रूप रस गंध स्पर्श वाली वस्तुएँ हैं उनको प्रोक्षित हो संस्कृत हो यज्ञीय जल से सिंचा हुआ हो पहले से और सामान्य जल से जो धोया हुआ प्रक्षालित हो, वह वस्तु भोज्य अर्थात उपभोग करने योग्य होता है, शुचि अर्थात पवित्र अर्थात भोज्य= भोग्य करने योग्य अपने लिए और दूसरों के लिए होता है ॥५॥

अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥६॥

(अशुचि इति शुचिप्रतिषेधः) अशुचि वस्तु भवति शुचिनो वस्तुनः प्रतिषेधः, वेदशास्त्रविरुद्धरूपरसगन्धस्पर्शवद् वस्तु संस्कृतजलासिक्तं साधारणेन जलेन चासिक्तं वा ॥६॥

अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥६॥

सूत्रार्थ:- शुचि के विरुद्ध अर्थात अवेदोक्त वस्तु अशुचि कहलाएगी। तथा वेदोक्त भी धोयी पोंछी न हो तो भी अशुचि कहलायेगी ॥६॥

भाष्यार्थ:- *(अशुचि इति शुचिप्रतिषेधः)* अशुचि वस्तु वह होती है जो शुचि वस्तु का प्रतिषेध है। वेद शास्त्र के जो विरुद्ध= उसमें जो विहित नहीं है, जो वस्तु रूप रस गंध स्पर्श वाली है और संस्कृत शुद्ध जल से सींची हुई न हो, साधारण जल से भी सींचा हुआ प्रोक्षित नही हो वो अशुचि है ॥६॥

अर्थान्तरं च ॥७॥

(अर्थान्तरं च) यत्खलु भोज्यमुपयोज्यं वा स्वार्थपरार्थश्चार्थान्तरं शास्त्रानुमोदितं रूपरसगन्धस्पर्शवत् प्रोक्षितमभ्युक्षितं सदपि भावदोषयुक्तं तदपि भवत्यशुचि । पूर्वं भावदोषोऽभिषेचनादीनां कर्मणां चरित्राणामुक्तः। अत्र भोज्योपयोज्यवस्तूनां भावदोषेणाशुचित्वमुच्यते ॥७॥

अर्थान्तरं च ॥७॥

सूत्रार्थ:- मानसिक क्रोध घृणा आदि से भी वेदोक्त और शुद्ध पदार्थ प्रस्तुत करने से वह पदार्थ अशुचि कहलाता है, जैसे श्रीकृष्ण जी ने दुर्योधन का भोजन ग्रहण नहीं किया था और विदुर जी के साधारण भोजन किए ॥७॥

भाष्यार्थ:- *(अर्थान्तरं च)* अब कोई भी वस्तु जो स्वरूप से तो शुचि हो वेद में विहित भी हो लेकिन फिर यदि हम वैसी भावना नही कर पाते है तो अशुचि हो जाती है। जो वस्तु भोज्य व उपभोग करने योग्य है, अपने लिए अथवा दूसरे के लिए अथवा शास्त्र से अनुमोदित या विहित हो रूप रस गंध स्पर्श वाली हो चाहे वह धुली हुई हो अभिसिंचित हो ऐसा होने पर भी द्वेष आदि से युक्त होने पर वह अपवित्र हो जाती है। (भोजन दिया किसी को और कहा "ले खाले" तो इस भाव से भोजन अशुद्ध हो जाता है) पहले तो भाव दोष अभिषिक्त वस्तुओं के कर्म में कहा था चरित्र के विषय में कहा था

। इस सूत्र में भोज्य वस्तुओं मे जो भावना दोष से उसके कारण से इन वस्तुओं में अशुचित्व कहा है ॥७॥

तथासत्यपि शुचि भोजने –

अयतस्य शुचि भोजनादभ्युदयो न विद्यते,
नियमाभावाद् विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य ॥८॥

*(शुचिभोजनात् अयतस्य अभ्युदयः न विद्यते) पूर्वोक्तात् खलु शुचिभोजनात् – सति शुचिभोजनेऽपि यमरहितस्याहिंसासत्यादिव्रतरहितस्य न विद्यतेऽभ्युदयः, अभिमुखी भूतो भावी खलूदय उत्कर्षः । (वा * अथ च नियमाभावात् विद्यते **) नियमानामभावाद् यमानाचरतो जनस्य विद्यतेऽभ्युदयः । यतः (यमस्य अर्थान्तरत्वात्) अहिंसासत्यादियमनामकस्य व्रतस्य भिन्नवस्तुत्वात्, तदपेक्षया खलूत्कृष्टवस्तुत्वात्। उक्तं हि मनुशास्त्रे "यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः । यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् । " (मनु . ४।२०४) ॥८॥*

वैसा न होने पर भी शुचि भोजन के विषय में बता रहे हैं-

अयतस्य शुचि भोजनादभ्युदयो न विद्यते,
नियमाभावाद् विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य ॥८॥

सूत्रार्थः- शुचि भोजन से यम रहित व्यक्ति का अभ्युदय नहीं होता, और कभी शौच आदि नियमों का पालन न होने पर भी यमों का पालन करने से उसका अभ्युदय हो जाता है । यमों में नियमों की अपेक्षा उत्कृष्ट्ता होने से ॥८॥

भाष्यार्थः- *(शुचिभोजनात् अयतस्य अभ्युदयः न विद्यते)* जो विशेष पुरुषार्थ शील नहीं है परिश्रम से जिसने उपार्जित नहीं किया है उसका शुचि पवित्र भोजन होने पर भी आगे उससे पुण्य नहीं होता है । किसलिए नहीं होता? क्योंकि वह नियम का पालन नहीं कर रहा है , किन्तु यम का यदि पालन कर रहा है फिर उसमें अभ्युदय= पुण्य होता है उसका भोजन ले लेना चाहिए । पहले जिसको भोजन शुचि कह दिया है वह शुचि भोजन पवित्र होने पर भी जो अहिंसा आदि का पालन नहीं करता है उसमें भावी पुण्य नही होता है, जो अभ्युदय होता है उसके भोजन से अभिमुखी भूत= आगे आने वाला जो अर्थात भावी उदय उत्कर्ष है वो नही होता है । और नियम के अभाव होने से उसमें उत्कर्ष नहीं होता है लेकिन यम को जो पालन नहीं करता है केवल नियम का पालन करता है उसका पवित्र भोजन भी अपवित्र होता है जबकि यम का पालन करता है नियम का नही करता तो उसका पवित्र भोजन पवित्र रहता है । नियम के अभाव में यम का पालन करने वाले का भोजन में अभ्युदय होता है । क्योंकि *(यमस्य*

अर्थान्तरत्वात्) अहिंसा सत्य आदि जो व्रत हैं नियमों से भिन्न होने के कारण नियम की अपेक्षा यम के उत्कृष्ट होने से। मनुस्मृति में कहा है - *"यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः । यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ।* " यमों का पालन करता है सतत करे नियमों का सतत पालन न भी हो तो भी कोई बात नहीं है विद्वान को यमों का पालन नित्य करना चाहिए। क्योंकि यम का पालन न करने वाला पतित हो जाता है वह केवल यदि नियमों का पालन करता रह जाता है तो भी। इसलिए यम का पालन करना आवश्यक है नियम की अपेक्षा से *(मनु . ४।२०४)* (वैसे दोनों का पालन करना चाहिए) ॥८॥

यतः –

असति चाभावात् ॥९॥

(असति च अभावात्) असति यमे यथाभावे खलु शुचि भोजनस्याभावादसम्भवात् । न हि यममन्तरेण शुचिभोजनं सम्भवति तस्मादभ्युदयो न भवति ॥९॥

क्योंकि-

असति चाभावात् ॥९॥

सूत्रार्थ:- यमों का ठीक पालन न होने पर शुचि भोजन भी असंभव होने से अभ्युदय नहीं होता ॥९॥

भाष्यार्थ:- *(असति च अभावात्)* यम के न होने पर जैसा भाव होना चाहिए उस अवस्था में पवित्र भोजन का अभाव संभव न होने से। यम के बिना भोजन पवित्र हो ही नहीं सकता है इसलिए पवित्रता के अभाव में अभ्युदय भी नहीं होता है ॥९॥

अहिंसादयस्तु भावगुणाः खलूक्ताः, अथ खलु भावदोषविषयं प्रदर्शयति –

सुखाद् रागः ॥१०॥

(सुखात् रागः) विषयसुखात् सुखसाधनाच्च तत्र भवति रागः । सति रागे विरुद्धेभ्यो द्वेषोऽपि भवतीत्युत्प्रेक्ष्यम् । रागद्वेषाभ्यां मोहो जायते मूढश्च पुनः रागद्वेषौ प्रतिपद्यते, रागद्वेषमोहा दोषास्ते प्रवर्तना लक्षणा दोषाः ॥१०॥

अहिंसा जो है भावात्मक गुण हैं इसको कह दिया, अब भावना दोष के जो विषय हैं जिस कारण से भावना दोष उत्पन्न होता है उसको बताते हैं-

सुखाद् रागः ॥१०॥

सूत्रार्थ:- सुख भोगने पर सुख से और सुख प्राप्ति के साधनॉ से आसक्ति हो जाती है ॥१०॥

भाष्यार्थ:- *(सुखात् रागः)* विषय सुख से अर्थात सुख के साधनों से उसमें राग होता है। और जहां पर राग हो जाएगा तो उससे विरुद्ध वाले में द्वेष भी हो जाएगा ऐसी ऊहा कर लेनी चाहिए। राग द्वेष उत्पन्न होने से मोह भी उत्पन्न होगा, और मोह मूढ़ हो जाने से अगला राग द्वेष उत्पन्न होगा नए विषयाओं में भी इस प्रकार से राग द्वेष और मोह ये दोष हैं इनके कारण जब प्रवृति होगी वह भी दोष हो जाएगी ॥१०॥

तन्मयाच्च ॥११॥

(तन्मयात् च) 'तत्' शब्देन रागो गृह्यते । रागमयाद् विषयसुखनाशे विषयसुखसाधननाशेऽपि तद्विषयको रागोऽवतिष्ठते तस्य तथाभूतस्य रागस्य कारणं पुनः पुनर्विषयसेवनाद् विषयसुखजन्यं रागमयव्यसनं रागसंस्कारप्राबल्य रागसंस्कारचित्रं यत् स्थिरीभवति तस्मादपि रागः प्रवर्तते, एव द्वेषमयाद् द्वेषसंस्कारचित्रात् पुनर्द्वेषोऽपि जायते ॥११॥

तन्मयाच्च ॥११॥

सूत्रार्थ:- राग और द्वेष में अधिक आसक्त होने से बार बार उन वस्तुओं को स्मरण करने से राग द्वेष अधिक मात्रा में बढ़ते हैं ॥११॥

भाष्यार्थ:- *(तन्मयात् च)* 'तत्' शब्द से राग का ग्रहण होता है। रागमय वस्तु में विषय सुख का अभाव होने पर सुख मिलना बंद होने पर अथवा विषय सुख साधन के अभाव हो जाने पर उस वस्तु से विषयक राग स्थित हो जाता है बना रहता है। राग के उसी प्रकार का होने से राग का जो कारण है पुन: पुन: उस विषय का सेवन करने से, विषय सुख से जो उत्पन्न है, राग में जो व्यसन आसक्ति हो गई, उससे राग संस्कार की प्रवलता हो जाती है और राग संस्कार के जो चित्र हैं जो स्थिर बन जाता है उससे और भी अधिक राग उत्पन्न हो जाता है, ऐसे ही इसके विरुद्ध द्वेष है, द्वेष संस्कार के जो चित्र बनते हैं उससे आगे-आगे द्वेष बनता चला जाता है (राग वाली वस्तुओं से राग होता जाएगा और द्वेष वाली वस्तुओं के सामने आने से द्वेष बढ़ता चला जाएगा) ॥११॥

---- ---- --

**। अत्र 'वा' शब्दः समुच्चयार्थः । **। साकांक्षं पदं यममाकांक्षते ।*

अदृष्टाच्च ॥१२॥

(अदृष्टात् च) इह जन्मनि रागस्य द्वेषस्य कारणं सुखं दुःखं वाऽननुभवन्नपि यो रागो द्वेषो वा तत्र प्रवर्तते तस्य कारणं खल्वदृष्टं पूर्वजन्मानुभूतसुखं दुःखं यद्वा नैजिकस्वभावः

कारणमस्ति । यथा यौवनोद्भवे तरुणस्य तरुणीविषयकरागस्तरुण्याश्च तरुणविषयको रागः । तथा जातस्य स्तन्यपाने रागः । एवं द्वेषोऽपि भवत्यसर्पदष्टेऽपि सर्पाद् द्वेषः, नवशिशोरन्धकाराद् द्वेषः ॥१२॥

अदृष्टाच्च ॥१२॥

सूत्रार्थ:- पूर्व जन्म के अनुभव से भी राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं ॥१२॥

भाष्यार्थ:- *(अदृष्टात् च)* इस जन्म में भी राग द्वेष का जो कारण सुख और दु:ख है उसका अनुभव न होने पर भी जो राग द्वेष उत्पन्न होता है या देखा जाता है जो प्रवृति होती है बालक में द्वेष की प्रतीति होती है वह पिछले जन्म की होती है, उसमें अदृष्ट होता है । उसमें पिछले जन्म में अनुभव किया हुआ सुख या दु:ख होता है अथवा स्वभाव होता है बहुत पीछे के संस्कार का बाहुल्य रहता है । जैसे युवा अवस्था आरंभ होने पर युवक का युवती के प्रति और युवती का युवक के प्रति राग उत्पन्न होता है जैसे बछड़ा आदि का दूध पीने आदि में राग होता है, इसी प्रकार से द्वेष भी ऐसे ही हो जाता है सर्प के न काटने पर भी उसको देखकर द्वेष हो जाता है, जो छोटा बच्चा होता है उसको अंधकार से द्वेष होता है अंधेरा देख कर रोने लग जाता है ॥१२॥

जातिविशेषाच्च ॥१३॥

(जातिविशेषात् च) जातिविशेषात् खल्वपि रागो द्वेषश्च भवति । सम्भोगसुखाय मनुष्यजातेर्मनुष्यजातौ, गोजातेर्गोजातौ, शूकरजातेःशूकरजातौ रागोऽथ द्वेषश्च अश्वजातेर्महिषीजातितः, नकुलजातेः सर्पजातितः परस्परं विद्यते ॥१३॥

जातिविशेषाच्च ॥१३॥

सूत्रार्थ:- जाति विशेष अर्थात मनुष्य-गौ-अश्व आदि को परस्पर जाति विशेष से राग द्वेष होता है ॥१३॥

भाष्यार्थ:- *(जातिविशेषात् च)* जाति विशेष के कारण भी राग द्वेष होता है । उत्तम भोग के सुख के लिए मनुष्य जाति का मनुष्य जाति में, गौ जाति का गौ जाति में, शूकर जाति का शूकर जाति में राग और द्वेष भी होता है । घोड़े को भैंस से द्वेष होता है नकुल=नेवला का सर्प जाति से द्वेष परस्पर होता है यह जन्मजात=स्वाभाविक द्वेष होता है ॥१३॥

सुखदुःखभवौ रागद्वेषौ रागद्वेषाभ्यां प्रभूतयोर्धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिभवतीत्युच्यते –

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः ॥१४॥

(इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः) धर्मस्याधर्मस्य च प्रवृत्तिः प्रवर्तनं खल्विच्छापूर्वकं रागपूर्वकं द्वेषपूर्वकं च यथासंख्यं विज्ञेयम् । रागात् खलु धर्मे शुभकर्मणि प्रवर्तते न हि रागेण विना क्वचिदनुकूले शुभेप्रवृत्तिर्जायते पुण्यफलार्थम्, न च द्वेषेण विनाऽधर्ममशुभं कर्माचरति॥१४॥

सुख और दु:ख से परस्पर उत्पन्न होने वाला राग और द्वेष होता है पुन: राग और द्वेष के कारण धर्माधर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसको अब कहते हैं-

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः ॥१४॥

सूत्रार्थ:- राग और द्वेष के कारण से धर्माधर्म की प्रवृत्ति होती है ॥१४॥

भाष्यार्थ:- *(इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः)* धर्म और अधर्म की जो प्रवृति होती है वह इच्छा पूर्वक अर्थात राग पूर्वक धर्म की प्रवृति होती है और द्वेष पूर्वक अधर्म की प्रवृति होती है इस प्रकार से यथासंख्य लगा लेना चाहिए धर्म के साथ इच्छा राग की और अधर्म के साथ द्वेष की। राग से धर्म में अर्थात शुभ कर्म में प्रवृत्ति होती है उपकार करने लग जाता है, अनुकूल में शुभ में बिना राग के प्रवृत्ति नहीं होती है, पुण्य फल के लिए। और बिना द्वेष के भी अधर्म अशुभ कर्म नहीं करता है ॥१४॥

अथ धर्माधर्माभ्यां किं भवतीत्युच्यते –

तत्संयोगो विभागः ॥१५॥

(तत्) 'तत्' अव्ययं हेतौ । तस्मात् खलु धर्माधर्माचरणात् (संयोगः विभागः) आत्मनो धर्माधर्मकर्मकर्तुः शरीरेण सह संयोगो जन्म देहधारणं पुनर्विभागो देहादुत्क्रमणं मरणं भवति । एवं जन्ममरणचक्रमनिशमावर्तते धर्माधर्माभ्यां यद्वा धर्माधर्माचरणात् ॥१५॥

उस धर्म और अधर्म से क्या होता है? उसको कहते हैं –

तत्संयोगो विभागः ॥१५॥

सूत्रार्थ:- धर्माधर्म अर्थात सकाम कर्मों के आचरण से आत्मा का शरीर के साथ संयोग और विभाग अर्थात जन्म और मृत्यु होते रहते हैं ॥१५॥

भाष्यार्थ:- *(तत्)* 'तत्' यह जो अव्यय है वह हेतु अर्थ में है। उस धर्माधर्म के आचरण करने से *(संयोगः विभागः)* आत्मा का धर्माधर्म कर्म करने वाले का शरीर के साथ संयोग होता है अर्थात जन्म होता है देह धारण होता है, और अधर्म के कारण देह से छूटना अलग हो जाना या मृत्यु होती है। इस प्रकार से जन्म और मरण का चक्र दिन-रात चलता रहता है, धर्म और अधर्म के द्वारा अथवा धर्म और अधर्म के आचरण के कारण ॥१५॥

जन्ममरणप्रबन्धात् खलु –

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥१६॥

(मोक्षः) जन्ममरणप्रबन्धाद् दुःखबहुलात् खलु मोक्षो विमोक्षः (आत्मकर्मसु) अध्यात्मकर्मसु परमात्मनः श्रवणमनननिदिध्यासनसाक्षात्कारेषु तथाऽष्टाङ्गयोगाभ्यासेषु समाधिपर्यन्तेषु (व्याख्यातः) व्याख्यातो वेदितव्यः, व्याख्यातश्च सर्वमोक्षशास्त्रैः "तमेव विदित्वाऽति मृत्यमेति" (यजु. ३१।१८) "अध्यात्मयोगाधिगमेन मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" (कठो. १।२।१२) "यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः" ॥१६॥

अब इस जन्म मरण के बंधन से-

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥१६॥

सूत्रार्थ:- जन्म कारण प्रवाह छूटना, अष्टांग योग का आचरण रूप आध्यात्मिक कर्मों के करने पर होता है ॥१६॥

भाष्यार्थ:- *(मोक्षः)* जन्म-मरण के बंधन से दु:ख की बहुलता से अर्थात दु:खों से जो छूटना है विमोक्ष है जो *(आत्मकर्मसु)* जन्म मरण के प्रवंध से अर्थात दु:खों की बहुलता से मोक्ष अर्थात विमोक्ष अर्थात अध्यात्म कर्मों में परमात्मा की श्रवण मनन निदिध्यासन और साक्षात्कार रूप कर्मों में तथा अष्टांग योग के अभ्यास करने में जो समाधि पर्यंत अष्टांग योग के अभ्यास का पालन करने में *(व्याख्यातः)* व्याख्यात बताया हुआ जानना चाहिए। सभी मोक्ष शास्त्रों में ऐसा बता गया है कि *"तमेव विदित्वाऽति मृत्यमेति" (यजु. ३१।१८)* "परमात्मा को जानकार के ही मृत्यु को पार होता है" *"अध्यात्मयोगाधिगमेन मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" (कठो. १।२।१२)* "अध्यात्म योग की समझा आ जाने पर उसका निर्णय ज्ञात हो जाने पर मनन करके धीर ध्यानी लोग हर्ष और शोक को छोड़ देते हैं" *"यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः"* "यम और नियमों के द्वारा आत्मा का संस्कार और योगाभ्यास के द्वारा तथा आध्यात्मिक शास्त्रों में जो विधियाँ बताई गईं हैं मन आदि के निरोध के द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है" ये सब आत्मा के कर्म हैं ॥१६॥

द्वितीयह्निकं समाप्तम्।

सप्तमोऽध्यायः तत्र प्रथमाह्निकम्

विविधानि समस्तानि भौतिकान्याध्यात्मिकानि च कर्माणि परीक्ष्येदानीमत्र गुणान् परीक्षमाणः पीठं रचयति प्रथमेन सूत्रेण –

उक्ता गुणाः ॥१॥

(उक्ताःगुणाः) पूर्वं खलूक्ता ये गुणाः रूपादयस्ते परीक्ष्यन्ते, इति शेषः ॥१॥

विविध समस्त (सारे) भौतिक और आध्यात्मिक कर्म की परीक्षा करके अब यहाँ गुणों की परीक्षा करते हुए भूमिका रचते हैं, प्रथम सूत्र के द्वारा-

उक्ता गुणाः ॥१॥

सूत्रार्थः- पूर्वोक्त गुणों की अब परीक्षा की जाती है॥१॥

भाष्यार्थः- *(उक्ताःगुणाः)* पूर्व में जो रूप आदि गुण कहे गए हैं उनकी परीक्षा करेंगे इस प्रकार शेष है ॥१॥

तत्र रूपादिषु गुणेषु –

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥२॥

(पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शाः) पृथिवीजलाग्निवायूनां ये गन्धरसरूपस्पर्शा गुणाः सन्त्येकैकशो यथासंख्यं ते यथायोग्यं तेषां पिण्डितावस्थायां यद्वा तदवयविद्रव्यगताः पृथिव्या गन्धरसरूपस्पर्शाः, जलस्य रसरूपस्पर्शाः, अग्नेर्रूपस्पर्शौ, वायोः स्पर्शः, ते सर्वे (द्रव्यानित्यत्वात् अनित्याः च) द्रव्यस्यावयविनोऽनित्यत्वात् सन्ति ह्यनित्याः, चकार उत्तरसूत्रेणाभिसम्बध्यते, अथचेत्यर्थे ॥२॥

रूप आदि गुणों में-

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥२॥

सूत्रार्थः- पृथ्वी जलाग्निवायु इन द्रव्यों के रूप रस गन्ध स्पर्श गुण पृथिव्यादि द्रव्यों के अनित्य होने से इनके गुण भी अनित्य है ॥२॥

भाष्यार्थः- *(पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शाः)* पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के जो ग्रंध, रस, रूप, स्पर्श गुण हैं वे एक एक यथा संभव करके वे यथायोग्य उनके पिंडितावस्था में अथवा उनके अवयवी द्रव्यगत (अर्थात) पृथ्वी के गंध, रस, रूप, स्पर्श जल के रस, रूप,

स्पर्श अग्नि के रूप, स्पर्श और वायु के स्पर्श *(द्रव्यानित्यत्वात् अनित्याः च)* वे सभी अवयवी द्रव्य के अनित्य होने से अनित्य हैं, चकार उत्तर सूत्र से संबंध है और इति अर्थ में है ॥२॥

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥३॥

(एतेन) अथ चैतेन वर्णनप्रकरणेनायातमिदं यद् (नित्येषु नित्यत्वम् उक्तम्) नित्येषु द्रव्येषु गुणानां नित्यत्वमुक्तं विज्ञेयम् ॥३॥

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥३॥

सूत्रार्थ:- पूर्वोक्त कथन से नित्य द्रव्यों अर्थात् पृथ्वी जलादि द्रव्यों के परमाणुओं में गुण नित्य है ऐसा जानना चाहिए ॥३॥

भाष्यार्थ:- *(एतेन)* और इस वर्णन प्रकरण से यह निकला (आया) कि *(नित्येषु नित्यत्वम् उक्तम्)* नित्य द्रव्यों में गुण नित्य होते हैं ऐसा कहा हुआ जानना चाहिए ॥३॥

कुत्र नित्येषु नित्यत्वं तन्निर्दिश्यते –

अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ॥४॥

(अप्सु तेजसि वायौ च नित्याः) जले अग्नौ वायौ च नित्याः सन्ति तत्तद्गुणाः (द्रव्यनित्यत्वात्) द्रव्यस्य नित्यत्वात् तस्मात् नित्यास्वप्सु नित्येऽग्नौ नित्ये वायौ नित्यौ गुणः । द्रव्यस्य नित्यत्वानित्याभ्यां भेदद्वयम्, नित्यः परमाणुर्भूतसूक्ष्मो वाऽनित्यस्तु स्थूलभूतः,तत्र त्वनित्येन गुणेन भाव्यमेवेत्युक्तं हि, इति विवेकः । तेनेदमप्यायातं यत् पार्थिवपरमाणावपि गुणोऽनित्योऽस्ति ॥४॥

किन नित्यों में नित्यपना है वह प्रदर्शित करते हैं-

अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थ:- जलाग्निवायु में नित्य गुण है ऐसा जानना चाहिए ॥४॥

भाष्यार्थ:- *(अप्सु तेजसि वायौ च नित्याः)* जल में अग्नि में और वायु में जो-जो गुण हैं वे-वे नित्य हैं *(द्रव्यनित्यत्वात्)* द्रव्य के नित्य होने से, इसलिए नित्य जल में नित्य अग्नि में नित्य वायु में नित्य होते हैं । द्रव्य का नियत्व और अनित्यत्व से दो भेद होते हैं, परमाणु भूत सूक्ष्म नित्य है और स्थूल भूत अनित्य हैं, उनमें अनित्य द्रव्य का अनित्य गुण होना ही चाहिए ये कह दिया है, इस प्रकार यह विवेक है । इससे यह भी आया कि पार्थिव परमाणु में भी गुण अनित्य हैं ॥४॥

अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यत्वात्॥५॥

(अनित्येषु अनित्याः द्रव्यानित्यत्वात्) अनित्येषु द्रव्येषु स्थूलेषु यद्वाऽवयविषु द्रव्येषु गुणा अनित्याः सन्ति द्रव्यस्यानित्यत्वात्, द्रव्यस्य नाशेन सह नश्यमानत्वात्- आश्रयनाशात् । रूपादयो गुणास्तु द्रव्यस्यानित्यत्वादनित्याः सन्तीति तु गतमेव "पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यस्यानित्यत्वादनित्याश्च" अस्मिन् द्वितीयसूत्रे पुनराम्भो विशेषार्थद्योतनाय,स च ये रूपादिभ्योऽन्ये गुणाः सन्ति परिमाणादयस्ते खल्वाश्रयनाशान्नयन्ति तेऽनित्यद्रव्येषु वर्तमानाः सन्तोऽनित्या विज्ञेयाः ॥५॥

अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यत्वात्॥५॥

सूत्रार्थ:- अनित्य द्रव्यों के परिमाणादि गुण भी अनित्य होते है द्रव्यों के अनित्य होने से ॥५॥

भाष्यार्थ:- *(अनित्येषु अनित्याः द्रव्यानित्यत्वात्)* अनित्य द्रव्यों में स्थूलों में अथवा अवयवि द्रव्यों में गुण अनित्य होते हैं, द्रव्य के अनित्य होने से। द्रव्य के नाश के साथ नाश होने से=आश्रय के नाश होने से । रूप आदि गुण तो द्रव्य के अनित्य होने से अनित्य होते हैं यह ज्ञात हो ही गया "पृथिव्यादि रूप, रस, गंध, स्पर्श द्रव्य के अनित्य होने से अनित्य हैं" (६/०१/०२) इस द्वितीय सूत्र में पुन: आरम्भ करना विशेष अर्थ को जानने के लिए है, और वह जो रूप आदि गुणों से अन्य परिमाण आदि हैं, वे आश्रय के नाश होने से नाश को प्राप्त होते हैं वे अनित्य द्रव्यों में वर्तमान होते हुए अनित्य जानना चाहिए ॥५॥

यथा हि जलाग्निवायवो द्रव्याणि नित्यान्यनित्यानि च तेषां सूक्ष्मत्वस्थूलत्वाभ्यां भेदाभ्यां तेषु नित्येषु रूपादयो गुणा नित्याः सन्ति तथा पृथिवी द्रव्यमपि तु नित्यं चानित्यं च तस्याः सूक्ष्मत्वस्थूलत्वाभ्यां भेदाभ्यां तत्रापि नित्यायां पृथिव्यां रूपादयो गुणाः कथं न नित्याः कथं तत्र गुणनित्यत्वप्रसङ्गे पृथिवी वर्जिता ? इत्याकांक्षायामुच्यते ---

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः॥६॥

(कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः)पृथिवीतोऽन्यत्राप्तेजोवायुषु नित्येषु तु रूपादयो गुणा नित्या भवन्ति किन्तु पृथिव्यां नित्यायामपि रूपादयो गुणा न नित्या न सदा समानाः समावस्थागता वा, यतो ह्यग्निसंयोगात् परिवर्तन्ते प्राथमिकस्वरूपं त्यजन्ति भिन्नं स्वरूपमुपयन्ति । तत्कथमित्युच्यते स्थूलायां पृथिव्यां दक्षिणोत्तरभिन्नभिन्नप्रदेशगतायां विशिष्टसंस्थानभूतायां घटादिरूपेण विकृतायां कार्यभूतायां पृथिव्यां रूपादयो गुणा ये पाकजाः सन्ति ते न कार्यवशगा अपितु कारणगुणपूर्वकाः सन्तो मृत्कणेषु कार्यावयवेषु कारणेषु पाकजाः पाकवशगा भवन्ति,

यतो ह्यग्निसंयोगात् पृथिव्याः कणाः परमाणवो वा पच्यन्ते पाकं प्राप्नुवन्ति वा, पाकात् कणानां परमाणूनां कारणानां रूपादयो गुणाः परिवर्तन्ते ते हि कार्ये खलूपलभ्यन्ते तस्मात् पार्थिवस्य कार्यवस्तुनो गुणा न कार्ययोगात् किन्तु कारणस्यैव गुणाः सन्ति कारणगुणपूर्वकत्वात्, पूर्वं कारणेषु ते प्रकटीभवन्तिपश्चात् कार्ये लक्ष्यन्तेऽत एव नित्यायामपि पृथिव्यां रूपादयो गुणा न नित्याः । जलादीनां तु रूपादयो गुणाः पाकेन न परिवर्तन्ते, दृश्यन्ते च पूर्ववदेव । तत्र पाकजगुणानां रूपादीनां समवायिकारणं पृथिवीपरमाणवः, पृथिवीपरमाणुगता रूपादयो गुणा अवयविरूपादीनामसमवायिकारणं अग्निसंयोगो निमित्तकारणम् ॥६॥

जैसे अग्नि जल वायु द्रव्य नित्य और अनित्य हैं उनके सूक्ष्मत्व स्थूलत्व भेद से उन नित्य (द्रव्यों) में रूप आदि गुण नित्य होते हैं तथा पृथ्वी द्रव्य भी तो नित्य और अनित्य हैं उसके सूक्ष्मत्व स्थूलत्व भेद से उस नित्य पृथ्वी में रूप आदि गुण कैसे नित्य नहीं हैं और क्यों उन गुण नित्यत्व प्रसंग में पृथ्वी को वर्जित किया गया ? इस आकांक्षा में बताते हैं-

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः॥६॥

सूत्रार्थः- पृथ्वी घटादि कार्य में अग्नि के संयोग से आनेवाले गुण पहले कारणों अवयवों परमाणुओं में आते है फिर कार्य घट में आते है, अतः पार्थिव परमाणु के गुण नित्य नहीं है ॥६॥

भाष्यार्थः- *(कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः)* पृथ्वी से अन्यत्र अग्नि वायु नित्य द्रव्यों में रूप आदि गुण नित्य होते हैं किन्तु पृथ्वी के नित्य होने पर भी रूप आदि गुण नित्य नहीं हैं सदा समान अथवा समावस्था में नहीं रहते हैं, क्योंकि अग्नि के संयोग से परिवर्तित होते हैं प्राथमिक स्वरूप को छोड़ देती हैं भिन्न स्वरूप को प्राप्त होती हैं। वह कैसे होता है? बताते हैं- स्थूल पृथ्वी में दक्षिण उत्तर भिन्न-भिन्न प्रदेश को प्राप्त होने पर या विशिष्ट संस्थान को प्राप्त होने पर घट आदि रूप से विकृत कार्य भूत पृथ्वी में रूप आदि गुण जो पकाने से उत्पन्न होते हैं वे कार्य के कारण नहीं होते हैं किन्तु कारण गुण पूर्वक होते हुए मिट्टी के कणों में कार्य अवयव कारणों में पाकज=पकाने के कारण होते हैं क्योंकि अग्नि के संयोग से पृथ्वी के कण अथवा परमाणु पकते हैं या पाक को प्राप्त होते हैं, पकाने से कणों का परमाणुओं का कारणों का रूप आदि गुण परिवर्तित होते हैं वे ही कार्य में उपलब्ध होते हैं इसलिए पार्थिव कार्य वस्तु का गुण कार्य के योग से नहीं है किन्तु कारण का ही गुण हैं, कारण गुण पूर्वक होने से, पूर्व कारणों में वे प्रकट होते हैं पश्चात कार्य में लक्षित होते हैं इसलिए पृथ्वी के नित्य होने पर भी रूप आदि गुण नित्य नहीं है । जल आदि का तो रूप आदि गुण पाक से परिवर्तित नहीं होते हैं और पहले

जैसा ही दिखते हैं । उन में पाकज रूप आदि गुणों का समवायिकारण पृथ्वी के परमाणु हैं पृथ्वी परमाणु गत रूप आदि गुण अवयवि रूप आदि का असमवायिकारण है अग्नि का संयोग निमित्त कारण है ॥६॥

कथं पृथिव्यामेव रूपादिगुणानां पाकजत्वं कारणगुणपूर्वकं येन नित्यायाः पृथिव्याः रूपादयो गुणा अनित्याः स्युः कथन्नान्यत्राबादिष्वपि रूपादिगुणानां पाकजत्वं कारणगुणपूर्वकं स्वीक्रियते, इत्याकांक्षायामुच्यते--

एकद्रव्यत्वात् ॥७॥

(एकद्रव्यत्वात्) पाकजानां गुणानामेकद्रव्यत्वात् केवलमेकं पृथिवीं द्रव्यमेवाश्रयन्ति पाकजा गुणाः, अग्निसंयोगात् पृथिव्यामेव रूपादयो गुणाः पाकजाः खलु भिन्नाभिन्नाः प्रादुर्भवन्ति न ह्यबादिषु पाकजगुणप्रादुर्भावः कारणगुणाद् भिन्नो भवति तद्गुणस्तु रूपादिस्तथैवावतिष्ठते । तादृशी पक्तव्या तु पृथिवी ह्यस्ति न च जलाग्निवायवस्तथा पक्तव्याः, यत् पृथिवीवत् तेष्वपि पाकजगुणाः प्रादुर्भवेयुः । पृथिवी तद्विकारश्च पाके दहनकर्मणि लक्ष्यते तस्य दहनाश्रयत्वादग्नेरिन्धनत्वाच्च । न जलं दग्धं भवति तत्तु वाष्पी भूयोद्गच्छति नाग्निनाऽग्निर्दह्यते न वायुरग्निना दग्धो भवति, तस्मात् पाकजगुणानामेकमेव पृथिवीद्रव्यमाश्रयस्तत्रैव पाकजगुणानां प्रादुर्भावः ॥७॥

क्यों पृथ्वी में ही रूपादि जो गुण हैं पाकज वे कारण गुणपूर्वक होते हैं, जिससे नित्य पृथ्वी के रूप आदि गुण अनित्य हो जाते हैं । जल आदि में भी अग्नि के संयोग से कारण गुण पूर्वक उसमें गुण क्यों उत्पन्न नहीं होते ? इस जिज्ञासा में बताते हैं ।

एकद्रव्यत्वात् ॥७॥

सूत्रार्थ:- एक ही द्रव्य के ऐसा होने से कि कारण गुण पूर्वक कार्य गुण बदलते हैं ।७।

भाष्यार्थ:- *(एकद्रव्यत्वात्)* पाकज जो गुण हैं वो एक ही द्रव्य में इस प्रकार के परिणाम देने वाले होते हैं, और पाकज गुण एक मात्र केवल पृथ्वी का आश्रय लेते हैं । अग्नि के संयोग से पृथ्वी में ही रूप आदि जो गुण पाकज के कारण उत्पन्न होते हैं वे भिन्न और अभिन्न होते हैं (एक जैसे भी होते हैं और दूसरे भी उत्पन्न होते हैं), जल आदि में ऐसे नहीं होते हैं पाकज गुणों का जो प्रादुर्भाव होता है=उत्पत्ति उसमें जो होती है वो कारण गुण से भिन्न होता है (कारण में जैसा दिख रहा होता है वैसा वो नहीं होता है), लेकिन उसके जो गुण होते हैं रूप आदि वे वैसे के वैसे ही रहते हैं । इस प्रकार से परिवर्तन रूप वाली जो पकने वाली वस्तु है वो केवल पृथ्वी है, जल, अग्नि और वायु उस प्रकार के नहीं पकते हैं, ये तीनों पकते ही नहीं है इस कारण से इनमें पृथ्वी के समान पाकज गुण

उत्पन्न नहीं होते हैं। पृथ्वी में और जो उसके विकार होते हैं पाक में, जलाने पर दिखाई देते हैं। उसके दहन का आश्रय होने से और उन्हीं के द्वारा जलाए जाने से ऐसा होता है, जल दग्ध नहीं होता है दग्ध नहीं होता है , किन्तु वो वाष्प बन के सीधे उड़ जाता है। न ही अग्नि जलती है, न ही वायु अग्नि से दग्ध होता है। इसी कारण से पाकज गुणों मे केवल एक ही पृथ्वी द्रव्य है, आश्रय बनती है उसी में पृथ्वी में पाकज गुणों की उत्पत्ति होती है दूसरों में नहीं होती ।।७।।

रूपादीनिन्द्रियविषयान् गुणान् परीक्ष्य तत्सहचरितान् गुणानपि परीक्षमाणः क्रमप्राप्तां संख्यामन्तरयित्वाऽल्पविषयत्वात् पूर्वं परिमाणं परीक्षते --

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥८॥

(अणोः महतः च) अणुपरिमाणस्य गुणस्य महतः महत्परिमाणस्य गुणस्य (उपलब्ध्यनुपलब्धी) यथायोग्यमन्वयन्यायात्, अनुपलब्धिरुपलब्धिश्च (नित्ये व्याख्याते) नित्ये व्याख्याते वेदितव्ये । अणुत्ववति द्रव्येऽणुपरिमाणगुणस्यानुपलब्धिरप्रत्यक्षता नित्या, महत्ववति द्रव्ये महत्परिमाणगुणस्योपलब्धिःप्रत्यक्षता नित्याऽस्ति ॥८॥

अब रूप आदि विषयों की परीक्षा करने के पश्चात, उसके साथ-साथ अब अन्य गुणों की परीक्षा करते हुए, क्रम से प्राप्त रूप के बाद संख्या गुण का क्रम आता है, किन्तु उसका उलंघन करके, उसको पार करके, अल्प विषय वाला होके, परिमाण की परीक्षा कर लेते हैं कि परिमाण का स्वरूप कैसा होता है ?

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥८॥

सूत्रार्थ:- अणु परिमाण की नेत्र अदृश्यता तथा महत् परिमाण की नेत्र दृश्यता नित्य और सदा होती है, अणु परिमाण सदा दृष्टि विहीन रहेंगे और महत् परिमाण सदा दृष्टि युक्त रहेगा ॥८॥

भाष्यार्थ:- *(अणोः महतः च)* अणु परिमाण गुण और जोमहत् परिणाम गुण हैं दोनों का *(उपलब्ध्यनुपलब्धी)* यथायोग्य अन्वय कर लेना चाहिए ।("अणु और महत" इसको क्रमशः होना चाहिए था, परंतु यहाँ क्रम बदलेगा अणु के साथ उपलब्धि और महत् के साथ अनुपलब्धि होगा ।) अनुपलब्धि और उपलब्धि इन दोनों की *(नित्ये व्याख्याते)* नित्य व्याखात समझना चाहिए । अणु परिमाण वाले द्रव्य में उसमें अणु परिमाण की जो अनुपलब्धि होती है अर्थात प्रत्यक्ष जो नहीं हो पाता है वो नित्य ही होता है (सदा ऐसा ही रहता है कभी उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है ।) ऐसेमहत् परिमाण वाले द्रव्य

में महत् परिमाण की उपलब्धि या प्रत्यक्षता नित्य समझनी चाहिए, महत् परिमाण में महत् सदैव अनुभूत होता रहेगा, अणु परिमाण का अणुत्व कभी उपलब्ध नहीं होगा ॥८॥

अणुमहतोः स्वरूपं कारणं च प्रदर्शयन् पूर्वं महतः स्वरूपं कारणं च पश्चादणोः स्वरूपं कारणं च कथयति --

कारणबहुत्वाच्च ॥९॥ अतो विपरीतमणुः ॥१०॥

अनयोःसूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति–

(कारणबहुत्वात् च) त्रसरेणुकारणानां द्व्यणुकानां बहुत्वात्, चतुरणुककारणानां त्र्यणुकानां बहुत्वात् संहतत्वाद् घटादौ पृथिव्यां च चकारेण प्रचयात् तूलांशूनां शिथिलसंयोगाच्च तूलपिण्डे महत्त्वं महत्परिमाणंमहत्परिमाणस्वरूपं वा भवति । अथ (अतः विपरीतम् अणुः) अस्मादुक्तलक्षणाद् विपरीतमणु परिमाणमर्थात् कारणाबहुत्वात् तथाऽप्रचयादणुपरिमाण तत्स्वरूपं च भवति । यत्खलु द्व्यणुके परिमाणं तदणु यच्च प्रचयहीनस्तूलाशुस्तत्राणुपरिमाणमस्ति ॥९-१०॥

अणु और महत् का स्वरूप व कारण दिखाता हुआ, पहले महत् का स्वरूप और कारण बता देंगे, उसके बाद अणु के स्वरूप और कारण को बताते हैं,-

कारणबहुत्वाच्च ॥९॥ अतो विपरीतमणुः ॥१०॥

इन दोनों सूत्रों की एक वाक्यता है -

सूत्रार्थ:- द्विणुक आदि कारणों से और तुलान्शुओं के संग्रह से महत् परिमाण गुण उपलब्ध होता है इसके विपरीत अणु परिमाण गुण कहलाता है ॥९-१०॥

भाष्यार्थ:- *(कारणबहुत्वात् च)* त्रिसरेणु का जो कारण है द्विणुक, उनकी बहुलता होने से। और चतुर अणुक के जो कारण त्रियणुक हैं उनकी बहुलता से संघात से, घट आदि पदार्थ और पृथ्वी में 'चकार' से संचय से अर्थात रुई को जो अवयव हैं उनके शिथिल संयोग से ही तूल के पिंड=रुई के पिंड में महत् या महत् वाला परिमाण या महत् परिमाण का स्वरूप उत्पन्न होता है । और उसके अंशों की बहुलता के विपरीत *(अतः विपरीतम् अणुः)* अर्थात इस लक्षण के परिमाण के विपरीत जो अणु परिमाण होता है वह कारण की न्यूनता के कारण, तथा संचय कम होने से अणु परिमाण या उसका स्वरूप उत्पन्न होता है । जो द्विणुक का परिमाण होता है वह अणु परिमाण होता है, और जो संचय हीन वाला रूई का जो संघात है वहाँ अणु परिमाण होता है ॥९-१०॥

अणोर्महतश्च परिमाणस्याधिकरणमाश्रयो वा यद्यपि भिन्नं भिन्नं भवति परन्तु लोके खल्वेकाधिकरणेऽपि व्यवह्रियतेऽणुत्वं महत्त्वं च तत्कथमित्युच्यते –

अणुमहदिति तस्मिन् विशेषभावाद् विशेषाभावाच्च ॥११॥

(तस्मिन्)एकस्मिन् व्यवह्रियमाणे पार्थिवद्रव्ये (अणु महत् इति) अणु महत् परिमाणंव्यवह्रियते (विशेषभावात् विशेषाभावात् च) विशेषो विशिष्टधर्मः सापेक्षोऽपकर्ष उत्कर्षश्चोभयविधः परीक्षणीयात्मकः । यथा बिल्वस्य महत्त्वमपेक्ष्य ह्यामलकेऽणुत्वं तस्मिन्नेव महत्त्वं च कुवलयस्याणुत्वमपेक्ष्य भवति। यदाऽपकर्षोऽपेक्ष्यते तदा स विशेषो विशिष्टधर्मस्तदा मलकमणु बिल्वात् तत्रामलकेऽपकर्षभावाद्बिल्वं महदपकर्षभावात् । अथ यदाऽपकर्षोऽपेक्ष्यते तदा स विशेषो विशिष्टधर्मस्तदा महदामलकमस्ति कुवलयात् तत्रामलके खलूत्कर्षभावात् कुवलमणूत्कर्षाभावात् ॥११॥

एक समय अणु औरमहत् परिणाम का जो अधिकरण आश्रय होता है वो वस्तुत: तो अलग-अलग ही होता है, परंतु लोक में एक अधिकरण में भी ऐसा व्यवहार होता है अणुत्व और महत्व का। वह कैसे होता है?

अणुमहदिति तस्मिन् विशेषभावाद् विशेषाभावाच्च ॥११॥

सूत्रार्थ:- एक ही पदार्थ में अणु और महत् ये दोनों व्यवहार लौकिक दृष्टिकोण से होते हैं, अन्य द्रव्य की अपेक्षा उत्कर्ष और अपकर्ष होने और न होने से ॥११॥

भाष्यार्थ:- *(तस्मिन्)* एक ही व्यवहार करने योग्य पार्थिव द्रव्य में *(अणु महत् इति)* अणु और महत् परिमाण का व्यवहार होता है, (वह कैसा होता है?) विशेष अर्थात विशिष्ट धर्म जो उसको पृथक करने वाला धर्म है वह सापेक्ष होता है उत्कर्ष और अपकर्ष वाला परीक्षा करने के योग्य होता है।(जैसे कि उदाहरण दे रहे हैं) विल्व को उसके महत्व को देखकर के उसकी अपेक्षा से आवला छोटा कहा जाएगा और उसी आंवले में महत्व भी हो जाता है पर कब उसके सामने जब बेर आजेगा तो बेर की अपेक्षा से आवला महत् हो जाएगा। जब अपकर्ष अर्थात अधिकता देखते हैं तब वह विशिष्ट धर्म हो जाता है आंवला में अणु हो जाता है विल्व से। वहाँ आंवले में अपकर्ष का अभाव हो जाने से विल्व महत् हो जाता है अपकर्ष के न होने से और जब अधिकता को देखते हैं तब वो विशेष धर्म वाला हो जाता है, तब बद्रिफल से आंवला बड़ा हो जाता है। वहाँ आंवलक में उत्कर्ष के हो जाने से और कुवलक में जो उत्कर्ष का अभाव हो जाने से ऐसा छोटापन हो जाता है ॥११॥

एकस्मिन् पार्थिवद्रव्ये सापेक्षविशेषस्यापकर्षस्योत्कर्षस्य भावादभावाच्च कथमणुत्वमहत्त्वव्यवहारः कल्प्यतेऽत्रोच्यते –

एककालत्वात् ॥१२॥

(एककालत्वात्) यतो ह्येकस्मिन् काले तत्रैकस्मिन् पार्थिवद्रव्येऽणुत्वं महत्त्वं च प्रतीयते यद्वोपलभ्यते। सापेक्षविशेषभावाभावनिमित्ता तयोरुपलब्धिः ॥१२॥

एक ही पार्थिव द्रव्य में सापेक्ष विशेष जो अपकर्ष या उत्कर्ष है उन दोनों के होने और न होने से अणुत्व और महत्व व्यवहार कैसे हो जाते हैं? उसे कहते हैं-

एककालत्वात् ॥१२॥

सूत्रार्थ:-एक द्रव्य में अणुत्व और महत्व इन दोनों व्यवहारों की उपलब्धि अन्य दो पदार्थों के साथ एक ही काल में तुलना करने से होती है ॥१२॥

भाष्यार्थ:- *(एककालत्वात्)* क्योंकि एक ही वस्तु अणुत्व या महत्व कहा जाता है ऐसी उपलब्धि हो रही होती है। सापेक्षता जब वहाँ रहती है जब बदरी के सामने आंवला रहेगा तब वह बड़ा दिखेगा और जैसे ही बेल आजेगा तो वह छोटा दिख जाएगा। प्रतीति के कारण ऐसा होता है वैसे और कोई कारण नहीं होता ॥१२॥

दृष्टान्ताच्च ॥१३॥

(दृष्टान्तात् च) 'अणु महत्' परिमाणमस्ति गुणः, गुणेषु भवति ह्यपकर्षोत्कर्षापेक्षा, तत्र दृष्टान्तो विद्यते यथा रूपं रसो वा गुणः । वस्त्रशङ्खस्फटिकेषु श्वेतत्वमपकर्षोत्कर्षापेक्षया लक्ष्यते यथा च द्राक्षाखर्जूरयोर्मधुररसोऽपकर्षोत्कर्षापेक्षया लक्ष्यते ॥१३॥

दृष्टान्ताच्च ॥१३॥

सूत्रार्थ:- रूप रस आदि गुणों में भी उत्कर्ष-अपकर्ष की अपेक्षा होने के समान परिमाण गुण में भी उत्कर्ष अपकर्ष होता है ॥१३॥

भाष्यार्थ:- *(दृष्टान्तात् च)* अणु औरमहत् ये जो परिमाण हैं ये दोनों ही गुण हैं और गुणों में अपकर्ष और उत्कर्ष की अपेक्षा रहती है। उसमें दृष्टांत है- एक रूप दूसरे रूप से अधिक हो जाता है, एक रस दूसरे रस से अधिक हो जाता है जैसे एक मीठा आम दूसरे आम से अधिक मीठा हो जाता है। वस्त्र में शंख में और स्फटिक मणि काँच में उसमें जो श्वेतत्व होता है वह उत्कर्ष और अपकर्ष की अपेक्षा से मिलता है, (स्फटिक से अधिक शंख में और उससे अधिक वस्त्र में सफेद पना होता है) अंगूर में और खजूर में जो मिठास होता है वह वहाँ कम और अधिक दिखता है। मिठास तो एक ही होती है फिर भी एक में अधिक और एक में कम होती है अपकर्ष और उत्कर्ष के कारण से ॥१३॥

परन्तु स एषोऽणुत्वमहत्त्वव्यवहारो द्रव्येषु वर्तते किन्तु –

अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः ॥१४॥

(अणुत्वमहत्त्वयोः अणुत्वमहत्त्वाभावः) अणुत्वेऽअणुत्वस्य महत्त्वे महत्त्वस्याभावोऽस्ति,नाणुत्वेऽणुत्वं न च महत्त्वे महत्त्वं विद्यते । स चाभावः (कर्मगुणैः व्याख्यातः) कर्मभिर्गुणैश्च तुल्यो व्याख्यातो वेदितव्यः । कर्माणि न स्वतन्त्राणि गुणा अपि न स्वतन्त्राः किन्तु कर्मगुणा द्रव्याश्रयिणः सन्ति तथैवाणुत्वं महत्त्वं च द्रव्याश्रयि भवति न स्वतन्त्रम्, तस्मादणुत्वे नाणुत्वं न च महत्त्वे महत्त्वमस्ति तथा चोत्क्षेपणकर्मणि न पुनरुत्क्षेपणं रूपगुणे पुनर्नरूपगुणः कल्प्यते तथैवाणुत्वे नाणुत्वं महत्त्वे न महत्त्वं कल्पयितुं शक्यतेऽस्वतन्त्रत्वादेव ॥१४॥

लेकिन यह जो अणुत्व महत्व का व्यवहार होता है जो वो वस्तुत: गुणों में नहीं अपितु द्रव्यों में होता है, कहा जाता गुणों में है लेकिन होता द्रव्यों में है –

अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः ॥१४॥

सूत्रार्थ:-अणुत्व में अणुत्व और महत्व में महत्व का अभाव होता है यह अणुत्व और महत्व का अभाव कर्म और गुणों के समान समझना चाहिए ॥१४॥

भाष्यार्थ:- *(अणुत्वमहत्त्वयोः अणुत्वमहत्त्वाभावः)* अणुत्व में अणुत्व का और महत्व में महत्व का अभाव होता है, अणुत्व में अणुत्व का और महत्व में महत्व नहीं होता है । और वो अभाव है *(कर्मगुणैः व्याख्यातः)* कर्मों के साथ और गुणों के साथ समानत है ऐसा जानना चाहिए । कर्म स्वतंत्र नहीं रहते हैं अपनी सत्ता में अपने आप नहीं रहते हैं और गुण भी अपने आप नहीं होते हैं द्रव्य के आश्रित होते हैं, किन्तु कर्म और गुण द्रव्य के आश्रय वाले होते हैं । ऐसे ही अणुत्व और महत्व भी द्रव्य के आश्रित होते हैं ये अपने आप में अर्थात स्वतंत्र नहीं होते हैं । इसलिए अणुत्व में अणुत्व नहीं रहेगा और महत्व में महत्व भी नहीं रहता है । तथा उत्क्षेपण कर्म में उत्क्षेपण कर्म नहीं होता है रूप गुण में रूप गुण नहीं होता है इसकी कल्पना नहीं कर सकते, ऐसे ही अणुत्व में अणुत्व या महत्व में महत्व की कल्पना नहीं की जा सकती है, दोनों के स्वतंत्र न होने से ॥१४॥

कर्मगुणैर्व्याख्याता इत्युच्यते, कर्माणि न कर्मवन्ति गुणा न गुणवन्त इति कुतः, अत्रोच्यते –

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः ॥१५॥

(कर्मभिः कर्माणि गुणैःच गुणाः व्याख्याताः) व्याख्यातानि कर्माणि व्याख्याता गुणाश्च कर्मभिर्गुणैश्च सम्बध्यन्ते न वेति तत्र न सम्बध्यन्ते खल्वेष सिद्धान्तः "द्रव्याश्रय्यगुणवान् ....." (१।१।१६) द्रव्याश्रयी चाणुश्च गुणः, "एकद्रव्यमगुणं ...... "(१।१।१७) "गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म" (१।१।२४) कर्म कर्मणा सह न सम्बध्यते तस्य क्षणिकत्वात्

। तस्मात् कर्माणि कर्मभिरसम्बद्धानि शून्यानि वा व्याख्यातानि गुणैश्च गुणा असम्बद्धाः शून्या व्याख्याताः ॥१५॥

कर्म गुणों के साथ व्याख्यात हो चुका है, कर्मों में कर्म नहीं होता है और गुणों मे गुण नहीं होता है ये तो बता दिया, पर ऐसा क्यों कहा? इस विषय में बता रहे हैं-

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः ॥१५॥

सूत्रार्थ:-कर्म से कर्म शून्य तथा गुणों से गुण असम्बद्ध रहता है ॥१५॥

भाष्यार्थ:- कर्म की भी व्याख्या हो गयी और गुण की भी व्याख्या हो गयी, कर्म के साथ कर्म या गुण के साथ गुण संबंध रखते हैं या नहीं इस विषय में कहा जाता है कि 'नहीं रखते हैं' यही सिद्धान्त है, क्यों *"द्रव्याश्रय्यगुणवान् ....." (१।१।१६)* "द्रव्य के आश्रित होते हैं और गुण रहित होते हैं" इसी प्रकार जो अणु जो गुण है वह द्रव्य के आश्रित रहता है और *"एकद्रव्यमगुणं..... "(१।१।१७)* एक द्रव्य अगुण कहा है। *"गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म"(१।१।२४)* गुणों के साथ विरोध होने से कर्मों का कर्म कार्य नहीं होता है। कर्म कर्म के साथ नहीं जुड़ता है उसके क्षणिक होने से। इसलिए कर्मों में कर्म की शून्यता अर्थात असम्बद्ध=संबंध का न होना कहा जाना चाहिए। गुणों के साथ गुण असम्बद्ध होते हैं या गुण गुण से रहित होते हैं ऐसा व्याख्यान समझना चाहिए, पीछे ऐसा ही कहा है ॥१५॥

तस्मादेव व्याख्यानप्रकारात् –

अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः ॥१६॥

(अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाः च व्याख्याताः) यथाऽणुत्वं नाणुत्ववत्,महत्त्वं न महत्त्ववत् तस्याणुत्वस्य महत्त्वस्यास्वतन्त्रत्वाद् द्रव्याश्रयित्वात् तथैव कर्म नाणुत्वमहत्त्ववत्, गुणो नाणुत्वमहत्त्ववान् तस्यास्वतन्त्रत्वाद् द्रव्याश्रयित्वात्। अथ च यथा कर्मभिः कर्माण्यसम्बद्धानि शून्यानि गुणाश्च गुणैरसम्बद्धाः शून्यास्तथैवाणुत्वमहत्त्वाभ्यामसम्बद्धानि शून्यानि कर्माणि, गुणाश्चाणुत्वमहत्त्वाभ्यामसम्बद्धाः शून्याः सन्ति यतो गुणाः सन्त्यगुणवन्तः कर्माणि च सन्त्यगुणवन्ति, अणुत्वं महत्त्वं च गुणः ॥१६॥

उसी व्याख्यान के अनुसार फिर दूसरी बात कह रहे हैं-

अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः ॥१६॥

सूत्रार्थ:- कर्म और गुण भी अणुत्व और महत्व से शून्य है ॥१६॥

भाष्यार्थः- *(अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाः च व्याख्याताः)* जैसे जो अणुत्व होता है वह अणुत्व से रहित होता है,महत् महत्व वाला नहीं होता है उस अणुत्व और महत्व के स्वतंत्र न होने से किन्तु द्रव्य आश्रित होने से, इसी प्रकार से कर्म भी अणुत्व वाला और महत्व वाला भी नहीं होता है । गुण भी अणुत्व और महत्व वाला नहीं होता है उसके=गुण के भी स्वतंत्र न होने से द्रव्य के आश्रयी होने से । जैस कर्मों से कर्म असम्बद्ध रहता है शून्य अर्थात रहित रहता है वैसे ही गुण भी गुण से असम्बद्ध रहते हैं शून्य रहते हैं, ऐसे कर्म भी अणुत्व से और महत्व से शून्य अर्थात रहित होते हैं, गुण भी अणुत्व और महत्व से शून्य अर्थात असम्बद्ध होते हैं, क्योंकि गुण गुण रहित होते हैं और कर्म भी गुण रहित होते हैं, और अणुत्व और महत्व ये दोनों गुण हैं इसलिए कर्म और गुण या अणुत्व महत्व (कोई भी लंबाई चौड़ाई ये सभी के सभी इनसे रहित होते हैं फिर भी बोलते हैं एक गुण दो गुण जैसे रूप में एक गुण है पर रूप में संख्या नही होती है यहाँ वस्तुत: द्रव्य में एकत्व होता है रूप में नहीं होता है) ॥१६॥

दीर्घत्वह्रस्वत्वयोरपि महत्त्वाणुत्वाभ्यां परिकर्मसादृश्यमतिदिशति –

एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥१७॥

(एतेन) महत्त्वाणुत्वयोर्लक्षणादिपरिकर्मणा (दीर्घत्वह्रस्वत्वे) यथासंख्यं दीर्घत्वह्रस्वत्वे (व्याख्याते) व्याख्याते वेदितव्ये । महत्त्वाणुत्वयोर्विषये यत्किञ्चिदुक्तं लक्षणादिकं तत् सर्वं दीर्घत्वह्रस्वत्वयोरपि तथैव विज्ञेयम् । तदत्र परिगण्यते – कारणबहुत्वाद् दीर्घत्वं कारणाबहुत्वाद्ध्रस्वत्वम्, उत्कर्षापेक्षं दीर्घत्वमपकर्षापेक्षं ह्रस्वत्वम् । दीर्घत्वं न दीर्घत्ववत्, ह्रस्वत्वं न ह्रस्वत्ववत् । इदं खलु महत्त्वाणुत्वाभ्यां सादृश्यं दीर्घत्वह्रस्वत्वयोरेतदर्थमुक्तं यतो हि यत्र महत्त्वं तत्र दीर्घत्वं यत्राणुत्वं तत्र ह्रस्वत्वम् । कथं पुनः कारणाभेदे कार्यभेदः? यतो हि गुरुत्वं प्रस्तारं वापेक्ष्य महत्त्वाणुत्वयोर्व्यवहारो लम्बत्वमपेक्ष्य दीर्घत्वह्रस्वत्वयोर्व्यवहारोऽस्तीति भेदः । व्यवह्रियते च समेषु महत्सु दीर्घोऽयं तथा समेषु दीर्घेषु महानयमिति । तत्र चतुःषु परिमाणेषु खल्वणुत्वमहत्वयोः परिमाणयोः प्राधान्यमिति ज्ञापयति ह्याचार्यस्य सूत्रशैली ॥१७॥

दीर्घत्व हृसत्व का भी महत्व और अणुत्व के साथ परिकर्म= प्रकृया सादृश्य दिखाता है, इस विषय में कहते हैं-

एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥१७॥

सूत्रार्थः- महत्व और अणु परिमाण के समान दीर्घत्व और हृसत्व परिमाण को भी समझना चाहिए ॥१७॥

भाष्यार्थ:- *(एतेन)* महत्व और अणुत्व के लक्षण आदि प्रक्रिया से *(दीर्घत्वह्रस्वत्वे)* यथासंख्य (क्रमानुसार) दीर्घत्व ह्रसत्व *की (व्याख्याते)* व्याख्या समझ लेनी चाहिए।महत् और अणुत्व के विषय में जो कुछ भी लक्षण आदि कहा गया है वह सब दीर्घत्व ह्रसत्व में भी वैसे ही जानना चाहिए । उसका यहाँ परिगणन करते हैं – कारण के बहुत्व होने से दीर्घत्व और कारण के अबहुत्व होने से ह्रसत्व है, उत्कर्ष की अपेकषा से दीर्घत्व अपकर्ष की अपेक्षा से ह्रसत्व होता है । दीर्घत्व दीर्घ वाला नहीं होता ह्रसत्व ह्रसत्ववाला नहीं होता । यह महत्व और अणुत्व के साथ सादृश्य दीर्घत्व और ह्रसत्व का इसलिए कहा जाता है क्योंकि जहां महत्व है वहाँ दीर्घत्व है और जहां अणुत्व है वहाँ ह्रसत्व है फिर कारण के भेद में कार्य का भेद क्यों ? क्योंकि गुरुत्व (भारीपन) या फैलाव की अपेक्षा से महत्व और अणुत्व का व्यवहार होता है और लंबत्व (लंबापन) की अपेक्षा से दीर्घत्व और ह्रसत्व का व्यवहार होता है इस प्रकार का भेद है, और समान महत् परिमाणों में यह दीर्घ है तथा समान दीर्घों में यह महान है इस प्रकार व्यवहार किया जाता है । उन चारों परिमाणों में अणुत्व और महत्व परिमाण की प्रधानता है यह जनाती है आचार्य की सूत्र शैली में ॥१७॥

किं तत्परिमाणं नित्यामथानित्यमित्यत्रोच्यते –

अनित्येऽनित्यम् ॥१८॥ नित्ये नित्यम् ॥१९॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति –

(अनित्ये अनित्यं नित्ये नित्यम्) एतद्यत्परिमाणमुक्तं तदनित्यं च नित्यं च भवति, अनित्यं खल्वनित्ये द्रव्ये वर्तमानं तस्यानित्यद्रव्यस्य नाशात् तदपि नश्यति तस्य यावदाश्रयद्रव्यभावित्वादाश्रयनाशात् । अथ नित्यं परिमाणं नित्ये द्रव्ये वर्तते तदाश्रयद्रव्यस्य नित्यत्वात् तस्य यावदाश्रयद्रव्यभावित्वात् ॥१८-१९॥

क्या वह परिमाण नित्य है अथवा अनित्य है? इसको यहाँ कहते हैं-

अनित्येऽनित्यम् ॥१८॥ नित्ये नित्यम् ॥१९॥

इन दोनों सूत्रों की एक वाक्यता है-

सूत्रार्थ:- अनित्य द्रव्य में परिमाण अनित्य तथा नित्य द्रव्य में नित्य परिमाण होता है ॥१८-१९॥

भाष्यार्थ:- *(अनित्ये अनित्यं नित्ये नित्यम्)* यह जो परिमाण कहा वह अनित्य और नित्य होता है, अनित्य द्रव्य अनित्य वर्तमान है उसका अनित्य द्रव्य के नाश होने से वह भी नष्ट हो जाता है उसका जो आश्रय विद्यमान होने से (वह परिमाण) और आश्रय के नाश होने से (उसका भी नाश हो जाता है) और नित्य परिमाण गुण नित्य द्रव्य में

रहता है उसके आश्रय द्रव्य के नित्य होने से जो आश्रय द्रव्य विद्यमान होने से ॥१८-१९॥

नित्यं परिमाणंनित्यं द्रव्यं किम् – इत्याकांक्षायामुच्यते –

नित्यं परिमण्डलम् ॥२०॥

(परिमण्डलं नित्यम्) परितः सर्वतो मण्डलं गोलं गोलाकारं निःशेषगोलाकारं परिमाणं द्रव्यं च यदणु महत् तन्नित्यं परिमाणं द्रव्यं च । परिमण्डलशब्देन सर्वतो गोलाकारं परिमाणं द्रव्यं चोभयं लक्ष्यते । तेनाणुमहदिति प्रधानं परिमाणद्वयमेव गृह्यते न दीर्घह्रस्वे । दीर्घह्रस्वे परिमाणे निमित्तकारिते द्रव्यान्तर्वर्तिनी भवतः, द्रव्यपीडनं हि तयोर्निमित्तं परन्तु परिमण्डलं परितः सर्वतः स्वतन्त्रमप्रतिबद्धमप्रतिहतं सर्वतो गोलाकारं तु पीडनमन्तरेण नैसर्गिकमेव भवति तच्च द्रव्यं खलु परमाणुराकाशश्च, तौ नित्यौ तयोश्चाणु महत् – इति परिमाणं नित्यम् । तथैव सम्यगुक्तं चन्द्रकान्तभाष्ये "तच्चैतत्परिमण्डलमणुमहच्च यथाविषयं वेदितव्यम्" अणुत्वे परमाणुर्निरतिशयगोलो गोलाकारो वा महत्त्वे चाकाशो निरतिशयगोलो गोलाकारो वा,परमाणौकेवलमणुत्वमाकाशे केवलं महत्त्वं नित्यमेव । शङ्करमिश्रेण सूत्रं न सम्यग्व्याख्यातम् ॥२०॥

नित्य परिमाण नित्य द्रव्य कौन सा है? इस आकांक्षा में कहते हैं-

नित्यं परिमण्डलम् ॥२०॥

सूत्रार्थ:- अणु और महत् परिमाण तथा अणु और महत् द्रव्य नित्य है।

भाष्यर्थ:- *(परिमण्डलं नित्यम्)* परित:= सर्व ओर से मण्डल, गोल= गोलाकार । पूर्ण रूप से गोलाकार परिमाण और द्रव्य है जो अनु और महत् है वह नित्य परिमाण और द्रव्य हैं । परिमण्डल शब्द से सब ओर से गोलाकार परिमाण और द्रव्य दोनों ग्रहण होते हैं । इससे अणु और महत् दो ही प्रधान परिमाण ग्रहीत होते हैं, दीर्घ और हृस्व नहीं । दीर्घ हृस्व परिमाण निमित्त के कारण से द्रव्य के अंतर्वर्ति होते हैं, द्रव्य का पीड़न (तोड़ना मारना आदि) ही उन (हृस्व और दीर्घ) के निमित्त हैं परंतु परिमंडल= परित:= सब ओर से स्वतंत्र न बंधा हुआ न पिटा (आघात किया) हुआ सब ओर से गोलाकार तो पीडन के बिना नैसर्गिक ही होता है और वह द्रव्य परमाणु और आकाश है वे दोनों नित्य हैं और उनके उनके अणु और महत् परिमाण भी नित्य हैं । वैसे ही चंद्रकांत भाष्य मे ठीक कहा है "तच्चैतत्परिमण्डलमणुमहच्च यथाविषयं वेदितव्यम्" अणुत्व में जो परमाणु हैं वह निरतिशय गोल या गोलाकार है और महत्व में आकाश निरतिशय गोल केवल महत्व नित्य ही है । शंकर मिश्र ने सूत्र की सम्यक व्याख्या नहीं की ॥२०॥

आमलकादिवत् कथं नापकर्षापेक्षं परमाणौ स्यादणुपरिमाणमनित्यं तथा कथं नोत्कर्षापेक्षमाकाशे महत्त्वमनित्यमित्यत्रोच्यते –

अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥२१॥

(अविद्या च विद्यालिङ्गम्) यथा ह्यविद्याकथनाद् विद्या लिङ्ग्यते ज्ञायते यदस्ति विद्या, न हि 'विद्यामन्तरेणाविद्या भवति तथैवापकर्षमपेक्ष्याणुपरिमाणमनित्यं सत् स्वभिन्नं नित्यमणुपरिमाणं क्वचिद्वर्तमानं साधयति, परमाणौखल्वपकर्षो निरतिशयस्तस्मात्तत्राणुपरिमाणं स्थितमेव, तथैवोत्कर्षमपेक्ष्य महत्परिमाणमनित्यं सत् स्वभिन्नं क्वचिद्वर्तमानं नित्यं महत्परिमाणंसाधयति, आकाशे खलूत्कर्षो निरतिशयस्तस्मात् तत्र महत्परिमाणंनित्यमस्ति। एतदपि सूत्रं शङ्करमिश्रादिभिर्न सारल्येन व्याख्यातम् ॥२१॥

अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥२१॥

सूत्रार्थः- जैसे अविद्या विद्या की सत्ता का प्रमाण है वैसे ही अनित्य परिमाण नित्य परिमाण का प्रमाण है ॥२१॥

भाष्यार्थः- (अविद्या च विद्यालिङ्गम्) जैसे अविद्या के कहने से विद्या जानी जाती है, कि विद्या है, क्योंकि विद्या के बिना अविद्या नहीं होती वैसे ही अपकर्ष कि अपेक्षा से अणु परिमाण अनित्य होते हुए अपने भिन्न किसी नित्य अणु परिमाण कि विद्यमानता सिद्ध होती है, परमाणु में निरतिशय अपकर्ष है इसलिए वहाँ अणु परिमाण अनित्य होते हुये अपने से भिन्न किसी विद्यमान नित्य महत् परिमाण को सिद्ध करता है, आकाश में निरतिशय उत्कर्ष है इसलिए उसमें महत् परिमाण नित्य है । यह सूत्र भी शंकर मिश्र आदि ने सरलता से व्याख्यात नहीं किया है ॥२१॥

कथमाकाशे महत्परिमाणं? नहि तत्राकाशेऽवयवोत्कर्षो निरतिशयस्तस्य निरवयवत्वात् । अत्रोच्यते –

विभवान्महानाकाशः॥२२ [क] तथा चात्मा ॥ २२ [ख]
तदभावात् अणु मनः ॥२३॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति-

(आकाशः महान् विभवात्) आकाशो महान् महत्परिमाणवानस्ति विभवात् – विभवो विभुत्वं सर्वद्रव्यसंयोगित्वमस्ति ह्याकाशस्य, तस्मादाकाशे महत्परिमाणं तच्च

नित्यमुक्तम् (तथा च आत्मा)'आत्मा' सामान्यं पदं परमात्मनि जीवात्मनि च प्रयुज्यते तस्मादेव पृथक् पठितो लक्षणाय, आकाशमनसोर्मध्ये च क्षिप्तः, नोचेत् "विभवान्महान्तावाकाशात्मानौ" इति सूत्रेण भवितव्यमासीत् । तेनायातमिदं यत् तथा च विभवाद् विभुत्वादात्मेति विश्वस्यात्मा परमात्मा महान्, परमात्मनो विभुत्वं सर्वान्तर्यामित्वमनन्तत्वं च तस्मात् परमात्मा महान् तत्रापि महत्त्वं नित्यम्(तदभावात्) आत्माऽनुकृष्यते । आत्मा शरीरस्यात्मा शारीर आत्मा विभुत्वाभावान्न महान् किन्तु स त्वेकदेशी शरीरवर्ती हि नहि शरीराद् बहिरस्ति *(मनः अणु) मनोऽणु खल्वस्ति न तु परमाणुवत् किन्तु तदभावाद् विभुत्वाभावादेव । उच्यते हि समानतन्त्रे "ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः .... यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु" (न्याय. ३।२।५८-६१) तथा चात्र वात्स्यायनः "अणु मनः .... ज्ञानायौगपद्यात्, महत्त्वे मनसः सर्वेन्द्रियसंयोगाद् युगपद् विषयग्रहणं स्यात्" जीवात्मा सर्वस्मिञ्छरीरे सर्वेष्विन्द्रियेषु निजचैतन्यशक्त्या तिष्ठति मनस्तु खल्वेकस्मिन्नेवेन्द्रिये प्रवर्तयितृत्वं भजते । अथवा (तदभावात् अणु मनः) विभुत्वाभावात् खल्वणु मनोऽस्ति, तथा चात्माऽनुकृष्यते मध्यपठितो देहलीदीपकन्यायतः, स चात्मा शारीरो विभुत्वाभावात् खल्वणुरस्ति प्रत्येकस्मिञ्छरीरे तस्य मनोवद् भिन्नभिन्नत्वाद् यथा मनः

---- ----- ---

*। "(प्रश्न) जीव शरीर से [में ?] भिन्न विभु है या परिच्छिन्न ? (उत्तर) परिच्छिन्न" (सत्यार्थप्रकाशसप्तम समु. दयानन्दः) वैशेषिककारः परमात्मनं मन्यते, साधितं हि पूर्वम् । जीवात्मानं चापि मन्यते हि तर्हि परमात्मा किंल्लक्षणस्तस्य मते-इति प्रश्नस्तथा परमात्मजीवात्मनोश्च भेदः कः । अत्र प्रसङ्गे खल्वेतत्सूत्ररचनयैव समाधानं कृतमाचार्येण सूत्रकृता, यत् परमात्मा विभुर्जीवात्मा त्वविभुरेकदेशी शरीरवर्ती । प्रत्येकस्मिञ्छरीरे भिन्नभिन्नं तथा चात्मा भिन्नभिन्नोऽणुः । आकाशसमकक्षतया य आत्मा परमात्मा स विभुर्महान् तथा मनोयोगादात्मा जीवात्माऽविभुरणुरस्ति । आकाशस्य महत्त्वंन कारणबहुत्वात् सावयवद्रव्यवत् किन्तु विभुत्वात् तथा मानसोऽणुत्वं न कारणाबहुत्वात् परमाणुवत्, एवं खलु परमात्मनो महत्त्वं न कारणबहुत्त्वात् सावयवद्रव्यवत् तथा न जीवात्मनोऽणुत्वं कारणबहुत्त्वात् परमाणुवदिति विवेकः । शङ्करमिश्रादिकृतं सूत्रव्याख्यानं न सूत्रशैलीमनुसरदस्ति ॥२२-२३॥

आकाश मेंमहत् परिमाण कैसे है? उस आकाश मे अवयवों का निरतिशय उत्कर्ष नहीं है उसके निरवयव वाला होने से । इस विषय में कहते हैं-

विभवान्महानाकाशः॥२२ [क] तथा चात्मा ॥ २२ [ख]

तदभावात् अणु मनः ॥२३॥

सूत्रार्थ:- व्यापक होने से आकाश महत् परिमाण वाला है उसी प्रकार ईश्वर भी महत् परिमाण वाला है । व्यापकत्व के अभाव होने से अणु है इसी प्रकार जीवात्मा भी अणु है ॥२२-२३॥

भाष्यार्थ:- *(आकाशः महान् विभवात्)* आकाश महान=महत् परिमाण वाला है विभु होने से, आकाश का विभव= विभु होना सभी द्रव्यों के साथ संयोगित्व है, इसलिए आकाश में महत् परिमाण है और वह नित्य कहा गया है “आत्मा” इस सामान्य पद से परमात्मा और जीवात्मा का प्रयोग होता है इसलिए ही पृथक रूप से लक्षण के लिए पढ़ा गया है, आकाश और मन के बीच में रखा गया है, नहीं तो *“विभवान्महान्तावाकाशात्मानौ”* इस प्रकार का सूत्र होना चाहिए था । इससे यह बात आई कि और वैसे ही विभु होने से विभुत्व होने से आत्मा=विश्व का आत्मा= परमात्मा महान है । परमात्मा का विभुत्व सर्वांतर्यामित्व और अनंतत्व है इसलिए परमात्मा महान है, उस (परमात्मा) में भी महत् परिमाण नित्य है, *(तदभावात्)* आत्मा कि अनुवृत्ति आती है । आत्मा=शरीर का आत्मा शरीर आत्मा विभुत्व का अभाव होने से महान नहीं है किन्तु वह तो एक देशी शरीरवर्ति ही रहता है शरीर से बाहर नहीं रहता **(मनः अणु)* मन अणु है (किन्तु) परमाणु के समान नहीं किन्तु उस के अभाव होने से= विभुत्व के अभाव होने से ही है, समान शास्त्र में कहा भी है *“ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः .... यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु” (न्याय. ३।२।५८-६१)* और यहाँ वैसे भी वात्स्यायन *“अणु मनः .... ज्ञानायौगपद्यात्,* महत्व मानने पर सभी इंद्रियों के साथ संयोग होने से एक साथ विषय का ग्रहण होना चाहिए”, जीवात्मा सभी शरीरों में सभी इंद्रियों में अपने चैतन्य शक्ति से रहता है मन तो एक ही इंद्रिय में प्रवृत्ति कराने वाला होता है । अथवा विभूत्व के अभाव होने से मन अणु है और आत्मा की अनुवृत्ति (ऊपर से लेंगे) मध्य पठित देहली दीपक न्याय से, और वह आत्मा शरीर में रहने वाला विभुत्व के अभाव होने से अणु हैं प्रत्येक शरीर में उसके मन के समान भिन्न-भिन्न होने से जैसे मन प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है वैसे आत्मा भिन्न-भिन्न है अणु है । आकाश के समकक्ष जो आत्मा=परमात्मा वह विभु= महान है, तथा मनोयोग से आत्मा=जीवात्मा अविभु=अणु है । आकाश का महत्व कारण के बहुत्व होने से नहीं है सावयव द्रव्य के समान किन्तु विभुत्व से है तथा मन का अणुत्व कारण के अबहुत्व होने से नहीं है परमाणु के समान, इसी प्रकार परमाणु का महत्व कारण के बहुत्व होने से नहीं है सावयव द्रव्य के सामन तथा जीवात्मा का अणुत्व कारण के अबहुत्व होने से नहीं है परमाणु के समान ऐसा व जानना चाहिए । शंकर मिश्र आदि कृत सूत्र व्याख्यान सूत्र के शैली के अनुसार नहीं किया है ॥२२-२३॥

अथ दिग्विषय उच्यते –

गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥२४॥

(दिक् गुणैः व्याख्याता) दिक् स्वगुणैर्विभुत्वप्रदर्शकैः सर्वानुभूतपूर्वापरादिभिः समस्तपदार्थस्थ परत्वापरत्वव्यवहारात्मकैर्महत्परिमाणवती नित्या च व्याख्याता वेदितव्या, तत्र नित्यायां च महत्परिमाणमपि नित्यम् ॥२४॥

अब दिशा के विषय में कहते हैं-

गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥२४॥

सूत्रार्थ:- अपनी परत्वापरत्व गुणों से दिशा भी नित्य है और उसमे महत् परिमाण भी नित्य समझना चाहिए ॥२४॥

भाष्यार्थ:- (दिक् गुणैः व्याख्याता) दिशा अपने गुणों से विभुत्व प्रदर्शक के द्वारा सर्वानुभूति पूर्व पर आदि से सभी पदार्थों में स्थित परत्व अपरत्व व्यवहार स्वरूप वाली महत् परिमाण वाली और नित्य व्याख्यात समझनी चाहिए, और उस नित्य में महत् परिमाण भी नित्य है ॥२४॥

अथ कालः –

कारणे कालः ॥२५॥

(कालः कारणे) पदार्थानामुत्पद्यमानानामुत्पत्तिः काले भवति, ह्यो जातोऽद्य जात इदनीं जायतेऽग्रे जनिष्यते तथा यथर्तूत्पद्यमानानामुत्पत्तिकारणं कालः सार्वत्रिको महान् नित्यश्च तत्र महत्परिमाणं नित्यम् ॥२५॥

अब काल-

कारणे कालः ॥२५॥

सूत्रार्थ:- वस्तुओं की उत्पत्ति के कारण में काल की गणना होने से काल भी एक नित्य पदार्थ है और उसका महत् परिमाण भी (गोल) है ॥२५॥

भाष्यार्थ:- *(कालः कारणे)* उत्पन्न होने वाले पदार्थों की उत्पत्ति काल में रहती है, कल उत्पन्न हुआ आज उत्पन्न हुआ अभी उत्पन्न हो रहा है। आगे उत्पन्न होगा तथा ऋतु में उत्पन्न होने वालों की उत्पत्ति का कारण काल है सार्वत्रिक= महान है और नित्य है उसमें महत् परिमाण भी नित्य है ॥२५॥

प्रथमाह्निकं समाप्तम्

सप्तमोऽध्यायः तत्र द्वितीयाह्निकम्

लाघवात् परिमाणं प्रथमं परीक्ष्य पुनरधुना क्रमानुरोधेन संख्यादीन् गुणान् परीक्षमाण आह –

रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादऽर्थान्तरमेकत्वम् ॥१॥

(रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकात्) ऐन्द्रियिकविषयेभ्यो रूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो गुणेभ्यो व्यतिरिक्तत्वाद् – यत्र खलु रूपादयो गुणा न विद्यन्ते तत्रापि विद्यमानत्वात् (एकत्वम् अर्थान्तरम्) एकत्वं गुणो भिन्नं वस्तु भिन्नो गुणस्तेभ्यो रूपरसगन्धस्पर्शेभ्यः । आकाशे काले च रूपरसगन्धस्पर्शा गुणा न सन्ति परन्त्वेकत्वमस्ति आकाश एकः काल एकः । रूपादिमत्सु चारूपादिमत्सु समानत्वेन वर्तमानत्वादेका संख्या रूपादिभ्यो भिन्ना, घट एकः पट एकस्तथाऽऽकाश एकः काल एक इति व्यवहारः सिद्ध एव ॥१॥

छोटा होने से परिमाण को प्रथम परीक्षा करके पुन: अब क्रमानुसार संख्यादि गुणों की परीक्षा करते हुए कहते हैं-

रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादऽर्थान्तरमेकत्वम् ॥१॥

सूत्रार्थ:- एक संख्या के रूप रस गन्ध स्पर्श वाले द्रव्यों से भिन्न द्रव्यों में भी पाए जाने से रुपादि गुणों से भिन्न गुण है।

भाष्यार्थ:- *(रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकात्)* ऐंद्रियिक विषय रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणों से भिन्न होने से जहां रूप आदि गुण नहीं होते वहाँ भी विद्यमान होने से, *(एकत्वम् अर्थान्तरम्)* एकत्व गुण भिन्न वस्तु है, और भिन्न गुण है उन रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणों से । आकाश में और काल में रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण नहीं है परंतु एकत्व है, आकाश एक है काल एक है । रूप आदि में और अरूपादि में समान रूप से वर्तमान होने से एक संख्या गुण रूप आदि से भिन्न है, घट एक है पट एक है तथा आकाश एक है काल एक है यह व्यवहार सिद्ध ही है ॥१॥

तथा पृथक्त्वम् ॥२॥

(तथा पृथक्त्वम्) यथा रूपरसगन्धस्पर्शेभ्योऽर्थान्तरं भिन्नं वस्तु खल्वेकत्वं तथा ह्येकपृथक्त्वमपि रूपादिभ्यो भिन्नो गुणः । रूपादिभ्यो व्यतिरिक्तत्वादेव, यथा रूपादिमान् घटः पटो वाऽस्त्येकोऽरूपादिमान् काल एक आकाश एकस्तथा पृथक् पृथक् च प्रत्येकः, तदेतत्पृथक्त्वमेकसंख्यान्वितमेकपृथक्त्वं रूपादिमति घटादौ यथाऽस्ति तथैवारूपादिमति खल्वाकाशे काले चाप्यस्ति, यथा घटात् पटः पृथगेकस्तथा

घटादाकाशोऽपि पृथगेकः पदार्थः । घट एकः पट एकः कट एक इति कथने यद्यप्येकत्वं गुणः प्रवर्तते परन्तु तत्र सर्वेषु तदेकत्वं नैकरूपं किन्तु पृथक् पृथगेव नोचेद् घटपटादिभेदो न स्यात् तस्मात् तत्रैकपृथक्त्वमपि गुण एकत्वेन गुणेन सह संवर्ततेऽत एकपृथक्त्वं गुणो रूपादिभ्यो भिन्नो गुणोऽस्तीति सिद्धम् ॥२॥

तथा पृथक्त्वम् ॥२॥

सूत्रार्थ:- तथा पूर्वोक्त हेतु से पृथक्त्व गुण भी रूपदी गुणों से भिन्न गुण है ॥२॥

भाष्यार्थ:- *(तथा पृथक्त्वम्)* जैसे रूप रस गंध स्पर्श से अर्थान्तर= भिन्न वस्तु एकत्व है वैसे ही एक पृथकत्व भी रूप आदि से भिन्न गुण है। रूप आदि से भिन्न होने से ही, जैसे रूप आदि वाला घट-पट एक है अरूप आदि वाला काल एक है आकाश एक है और वैसे प्रत्येक (सभी वस्तु) पृथक-पृथक है वह यह पृथकत्व एक संख्या से युक्त एक पृथकत्व रूप आदि वाले घट आदि में जैसे आई वैसे ही रूप आदि वाले आकाश में और काल में है । जैसे घट से पट पृथक है एक है वैसे घट से आकाश भी पृथक एक पदार्थ है। घट एक है पट एक है, ऐसा कहने पर यद्यपि एकत्व गुण है व्यवहार होता है परंतु उन सभी में उनका एकत्व एक समान नहीं है किन्तु पृथक पृथक ही है, नहीं तो घट पट आदि से भेद नहीं होगा इसलिए उनमें एक पृथकत्व भी गुण एकत्व गुण के साथ होता है इसलिए एक पृथकत्व गुण रूप आदि से भिन्न गुण है यह सिद्ध हुआ ॥२॥

एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥३॥

(एकत्वैकपृथक्त्वयोः एकत्वैकपृथक्त्वाभावः अणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः) एकत्वे खल्वेकत्वस्यैकपृथक्त्वेचैकपृथक्त्वस्याभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यांतुल्यो व्याख्यातो वेदितव्यः । यथाऽणुत्वेऽणुत्वं महत्त्वे महत्त्वं न भवति, गुणे गुणो न भवतीत्वर्थः । अथ च संख्याप्रसङ्गे सूत्रकृदाचार्य एकत्वं परीक्ष्य विरराम, यतो ह्येकत्वे परीक्षितं न द्वित्वादिपरीक्षणमपेक्ष्यते,एकैकस्मिन् वस्तुनि खल्वेकत्वं पृथक्पृथङ्निर्धार्य द्वित्वादिकं परिगण्यते ॥३॥

एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥३॥

सूत्रार्थ:- एकत्व में एकत्व का और एक पृथक्त्व में और एक पृथक्त्व का अभाव, अणुत्व में अणुत्व तथा महत्व में महत्व के अभाव के तुल्य जानना चाहिए ॥३॥

भाष्यार्थ:- *(एकत्वैकपृथक्त्वयोः एकत्वैकपृथक्त्वाभावः अणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः)* एकत्व में एकत्व का और एक पृथकत्व में एक पृथकत्व का अभाव अणुत्व और महत्व के समान व्याख्यात जानना चाहिए । जैसे अणुत्व मे अणुत्व महत्व में महत्व नहीं होता है, गुण में गुण नहीं होता है यह अर्थ है । और संख्या प्रसंग में सूत्र कृत आचार्य एकत्व की

परीक्षा करके रुक गए, क्योंकि एकत्व के परीक्षा करने पर द्वित्व आदि की परीक्षा अपेक्षित नहीं रहती, एक-एक वस्तु में एकत्व पृथक-पृथक निर्धारण करके द्वित्व आदि की परिगणना की जाती है ॥३॥

सैषा संख्या किं सर्वत्र द्रव्यगुणकर्मसु समानं प्रवर्ततेऽथ न अत्रोच्यते –

निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ॥४॥

(कर्मगुणानां निःसंख्यत्वात्) कर्मणां गुणानां च संख्यारहितत्वात् संख्यागुणरहितत्वात् (सर्वैकत्वं न विद्यते) संख्यायाः सर्वसमानत्वं सर्वेषु द्रव्यगुणकर्मसु समानवर्तमानत्वं नास्ति, किन्तु नानात्वं भेदः संख्यावत्त्वमसंख्यावत्त्वं च भवति, द्रव्ये तु संख्यावत्त्वं गुणकर्मणोरसंख्यावत्त्वम्। यतो द्रव्येषु ह्येकादिका संख्या वर्तते तस्याः संख्याया गुणत्वात्, संख्या खलु गुणः, गुणश्च द्रव्यवर्ती भवति न गुणवर्ती न कर्मवर्ती । उक्तं हि 'द्रव्याश्रयी – अगुणवान् .... गुणलक्षणम्" (१।१।१६) इति गुणे न गुणः "एकद्रव्यमगुणं .... कर्मलक्षणम्" (१।१।१७) इति कर्मणि न गुणः । संख्यायाः सति गुणत्वे स्वत एव गुणे कर्मणि च तदभावः सिद्धः, पुनः कथनं विशिष्टपरमर्शार्थं यश्च परामर्शोऽग्रिमेऽनन्तरसूत्रे विद्यते ॥४॥

और यह संख्या सर्वत्र द्रव्य गुण कर्म में समान रूप से प्रवृत्त होती है क्या अथवा नहीं? यहाँ बताते हैं-

निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ॥४॥

सूत्रार्थ:- कर्म और गुण संख्या रहित होने से सभी (द्रव्य, गुण, कर्म) में संख्या नहीं रहती ॥४॥

भाष्यार्थ:- *(कर्मगुणानां निःसंख्यत्वात्)* कर्मों के और गुणों के संख्या रहित होने से=संख्या गुण से रहित होने से *(सर्वैकत्वं न विद्यते)* संख्या का सर्वमानत्व=सभी द्रव्य गुण कार्यों में समान विद्यमानता नहीं है, किन्तु नानात्व (अनेकत्व) भेद है संख्यावत्व और संख्यावत्व होता है, द्रव्य में तो संख्यावत्व गुण कर्मों मे असंख्यावत्व है, क्योंकि द्रव्यों में ही एकादि संख्या होती है, उस संख्या का गुणत्व होने से संख्या गुण है और गुण द्रव्यवर्ति होता है गुणवर्ति नहीं न कर्मवर्ति । कहा भी गया है- *'द्रव्याश्रयी – अगुणवान् .... गुणलक्षणम्" (१।१।१६)* इस प्रकार गुण में गुण नहीं होता *"एकद्रव्यमगुणं .... कर्मलक्षणम्" (१।१।१७)* इस प्रकार कर्म में गुण नहीं होता। संख्या का गुणत्व होने पर स्वत: ही गुण में और कर्म में उसका अभाव सिद्ध है पुन: (इस सूत्र

का) कथन विशिष्ट परामर्श के लिए और जो परामर्श अग्रिम= अनन्तर सूत्र में विद्यमान है ॥४॥

ननु कथमुच्यते सर्वैकत्वं न संख्यायाः, यावता रूपमेकं रस एकः कर्मैकमुत्क्षेपणमिति गुणे कर्मणि भानं संख्याया भवति । अत्रोच्यते –

भ्रान्तं तत् ॥५॥

(तत् भ्रान्तम्) तत्संख्यैकत्वभानं द्रव्यवद् गुणे कर्मणि च भ्रान्तं भाक्तमित्यर्थः । अत्र "भ्रान्तशब्दो भाक्तार्थोऽस्ति यद्वा साक्षात् 'भाक्तं' शब्द एव स्यात् तदेतद् वृत्तमुत्तरसूत्रेणानूद्यते सम्पोष्यते वा "एकत्वाभावाद् भक्तिस्तु न विद्यते" (६) भाक्तो गौणः । संख्याया द्रव्यवृत्तित्वाद् द्रव्ये वर्तमाना संख्या तद्गुणे तत्कर्मणि च प्रतीयते न हि स्वातन्त्र्येण गुणे कर्मणि वा प्रवर्तते । तस्माद् द्रव्याश्रिता द्रव्यैकदेशाश्रिता यद्वा द्रव्यस्य विविधदेशाश्रिता संख्या द्रव्यनिष्ठयोर्गुणकर्मणोः प्रतिभासते, तत्र संख्याभानं भाक्तं गौणमवास्तविकमपारमार्थिकं लौकिकं वेति विज्ञेयं नहि दार्शनिकम् ॥५॥

अच्छा, सभी (द्रव्य गुण कर्मों) में संख्या का एकत्व क्यों नहीं कहा जा सकता? जितने रूप एक हैं रस एक हैं कर्म एक है उत्क्षेपण हैं इस प्रकार गुण और कर्म में संख्या का भान होता है। यहाँ कहते हैं-

भ्रान्तं तत् ॥५॥

सूत्रार्थ:- गुण और कर्म में संख्या गुण की प्रतीति होना गौण ज्ञान है मुख्य नहीं ॥५॥
भाष्यार्थ:- (तत् भ्रान्तम्) वह संख्या एकत्व का भान द्रव्य के समान गुण में और कर्म में भ्रांत=गौण है ऐसा अर्थ है, यहाँ "भ्रांत शब्द गौण अर्थ है अथवा साक्षात 'भाक्त' शब्द ही होवे वह यह व्यवहार उत्तर सूत्र से अनुद्यते=पुष्ट होता है *"एकत्वाभावाद् भक्तिस्तु न विद्यते" (६) भाक्तो गौणः*। संख्या का द्रव्य के आश्रित होने से= द्रव्य में वर्तमान संख्या उसके गुण और उसके कर्म में प्रतीति की जाती है स्वतंत्र रूप से आश्रित या द्रव्य के एक देश आश्रित अथवा द्रव्य के विविध देश आश्रित संख्या द्रव्य में रहने वाले गुण और कर्म में प्रतीति होती है, वहाँ संख्या का भान भाक्त=गौण= अवास्तविक =अपरमार्थिक अथवा लौकिक इस प्रकार का जानना चाहिए दार्शनिक नहीं ॥५॥

ननु द्रव्येष्वपि गुणकर्मणोरिव संख्यैकत्वं भ्रान्तं भाक्तं स्यादत्र का हानिरित्येतत् प्रतिविधीयते –

एकत्वाभावाद् भक्तिस्तु न विद्यते ॥६॥

(एकत्वाभावात् भक्तिः तु न विद्यते) द्रव्यगुणकर्मसु यदा संख्यासमानत्वाभावस्तदा द्रव्येषु संख्यैकत्वस्य भाक्तत्वं गौणत्वं तु न सम्भवति गुणे कर्मणि हि भाक्तत्वं स्याद् द्रव्ये

न, द्रव्यं हि तद्भिन्नं गुणकर्मभ्यां भिन्नं तदाश्रयश्च । अथवा – एकत्वाभावाद् द्रव्येऽपि संख्यैकत्वस्याभावादवर्तमानत्वाद् भक्तिर्भाक्तत्वं न सम्भवति, भाक्तं हि गौणं ज्ञानं भानं वा तदा वक्तुं शक्यते यदा क्वचित् तद् वास्तविकं मुख्यं वा भवेत् । द्रव्यगुणकर्माणि त्वर्थपदानि तत्र द्रव्यं स्वतन्त्रं गुणकर्मणी परतन्त्रे द्रव्यतन्त्रे, गुणकर्मणोस्तु वास्तविकेन मुख्येन संख्यैकत्वेन भवितव्यमेव न, पुनः परिशेषन्यायाद् द्रव्येषु हि संख्यैकत्वं वास्तविकं मुख्यं स्यादिति पुनस्तत्र भाक्तमिति कथनं प्रलापमात्रमसिद्धं च मुख्यत्वस्याभावे भाक्तत्वस्यासम्भवात् । सूत्रत्रयप्रदर्शितः संख्यैकत्वसन्दर्भः शङ्करमिश्रादिभिर्न सम्यग्व्याख्यातः ॥६॥

अच्छा द्रव्य में भी गुण और कर्म के समान संख्या का एकत्व भ्रांत=भाक्त होवे यहाँ क्या हानि है? इस परकर यह विधान किया जाता है-

एकत्वाभावाद् भक्तिस्तु न विद्यते ॥६॥

सूत्रार्थः- यदि द्रव्य में भी संख्या गुण मुख्य न माना जाय तो उसका गौणत्व व्यवहार भी संभव नहीं हो पाएगा ॥६॥

भाष्यार्थः- *(एकत्वाभावात् भक्तिः तु न विद्यते)* द्रव्य गुण और कर्मों मे जब संख्या समानत्व का अभाव होवे तब द्रव्य में संख्या एकत्व का भाक्तत्व=गौणत्व तो संभव नहीं है, गुण में कर्म में ही भाक्तत्व होवे द्रव्य में नहीं, द्रव्य उनसे भिन्न गुण से भिन्न और उनके आश्रय है। अथवा एकत्व का अभाव होने से= द्रव्य में भी संख्या एकत्व का अभव होने से अविद्यमानता होने से भक्ति=भाक्तव्य=गौणत्व संभव नहीं है, भाक्त=गौण ज्ञान या भान तब कह सकते हैं जब कहीं कोई वह वास्तविक होवे । द्रव्य गुण कर्म तो अर्थ पद है इनमें द्रव्य स्वतंत्र गुण कर्म परतंत्र है द्रव्य के आधीन है, गुण और कर्म का तो वास्तविक=मुख्य संख्या एकत्व नहीं होना चाहिए, फिर परिशेष न्याय से द्रव्य में ही संख्या एकत्व वास्तविक मुख्य होगा इस प्रकार फिर उसमें भाक्त (गौण) यह कथन प्रलाप मात्र सिद्ध हुआ मुख्यत्व के अभाव होने पर भाक्तत्व का असंभव होने से । प्रदर्शित तीनों सूत्रों का संख्या एकत्व संदर्भ मे शंकर मिश्र आदि ने ठीक व्याख्या नहीं की ॥६॥

तत्रैव विशिष्टवृत्तं प्रतिपाद्यते –

कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते ॥७॥

(कार्यकारणयोः एकत्वैकपृथक्त्वाभावात् एकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते) कार्ये कारणे च कार्यश्रेण्यां वा कारणश्रेण्यां खल्वेकत्वस्यैकपृथक्त्वस्य चाभावादसम्भवादेकत्वमेकपृथक्त्वं च कार्यं कारणं च न भवति- कार्यश्रेण्यां वा

कारणश्रेण्यामेकत्वमेकपृथक्त्वं वा न भवति तत्र तदसम्भवात् । रूपादिगुणो रूपादिगुणस्य कार्यं कारणं तु भवति कारणद्रव्ये कार्यद्रव्ये च निष्ठितः सन्, अर्थात् कारणद्रव्यस्थो रूपादिगुणः कारणं भवति कार्यद्रव्यस्थस्य रूपादिगुणस्य तथा कार्यद्रव्यस्थो रूपादिगुणःकार्यं भवति , कारणद्रव्यस्थस्य रूपादिगुणस्य,उक्तं यथा "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणोदृष्टः" (वै . २।१।२४) परन्त्वेकत्वमेकपृथक्त्वं च गुणः कारणद्रव्यस्थः कार्यद्रव्यस्थो वा सन्नपि कार्यं वा कारणं वा न भवति यतो ह्यनयोः कार्यकारणयोः पारस्परिकी कार्यकारणसम्भावना नास्ति । तद्यथा – कार्ये वस्त्रे यदेकत्वमेकपृथक्त्वं च गुणोऽस्ति, परन्तु तत्कारणे तन्तुषु त्वनेकत्वमनेकपृथक्त्वं च गुणोऽस्ति, संख्याया गुणत्वादपि कार्यस्थैका संख्या न कारणस्थसंख्यानेकत्वमनुसरति, न कारणगुणपूर्वकं कार्यस्थसंख्यैकत्वम् । अथ चैकस्य वस्त्रस्य शिरोवेष्टनमङ्गरक्षकं कौपीनादिकं चेत्यनेकानि परिधानीयानि सीव्यन्ते क्रियन्ते निर्मियन्ते वा तेषां कारणं त्वेकं वस्त्रं तस्य कार्याणि त्वनेकानि स्यूतानि शिरोवेष्टनादीनि, कारणे वस्त्रे खल्वेकत्वमेकपृथक्त्वं तत्कार्येषु शिरोवेष्टानादिषु त्वनेकत्वमनेकपृथक्त्वमस्ति न चैतत् कारणगुणपूर्वकम् । अतः संख्याया एकत्वमेकपृथक्त्वं च कार्यश्रेण्यां कार्यकोट्यां कारणश्रेण्यां कारणकोट्यां न स्तः । शङ्करमिश्रादिभिः कार्यकारणयोरवयवावयविनोरभेदं सांख्यीयं कल्पयित्वा तन्निराकरणार्थं सूत्रमसम्बद्धं व्याख्यातं तत्र न तथाप्रसङ्गः, प्रसङ्गस्त्वत्र गुणानां पारस्परिककार्यकारणात्मकः उत्तरसूत्रेणापि स्पष्टमेतत् "एतदनित्ययोर्व्याख्यातम्" ॥७॥

वहीं विशिष्ट व्यवहार प्रतिपादन किया जाता है-

कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते ॥७॥

सूत्रार्थ:- कार्य और कारण की श्रेणी में (सूची में) एकत्व और एक पृथकत्व का अभाव होने से एकत्व और एक पृथकत्व स्वसदृश गुण के कार्यकारण नही होते ॥७॥

भाष्यार्थ:- *(कार्यकारणयोः एकत्वैकपृथक्त्वाभावात् एकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते)* कार्य में कारण में कार्य श्रेणी में और कारण श्रेणी में एकत्व का और एक पृथकत्व का अभाव होने से असंभव होने से एकत्व कार्य और कारण नहीं होता है न कार्य होता है अथवा न कारण होता है कार्य श्रेणी में या कारण श्रेणी में एकत्व या एक पृथकत्व नहीं होता है उनमें वीएच असंभव होने से । रूप आदि गुण रूप आदि गुण का कार्य कारण होता है कारण द्रव्य में और कार्य द्रव्य में रहता हुआ अर्थात कारण द्रव्य में स्थित रूप आदि गुण कारण होता है, कार्य में स्थित रूप आदि गुण का वैसे ही कार्य द्रव्य में स्थित रूप आदि गुण कार्य होता है कारण द्रव्य में स्थित रूप आदि गुण का, जैसे कहा गया है- *"कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणोदृष्टः" (वै . २।१।२४)* परंतु एकत्व और एक पृथकत्व गुण कारण द्रव्य में स्थित या कार्य द्रव्य में स्थित होता हुआ भी कार्य या कारण नही होता है

क्योंकि इन कार्य कारण में पारस्परिक कार्य कारण की संभावना नहीं है । जैसे कार्य वस्त्र में जो एकत्व और एक पृथकत्व गुण है, परंतु उसके कारण तन्तु में तो अनेकत्व और अनेक पृथकत्व गुण है, संख्या का गुण होने से भी कार्यस्थ एक संख्या कारणस्थ अनेक संख्या का अनुसरण नही करती, कारण गुण पूर्वक कार्यस्थ एकत्व संख्या नहीं है । और एक वस्त्र का पगड़ी, लुंगी, कौपीन आदि अनेक पहनने योग्य वस्त्र सीये जाते हैं किया जाता है निर्माण किया जाता है उनका कारण तो एक वस्त्र है उसके कार्य तो अनेक हैं, पगड़ी आदि, कारण वस्त्र में तो एकत्व और एक पृथकत्व है उसके कार्यों पगड़ी आदि में तो अनेकत्व अनेक पृथकत्व है और यह कारण गुण पूर्वक नहीं है । इसलिए संख्या का एकत्व और एक पृथकत्व कार्य श्रेणी में=कार्य कोटी में, कारण श्रेणी में= कारण कोटी में नहीं है । शंकर मिश्र आदि ने कार्य कारण का अवयवावयवी का अभेद सांख्य के अनुसार कल्पना करके उसके निराकरण के लिए सूत्र को असम्बद्ध व्याख्या की है हाँ वैसे ऐसा प्रसंग नहीं है, यहाँ तो गुणों का परस्पर कार्य कारण वाला है जो उत्तर सूत्र से भी यह स्पष्ट है । *"एतदनित्ययोर्व्याख्यातम्"* ॥७॥

परन्तु तच्च –

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥८॥

(एतत् अनित्ययोः व्याख्यातम्) एतत् पूर्वानन्तरसूत्रोक्तं कथनं मतं वा खल्वनित्ययोरेकत्वैकपृथक्त्वयोः कारणकार्यस्थयोर्व्याख्यातमुदाहृतं वेदितव्यं नित्यमेकत्वमेकपृथक्त्वं तु भवति कारणं कार्यं च, अत्र निदर्शनम् – नित्ये वायव्ये तैजसेऽथाप्ये परमाणौ तन्मात्रे सूक्ष्मभूते त्वेकत्वमेकपृथक्त्वं नित्यं च कारणं पुनः क्रमेण नित्ये कार्ये द्रव्ये वायौ तेजसि जले चैकत्वमेकपृथक्त्वं नित्यं च कारणं पुनः क्रमेण नित्ये कार्ये द्रव्ये वायौ तेजसि जले चैकत्वमेकपृथक्त्वं च कार्यमस्ति हि कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणः,शङ्करमिश्रादिभिर्विपरीतमेव व्याख्यातं सूत्रम् ॥८॥

परंतु और वह –

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥८॥

सूत्रार्थ:- ये नियम नित्यनित्य सभी प्रकार के द्रव्यों में स्थित एकत्व और एक पृथकत्व के संबंध में जानना चाहिए ॥८॥

भाष्यार्थ:- *(एतत् अनित्ययोः व्याख्यातम्)* यह पूर्वान्तर सूत्रोक्त कथन या मत को अनित्य और एकत्व और एक पृथकत्व का कारण और कार्य में स्थित व्याख्या को उदाहृत जानना चाहिए। नित्य एकत्व और एक पृथकत्व तो कार्य कारण होता है, यहाँ

उदाहरण दिया जाता है – नित्य वायवीय आग्नेय और जलीय परमाणु में तन्मात्रा सूक्ष्म भूत में तो एकत्व और एक पृथकत्व और नित्य कारण है फिर क्रम से नित्य कार्य द्रव्य वायु अग्नि और जल में एकत्व और एक पृथकत्व कार्य है ही कारण गुण पूर्वक कार्य गुण, शंकर मिश्र आदि ने इस सूत्र की विपरीत ही व्याख्या की है ॥८॥

अथ क्रमप्राप्तौ संयोगविभागौ परिलक्ष्येते –

अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ॥९॥

एतेन विभागो व्याख्यातः ॥१०॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति –

(संयोगः अन्यतरकर्मजः उभयकर्मजः) संयोगो भवति खल्वनेकवस्तुवर्ती स च कर्मजन्यः उक्तं हि "संयोगविभागवेगानां कर्मसमानम् [कारणम्]" (१।१।२०) "संयोगविभागाश्च कर्मणाम् [कार्याणि]"(१।१।३०) अत एवात्र तत्प्रकारः प्रदर्श्यते स एष संयोगोऽन्यतरकर्मजः संयोगं प्राप्यमाणयोर्वस्तुनोरेकतरस्य कर्मजन्यो यथा पक्षिकर्मणो जातः पक्षिवृक्षयोः संयोगः प्रथमविधः, उभयकर्मजः खलूभययोर्द्वयोर्वस्तुनोः कर्मभ्यां जातः स मेषयोर्मल्लयोः स्पर्द्धमानयोः, सम्मुखधावतोः पुरुषयोर्यानयोर्वा द्वितीयः । तथा (संयोगजः च) संयोगाज्जातोऽपि संयोगो भवति यथाहस्ततरुसंयोगाच्छरीरतरुसंयोगः,हस्तसंयुक्तदण्डस्यामेध्यसंयोगादभेध्यशरीरसंयोगः, त्रयाणां शङ्कूनां बन्धनसंयोगात् परस्परं त्रिशङ्कुसंयोगस्तृतीयो भवति (एतेन विभागः व्याख्यातः) एतेन पूर्वोक्तप्रकारेणान्यतरकर्मजः – उभयकर्मजः विभागजश्च विभागो व्याख्यातो वेदितव्यः । तद्यथा गृहकोणस्थितस्य पक्षिणो गृहाद् विभागः पक्षिकर्मजन्योऽन्यतरकर्मजः प्रथमः, युध्यमानयोर्मेषयोर्मल्लयोः परस्परं विभाग उभयकर्मजो द्वितीयः, शङ्कुभ्यो बन्धनरज्जूविभागात् परस्परं शङ्कूना विभागः हस्तदण्डामेध्यानां विभागाच्छरीरामेध्यविभागस्तृतीयः । संयोगः खलु पृथग्भूतयोः सङ्गतिरप्राप्तयोः प्राप्तिर्वा, विभागस्तु तद्विपरीतः संयुक्तयोः पृथग्गमनं पृथग्भावः, न तु पूर्वतः पृथगवस्थितिर्विभागः, विभागस्य कर्मजन्यत्वात् ॥९-१०॥

अब क्रम प्राप्त संयोग और विभाग की परीक्षा करते हैं-

अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ॥९॥

एतेन विभागो व्याख्यातः ॥१०॥

इन दोनों सूत्रों की एक वाक्यता है-

सूत्रार्थ:- एक द्रव्य के कर्म से, दो द्रव्यों के कर्म से और संयोग से भी संयोग उत्पन्न होता है।
इसी प्रकार से विभाग भी समझना चाहिए।॥९-१०॥
भाष्यार्थ:- *(संयोगः अन्यतरकर्मजः उभयकर्मजः)* संयोग अनेक वस्तु के आश्रित होता है और वह कर्म से उत्पन्न होता है कहा भी गया है- "संयोगविभागवेगानां कर्मसमानम् [कारणम्]" (१।१।२०) "संयोगविभागाश्च कर्मणाम् [कार्याणि]"(१।१।३०) इसलिए उसके प्रकार दिखाया जाता है, वह यह संयोग अन्यतर कर्मण= संयोग को प्राप्त किए हुए वस्तुओं में एक का कर्म जन्य जैसे पक्षी के कर्म से उत्पन्न पक्षी वृक्ष में संयोग प्रथम प्रकार का है, उभय कर्मज= दोनों वस्तुओं के कर्म से उत्पन्न वह जैसे दो बैल या मल्लों की स्पर्धा करना, आमने सामने दौड़ते हुए पुरुषों का या यानों का द्वितीय प्रकार है।*(संयोगजः च)* और संयोग से उत्पन्न भी संयोग होता है जैसे हस्त और वृक्ष के संयोग से शरीर और वृक्ष का संयोग होता है, हस्त संयुक्त दंड का आमेध्य=गंदगी संयोग से अमेध्य= गंदगी का शरीर से संयोग होता है, तीन शंकु (पैर) के बंधन के संयोग से परस्पर त्रिशंकु संयोग तृतीय प्रकार है ।*(एतेन विभागः व्याख्यातः)* इस पूर्वोक्त प्रकार से अन्यतर कर्मज= उभय कर्मज और विभागज विभाग की व्याख्या जान लेनी चाहिए। जैसे घर के कोण में स्थित पक्षी का घर से विभाग पक्षी कर्म जन्य अन्यतर कर्मज पहला प्रकार है । लड़ते हुए दो बैल या मल्लों का परस्पर विभाग उभय कर्मज द्वितीय प्रकार है, शंकु से बांध रज्जु का विभाग से परस्पर शंकुओं का विभाग होता है, हस्त दण्ड अमेध्य के विभाग से शरीर अमेध्य का विभाग होता है, तृतीय प्रकार है । संयोग= पृथक भूत वस्तुओं का संगति=मिलना की प्राप्ति अथवा प्राप्ति का संयोग कहाता है, उससे विपरीत संयुक्तों का प्रथक भाव को विभाग कहाता है, विभाग का कर्म जन्य होने से ॥९-१०॥

तत्र –

संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥११॥
(संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावः) संयोगे संयोगाभावो विभागे विभागाभावोऽस्ति (अणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः) अणुत्वेऽणुत्वाभावो महत्त्वे महत्त्वाभावो यथा तथैवात्रापि विज्ञेयम् ॥११॥

उन में-

संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥११॥

सूत्रार्थः- संयोग और विभाग में संयोग और विभागा का अभाव अणुत्व और महत्व के समान समझना चाहिए ॥११॥

भाष्यार्थः- *(संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावः)* संयोग में संयोग का अभाव विभाग में विभाग का अभाव है, *(अणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः)* जैसे अणुत्व में अणुत्व का अभाव महत्व में महत्व का अभाव होता है वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिए ॥११॥

कथं कृत्वेत्युच्यते –

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति ॥१२॥

(कर्मभिः कर्माणि गुणैः च गुणाः अणुत्वमहत्त्वाभ्याम् इति) कर्मभिरसम्बद्धानि कर्माणि गुणैरसम्बद्धा गुणा भवन्तीत्युक्तं पुरस्तात्, संयोगविभागौ च गुणौ तौ न गुणेन सम्बद्धौ तस्मादेव तौ संयोगविभागौ खल्वणुत्वमहत्त्वाभ्यां न सम्बद्धौ न हि तत्राणुत्वं महत्त्वमिति, अणुत्वमहत्त्वयोर्गुणत्वात् ॥१२॥

कैसे करके इसको कहते हैं-

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति ॥१२॥

सूत्रार्थः- कर्मों से कर्म रहित होते है गुणों से गुण रहित होते है इस हेतु से संयोग और विभाग ऊणत्व और महत्व से रहित है ॥१२॥

भाष्यार्थः- *(कर्मभिः कर्माणि गुणैः च गुणाः अणुत्वमहत्त्वाभ्याम् इति)* कर्म कर्म के साथ असम्बद्ध होता है गुण गुणों के साथ असम्बद्ध होते हैं इस प्रकार तो पहले कह चुके हैं, संयोग और विभाग गुण हैं वे गुण के साथ सम्बद्ध नहीं है इसलिए ही वे संयोग विभाग अणुत्व और महत्व के साथ सम्बद्ध नहीं है न ही उनमें अणुत्व और महत्व है (क्योंकि) अणुत्व और महत्व के गुण होने से ॥१२॥

अधुना संयोगविभागविषये विशिष्टवृत्तमुच्यते –

युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ॥१३॥

विज्ञप्तिः – अस्य सूत्रस्यान्यभाष्यकारैर्योऽर्थो विहितस्तत्रार्थे सूत्रप्रणयनमनावश्यकम् । उपस्कारवृतौ तु "द्रव्ययोरवयवावयविनोः संयोगः संयोगसम्बन्धो युतसिद्धेरभावान्नास्ति" इत्युक्तं परन्तु सूत्रे तु "संयोगविभागौ" विचारणायामुपस्थापितौ सूत्रकारेण किन्तूपस्कारवृत्तौ संयोग एव विचारणायां गृहीतः । अन्यभाष्यकारैर्यद्यपि संयोगविभागौ द्वावपि विचारणायां गृहीतौ परन्तु यदा संयोगविभागौ खल्वन्यतरकर्मजौ तथौभयकर्मजौ युतसिद्धयोः पृथक् पृथगवस्थियोर्द्रव्ययोस्तत्कर्मसम्भवौ तदा कार्यकारणस्थौ संयोगविभागौ स्वत एव न भवतस्तत्र विचारणा खल्वनवसरा । तस्मादत्र केनचिद् विशिष्टेनार्थेन भवितव्यम् । स

चार्थोऽत्राधुना विधीयते – (संयोगविभागौ कार्यकारणयोः न विद्येते) संयोगविभागौ निजकार्ये शब्दे +न विद्येते । यथा तन्तवो निजकार्ये वस्त्रे विद्यन्ते । अथ च संयोगविभागौ निजकारणे कर्मणि ++ ण विद्येते ।यथा तन्तुषु तन्यमानेषु तत्तेषु वा निजकारणेषु वस्त्रं विद्यते । कुतो न विद्येते इत्यत्र हेतुरुच्यते (युतसिद्ध्यभावात्) द्रव्यवत्कार्यकारणपृथग्दृष्टिसिद्धेरभावात् । न हि संयोगविभागौ स्वकार्ये शब्दे पृथग्दृष्ट्योपलभ्येते वस्त्रे तन्तव इव तत्कार्यशब्दस्यास्थिरत्वात् तथा न च संयोगविभागौ स्वकारणे कर्मणि पृथग्दृष्ट्योपलभ्येते तन्तुषु वस्त्रमिव तत्कारणकर्मणोऽस्थिरत्वात् । एवं संयोगविभागौ स्वकार्यस्य शब्दस्य न समवायिकारणे स्तो न च स्वकारणस्य कर्मणोऽन्वयिकार्ये स्तः । संयोगविभागयोर्ये कार्यकारणे शब्दकर्मणी स्तस्ते उभेऽस्थिरे इति यतः ॥१३॥

अब संयोग विभाग के विषय में विशिष्ट व्यवहार बताते हैं-

युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ॥१३॥

सूत्रार्थ:- संयोग और विभाग अपने कार्य शब्द और कारण शब्द मे नहीं रहते। स्वतंत्र अस्तित्व के सिद्धि के न होने से ॥१३॥

भाष्यार्थ:- विज्ञप्ति- इस सूत्र का अन्य भाष्यकारों के द्वारा जो अर्थ विधान किया है उस अर्थ में सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं है । उपस्कार वृत्ति में तो "द्रव्ययोरवयवावयविनोः संयोगः संयोगसम्बन्धो युतसिद्धेरभावान्नास्ति" (अर्थात "द्रव्यों का या अवयवी के संयोग का संबंध नहीं होता क्योंकि स्वतन्त्र अस्तित्व का अभाव होने से") यह कहा गया है परंतु सूत्र में तो "संयोग विभागौ " विचारणीय विषय के रूप में स्थापित किया गया सूत्रकार द्वारा, किन्तु उपस्कार वृत्ति में संयोग ही विचारणीय विषय में ग्रहीत है । अन्य भाष्यकारों ने यद्यपि संयोग विभाग अन्यतर कर्मज और उभय कर्मज स्वतन्त्र अस्तित्व (सिद्धि) में या पृथक पृथक अवस्थित द्रव्यों में उस कर्म से (उत्पन्न होने वाला) संभव हो तब कार्य कारणस्थ संयोग विभाग स्वत: ही नहीं होता है उस विषय में विचार का अवसर नहीं है । इसलिए यहाँ कुछ विशिष्ट अर्थ होना चाहिए और वीएच अर्थ अब यहाँ विधान करते हैं-

(संयोगविभागौ कार्यकारणयोः न विद्येते) संयोग और विभाग अपने कार्य शब्द में नहीं रहता है । जैसे तन्तु अपने कार्य वस्त्र में रहते हैं । और संयोग विभाग अपने कारण कर्म में नहीं रहते । जैसे तन्तु ताने जा रहे हैं या ताने जा चुके हैं निज कारण में वस्त्र विद्यमान रहता है । (संयोग और विभाग अपने कार्य कारण में) क्यों विद्यमान नहीं रहता? (युतसिद्ध्यभावात्) इसका यहाँ हेतु दिया जाता है द्रव्य के समान कार्य कारण पृथक दृष्टि की सिद्धि का अभाव होने से । संयोग विभाग अपने कार्य शब्द में पृथक रूप से उपलब्ध नहीं होते हैं वस्त्र में तन्तु के समान उसके कार्य शब्द का अस्थिर

होने से तथा संयोग और विभाग अपने कारण कर्म में पृथक रूप से उपलब्ध नहीं होता है , तंतुओं में वस्त्र के समान उसके कारण कार्य के अस्थिर होने से । इसी प्रकार संयोग विभाग अपने कार्य शब्द का समवायि कारण नहीं होता है और न अपने कारण कर्म के अन्वयी कार्य होते हैं । संयोग विभाग में जो कोई कार्य कारण शब्द और कर्म हैं वे दोनों अष्टिर होते हैं ॥१३॥

संयोगविभागौ स्वकार्ये समवायित्वेन तथा स्वकारणेऽन्वयित्वेन कुतो न विद्येतेऽत्रान्योऽपि हेतुरुच्यते –

गुणत्वात् ॥१४॥

(गुणत्वात्) तयोः संयोगविभागयोर्गुणत्वात् खलु, न हि समवायि नान्वयि गुणो भवति । गुणः कस्यापि समवायिकारणं तथा कस्यचिदन्वयि कार्यं न भवति । द्रव्यं हि समवायि चान्वयि च भवतीति । इदमपि सूत्रमन्यैरन्यथा व्याख्यातम् ॥१४॥

संयोग और विभाग अपने कार्य में असमवायि रूप से तथा अपने कारण में अन्वयि रूप से क्यों नहीं रहते हैं ? यहाँ अन्य हेतु कहा जाता है-

गुणत्वात् ॥१४॥

सूत्रार्थ:- संयोग और विभाग गुण होने से भी अपने कार्य और कारण शब्द और कर्म में नहीं रहते ॥१४॥

भाष्यार्थ:- *(गुणत्वात्)* दोनों संयोग और विभाग के गुण वाला होने से गुण न समवायि और न अन्वयी होते हैं । गुण किसी का भी समवायिकारण तथा किसी का भी अन्वयि कार्य नहीं होता है । द्रव्य ही समवायि और अन्वयि होता है। यह सूत्र भी अन्यों ने अन्यथा व्याख्यात किया है ॥१४॥

---- ---- ---- --

+ “संयोगाद् विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः” (वै . २।२।३१)
++ “संयोगविभागवेगानां कर्मसमानम्[कारणम्]” (वै . १।१।२०)
“संयोगविभागवेगाश्च कर्मणाम् [कार्याणि]” (वै . १।१।३०

संयोगविभागप्रकरणतः सम्बद्धो विशिष्टप्रसङ्ग उत्थाप्यते –

गुणोऽपि विभाव्यते ॥१५॥

(गुणःअपि विभाव्यते) संयोगविभागजन्यः शब्दः, तेन शब्देन रूपादिगुणोऽपि निरूप्यते निर्दिश्यते सङ्केत्यते नीलं कपिलं रक्तमित्यादि, अपि शब्दाद् द्रव्यमात्रवृत्तिप्रतिषेधो

लक्ष्यतेऽर्थाद् द्रव्यमेव निरूप्यते शब्देनेति न, गुणोऽपि निरूप्यते, तेन चापिना कर्माप्युत्प्रेक्षितुं शक्यते, गच्छति पचतीति यथा । तत्रात्राकांक्षान्यतरकर्मजः संयोगसम्बन्धोऽपि शब्दस्यार्थेन सह न सम्भाव्यते यदि द्रव्यमेव शब्देन निरूप्येत तदान्यतरकर्मजो द्रव्यकर्मजः संयोगसम्बन्धः कल्पयितुं शक्यते ॥१५॥

संयोग विभाग प्रकरण से सम्बद्ध विशिष्ट प्रसंग उठाया जाता है-

गुणोऽपि विभाव्यते ॥१५॥

सूत्रार्थ:- शब्द से केवल द्रव्य का ही कथन नहीं होता बल्कि गुण और कर्म का भी कथन होता है ॥१५॥

भाष्यार्थ:- *(गुणःअपि विभाव्यते)* संयोग और विभाग से शब्द उत्पन्न होता है, उस शब्द से रूप आदि गुणों का भी कथन किया जाता है निर्देश किया जाता है संकेत किया जाता है। नीला, काला, लाल आदि 'अपि' शब्द से द्रव्य मात्र वृत्ति (व्यवहार) का प्रतिषेध लक्षित किया जाता है अर्थात द्रव्य ही शब्द से कहा जाता है, गुण भी कहा जाता है और इस 'अपि' से कर्म का भी अनुमान किया जा सकता है जैसे- जाता है, पकाता है । वह यह आकांक्षा अन्यतर कर्मज संयोग संबंध भी शब्द का अर्थ के साथ संभावना नहीं की जा सकती यदि द्रव्य ही शब्द से कथन किया जाता है तब अन्यतर कर्मज द्रव्य कर्मज संयोग संबंध की कल्पना की जा सकती है ॥१५॥

निष्क्रियत्वात् ॥१६॥

(निष्क्रियत्वात्) रूपादिगुणेन सह शब्दस्य सम्बन्धः शब्दकर्मजन्यः सम्भाव्येत । अत्रोच्यते – शब्दस्य निष्क्रियत्वात् कथं स्यात् कथमपि न स्यादित्यर्थः ॥१६॥

निष्क्रियत्वात् ॥१६॥

सूत्रार्थ:- शब्द के कर्मरहित होने से शब्द और द्रव्य का संयोग संबंध नहीं होता ॥१६॥

भाष्यार्थ:- *(निष्क्रियत्वात्)* रूप आदि के साथ शब्द का संबंध शब्द कर्म जन्य संभावना करते हो तो उस विषय में करते हैं। शब्द के निष्क्रिय होने से कैसे होवे अर्थात कैसे भी नहीं हो सकता ॥१६॥

द्रव्येण सहापि द्रव्यकर्मजः सम्बन्धः कल्प्येत, तत्र कुतो न सम्भाव्येत । अत्रान्यो हेतुः –

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥१७॥

(असति) अविद्यामाने घटे (न अस्ति इति प्रयोगात्) गृहे घटो न अस्ति इति प्रयोगात् द्रव्ये विद्यमाने यथा घटोऽस्ति इति शब्दः प्रयुज्यते । तेन शब्दस्यार्थेन सह सम्बन्धः कथमपि न सम्भाव्येतोभयकर्मजोऽन्यतरकर्मजो वा ॥१७॥

द्रव्य के साथ भी द्रव्य कर्मज सम्बंध की कल्पना की जाए तो वहाँ कैसे संभावना न होवे। इस विषय में अन्य हेतु-

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥१७॥

सूत्रार्थ:- घटादि पदार्थों के न होने पर भी घट नहीं है ऐसा शब्दों का प्रयोग होने से शब्द और अर्थ का संयोग संबंध नहीं है ॥१७॥

भाष्यार्थ:- *(असति)* घट के विद्यमान होने पर *(न अस्ति इति प्रयोगात्)* घर में घट नहीं है इस प्रकार प्रयोग से द्रव्य के विद्यमान होने पर घट है इस प्रकार शब्द प्रयोग होता है वैसे तद भावे= द्रव्य के अभाव में= अविद्यमान में भी तो शब्द प्रयोग होता है। इससे शब्द का अर्थ के साथ सम्बंध कैसे भी संभव नहीं है, चाहे अन्यतर कर्मज हो चाहे उभय कर्मज होवे ॥१७॥

तस्मात् –

शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥१८॥

(शब्दार्थौ असम्बन्धौ) शब्दार्थौ खलूभयकर्मजसम्बन्धेनान्यतरकर्मज-सम्बन्धेन च रहितौ, न हि तयोः शब्दार्थयोरुभयकर्मजः सम्बन्धो नान्यतरकर्मजः सम्बन्धोऽस्ति, अथ च सम्बन्धाभावकथनात् समवायसम्बन्धस्यापि प्रतिषेधो लक्ष्यते शब्दार्थयोः । एवं शब्दार्थयोः परस्परं न संयोगसम्बन्धो न च समवायसम्बन्धोऽस्ति ॥१८॥

इसलिए -

शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥१८॥

सूत्रार्थ:- शब्द और अर्थ का न संयोग संबंध है न समवाय संबंध है ॥१८॥

भाष्यार्थ:- (शब्दार्थौ असम्बन्धौ) शब्द और अर्थ उभय कर्मज सम्बंध से रहित और अन्यतर कर्मज सम्बंध से रहित है, दोनों शब्द और अर्थ का उभय कर्मज सम्बंध या अन्यतर कर्मज सम्बंध नहीं होता है। और सम्बंध का भी प्रतिषेध लक्षित होता है शब्द और अर्थ का इस प्रकार शब्द और अर्थ का परस्पर संयोग सम्बंध नहीं है और न ही समवाय सम्बंध है ॥१८॥

तत्र संयोगेसम्बन्धस्य समवायसम्बन्धस्य स्थानमुदाह्रियते –

संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषात् ॥१९॥

(दण्डात् संयोगिनः विशेषात् समवायिनः) दण्डात्दण्डधारणसंयोगाद् दण्डसंयोगिनः पुरुषस्य प्रत्ययो दण्डी संन्यासीति संयोगसम्बन्धस्योदाहरणम्, विशेषाद् वस्त्वन्तर्गताद्विशिष्टधर्माद्विशिष्टाङ्गात्खल्वङ्गिनः समवायिनस्तत्समवेतधर्मिणो हस्तिनः शिखिनो वा हस्तीशिखीति समवायसम्बन्धस्योदाहरणम् । न तथा शब्दार्थयोः संयोगः समवायो वा सम्बन्धः ॥१९॥

उस संयोग सम्बंध का और समवाय सम्बंध के स्थान का उदाहरण दिया जाता है-

संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषात् ॥१९॥

सूत्रार्थः- दण्ड के संयोग से संयोगी द्रव्य का उदाहरण बनता है अङ्ग विशेषादि से समवायि द्रव्यों का उदाहरण बनता है ॥१९॥

भाष्यार्थः- *(दण्डात् संयोगिनः विशेषात् समवायिनः)* दंड से= दंड धारण के संयोग से दण्ड संयोगी पुरुष का ज्ञान होता है (कि यह) दण्डी सन्यासी है यह संयोग सम्बंध का उदाहरण है, विशेष से= वस्तु के अंतर्गत विशिष्ट धर्म से= विशिष्ट अंग से= अंगी का= समवाय का उससे युक्त धर्मी का= हस्तिन का या शिखी का होता है यह हाथी शिखी है यह समवाय सम्बंध का उदाहरण है । वैसा शब्द और अर्थ का संयोग या समवाय सम्बंध नहीं है ॥१९॥

तर्हि किन्निमित्तः शब्दार्थसम्बोधः । यदस्य शब्दस्यायमर्थो नान्यः । अत्रोच्यते ---

सामयिकः शब्दार्थसम्प्रत्ययः॥२०॥

(शब्दार्थसम्प्रत्ययः)शब्दार्थसम्बोधः शब्देनार्थसम्बोधो यदस्य शब्दस्यायमर्थो नान्यः । स सामयिकः समयकृतः, समयः सिद्धान्तः, वैदिकश्बदानां त्वर्थे या निजशक्त्यभव्यक्तिः, लोके खलु समयः शब्दानां यौगिकसंस्कारः पारिषदी परिभाषा क्षेत्रियनिर्धारिणं च ॥२०॥

तो किस कारण से शब्द और अर्थ का ज्ञान होता है? कि इस शब्द का यह अर्थ है अन्य नहीं । इस विषय में कहते हैं-

सामयिकः शब्दार्थसम्प्रत्ययः॥२०॥

सूत्रार्थः- शब्द से अर्थ का जो ज्ञान होता है वह संकेतोपर आधारित है अथवा शब्द या अर्थ का सांकेतिक संबंध है ॥२०॥

भाष्यार्थ- शब्द और अर्थ का ज्ञान शब्द से अर्थ का ज्ञान होना कि इस शब्द का यह अर्थ है अन्य नहीं । वह सामयिक= समय से उत्पन्न, (सांकेतिक सम्बंध से जाना जाता है) समय=सिद्धान्त, वैदिक शब्दों का अर्थ तो निज शक्ति से अभिव्यक्ति होती है, लोक में

समय (सिद्धान्त) है शब्दों का अर्थ यौगिक संस्कार परिषद परिभाषा और क्षेत्रीय निर्धारण से होता है ॥२०॥

अथक्रमप्राप्तेपरत्वापरत्वे परीक्ष्येते--

एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च॥२१॥

कारणपरत्वात्कारणापरत्वाच्च ॥२२॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति –

(एकदिक्काभ्याम् एककालाभ्याम्) एका दिक् प्राची प्रतीची दक्षिणादिका ययोस्ताभ्यां तथैककालाभ्याम् (सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां)निकटस्थदूरस्थाभ्यां पिण्डाभ्यां परं परत्वमपरमपरत्वञ्च भवति निष्पद्यते । (कारणपरत्वात्कारणापरत्वात् च) परत्वापरत्वयोः कारणात् तत्र दिशि त्विन्द्रप्रस्थं कारणंततः प्राच्यांदिशि स्थितः प्रयोगोऽपरो वाराणसी च परा । वर्तमानः कालः कारणं कालपरत्वापरत्वयोस्तमभिलक्ष्योत्पन्नयो-रल्पायुष्कोऽपरोऽधिकायुष्कः ॥२२॥

अब क्रम प्राप्त परत्व अपरत्व के विषय में परीक्षा की जाती है-

एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च॥२१॥

कारणपरत्वात्कारणापरत्वाच्च ॥२२॥

इन दोनों सूत्रों की एक वाक्यता है-

सूत्रार्थः- एक ही दिशा में स्थित और एक ही काल में स्थित समीपता व दूरस्थ दो वस्तुओं से परत्व और अपरत्व गुण उत्पन्न होते है। कारण द्रव्य से दूर और निकट के कारण उनमें परत्वापरत्व होता है ॥२१-२२॥

भाष्यार्थः- *(एकदिक्काभ्याम् एककालाभ्याम्)* एक दिशा प्राची-प्रतीचि-दक्षिणादि में स्थित तथा एक काल में स्थित निकटस्थ तथा दूरस्थ वस्तु पर= परत्व और अपरम= अपरत्व उत्पन्न होता है। *(कारणपरत्वात्कारणापरत्वात् च)* परत्व अपरत्व के कारण से उस दिशा में तो इन्द्रप्रस्थ कारण केंद्र उससे प्राची दिशा में स्थित प्रयाग अपर और वाराणसी पर है। वर्तमान काल कारण केंद्र है काल के परत्व-अपरत्व में उस काल को लक्षित करके उससे उत्पन्न अल्प आयु वाला अपर और अधिक आयु वाला पर होता है ॥२१-२२॥

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः॥२३॥

कर्मभिः कर्माणि॥२४॥गुणैर्गुणाः॥२५॥

एषामेकवाक्यताऽस्ति –

(परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावः अणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः) परत्वे परत्वाभावोऽपरत्वेऽपरत्वाभावः, स च यथाऽणुत्वेऽणुत्वाभावोमहत्त्वेमहत्त्वाभावोऽस्ति

तथाऽस्ति । अथ च (कर्मभिः कर्माणि) कर्मभिर-सम्बन्धानि कर्माणि (गुणैर्गुणाः)गुणैरस्म्बन्धा गुणा भवन्ति ॥२३-२५॥

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः॥२३॥
कर्मभिः कर्माणि॥२४॥गुणैर्गुणाः॥२५॥

इन सभी सूत्रों की एक वाक्यता है-

सूत्रार्थ:- परत्व और अपरत्व में परत्व और अपरत्व का अभाव होता है जो कि अणु और महत के समान वर्णित जानना चाहिए। कारण द्रव्य से दूर और निकट के कारण उनमें परत्व और अपरत्व होता है। कर्म से कर्म रहित होते हैं गुण से गुण रहित होते हैं ॥२३-२५॥

भाष्यार्थ:- *(परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावः अणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः)* परत्व में परत्व का अभाव अपरत्व में अपरत्व का अभाव होता है और वह जैसे अणुत्व में अणुत्व का अभाव महत्व में महत्व का अभाव है वैसे ही है और *(कर्मभिः कर्माणि)* कर्मों से कर्म असम्बद्ध होता है *(गुणैर्गुणाः)* गुणों से गुण असम्बद्ध होता है ॥२३-२५॥

अत्रसमवायविषयःप्रतिपाद्यते—

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥२६॥

(इह इदम् इति यतः) इहाधारे खल्विदमाधेयमित्यविनाभावेन प्रत्ययो बोधो वा यस्मात् सम्बन्धात् (सः समवायः) स समवायसम्बन्धो भवति, यथा (कार्यकारणयोः) कार्यकारणयोरिह कारणे खल्विदं कार्यं समवेतमविनाभावेन स्थितमिति,तन्तुषुपटः, वीरणेषु कटः, इति तु निदर्शनं परन्तु यत्राविनाभावेनेहेदं समवेतं तत्र सर्वत्र समवायेन भवित्तव्यं गुणगुणिनोः कर्मकर्मवतोर्व्यक्तिजात्योरपि द्वयोरविनाभावयोरपृथग्भूतयो-रयुतसिद्धयोरेव भवति ॥२६॥

यहाँ समवाय के विषय का प्रतिपादन करते हैं-

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥२६॥

सूत्रार्थ:- इस आधार में यह वस्तु आश्रित है ऐसा ज्ञान जिससे होता है वह समवाय संबंध कहलाता है जैसे कि कार्य और कारण में, गुण और गुणी में, जाति और व्यक्ति में ॥२६॥

भाष्यार्थ:- *(इह इदम् इति यतः)* इस वस्तु के आधार में यह वस्तु आधेय (आश्रित) है यह अभिनाभाव प्रत्यय या ज्ञान जिस संबंध से होता है *(सः समवायः)* वह समवाय संबंध होता है, *(कार्यकारणयोः)* इस कारण में यह कार्य समवेत है अविनाभाव रूप से स्थित है, तंतुओं में जैसे वस्त्र है वीरण में जैसे चटाई है, ये जो कथन होता है ये निदर्शन

है उदाहरण है। परंतु जहां अविनाभाव के रूप में एक के बिना दूसरा नहीं हो सकता है ऐसी अवस्था में जो समवेत है स्थित है वहाँ समवाय संबंध होना चाहिए , जैसे कि गुण और गुणी में होता है द्रव्य और कर्म में होता है व्यक्ति और जाति में होता है (ये छः इसके उदाहरण हैं) । दो का जो अविनाभाव रूप में नियत संबंध के रूप में जो एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते अर्थात जिसमें द्वित्व कि सिद्धि नहीं हो पाती है ॥२६॥

द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः॥२७॥

(द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधःभावेन व्याख्यातः)समवाये खलु द्रव्यत्वस्य गुणत्वस्य च प्रतिषेधोभावेन व्याख्यातः, सर्वत्र भवतीति भावः सत्ता यथा न द्रव्यं न गुणः किन्तु तद्भिन्नमस्ति तथैव समवायोऽपि द्रव्यादिभ्यो भिन्नोऽस्ति विशिष्टबुद्धिगम्यत्वात् ॥२७॥

द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः॥२७॥

सूत्रार्थः- समवाय संबंध न द्रव्य है न गुण है यह बात सत्ता के समान समझनी चाहिए ॥२७॥

भाष्यार्थः- *(द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधःभावेन व्याख्यातः)* समवाय में द्रव्यत्व और गुणत्व में निषेध भाव के समान बता दिया गया ऐसा जानना चाहिए, सब जगह जो होता है वह भाव है या सत्ता जैसे कि वह भाव न तो द्रव्य है न गुण है, किन्तु उससे भिन्न है। ऐसे ही समवाय भी द्रव्य गुण कर्म से भिन्न होता है और विशेष बुद्धि से जाना जाता है॥२७॥

तत्त्वं भावेन ॥२८॥

(तत्त्वं भावेन) तस्य स्वरूपं द्रव्यादिभ्यो भिन्नं सदपि नास्वरूपवान् समवायः किन्तु भावेन स्वसद्भावेनवर्तमानत्वात् तस्य स्वरूपैकत्वमस्ति, यद्वा भावेनेव सत्तयेवैकः समवायः सर्ववर्ती ॥२८॥

तत्त्वं भावेन ॥२८॥

सूत्रार्थः- समवाय का स्वरूप एक है द्रव्य आदि से भिन्न है यह बात सत्ता के समान समझनी चाहिए ॥ ॥

भाष्यार्थः- *(तत्त्वं भावेन)* उसका स्वरूप द्रव्य आदि से भिन्न होता हुआ भी अस्वरूपवान समवाय नही है किन्तु भाव के समान=सद्भाव के समान उसका एक स्वरूप है। अथवा समवाय भी सत्ता के समान ही सभी जगह होगा (जहां-जहां सत्ता होगी वहाँ-वहाँ वस्तु भी होगी) तो समवाय संबंध भी वहाँ रहेगा ॥२८॥

द्वितीयाह्निकं समाप्तम् ।

समाप्तिंगतश्च सप्तमोऽध्यायः ॥

अष्टमोऽध्यायः तत्र प्रथमाह्निकम्

परत्वापरत्वे परीक्षिते क्रमानुरोधेन बुद्धिरिदानीं परीक्ष्यते, बुद्धिर्ज्ञानमत्र दर्शनेऽनर्थान्तारं तस्मात् सूत्रे ज्ञानशब्द उपात्तस्तत्परीक्षणाय ---

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१॥

(द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम्) पृथिव्यादिषु मनःपर्यन्तेषु समस्तद्रव्येषु ज्ञानं प्रात्यक्षिकमानुमानिकञ्चज्ञानं व्याख्यातं वर्णितं तत्र प्रात्यक्षिकं ज्ञानं तु "महत्त्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः" (४।१।६) "रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी, रूपरसस्पर्शवत्य आपः, तेजो रूपस्पर्शवत्" (२।१।१-३) एतानि प्रत्यक्षज्ञानकानि द्रव्याणि, अथानुमानिकं ज्ञानं खलु "स्पर्शवान् वायुः" (२।१।४) शब्दलिङ्ग आकाशः [शब्दः] परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य (२।१।२७)वाय्वाकाशौ त्वानुमानिकज्ञानसाध्यौ तथा "इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः" (३।१।२) "आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत्" (३।१।१८) आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् (३।२।१) इन्द्रियाणां भोगकरणत्वमर्थानां च भोगभावोऽथेन्द्रियैरर्थज्ञानं त्वात्मनिष्ठत्वादात्मनो ज्ञानाय लिङ्गानि तस्मादेतानि लैङ्गिकानि ज्ञानानि, ज्ञानस्यसाधनं मनस्तेन संयुक्तेन मनसाऽऽत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे भवति ज्ञानं नान्यथेति तस्य ज्ञानकरणत्वादिति ज्ञानं लैङ्गिकम् ॥१॥

परत्व और अपरत्व की भी परीक्षा हो गयी, अब क्रम के क्रम से बुद्धि की परीक्षा करेंगे। बुद्धि अर्थात ज्ञान इस दर्शन में बुद्धि और ज्ञान एक ही अर्थ में है पर्याय है ये। इसलिए ज्ञान शब्द को ही लिया है उसकी परीक्षा करने के लिए -

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१॥

सूत्रार्थ:- द्रव्यों में किस किस प्रकार से ज्ञान होता है प्रत्यक्ष और आनुमानिक यहा पहले बताया जा चुका है, द्रव्य के अंतर्गत भी ज्ञान की व्याख्या समझ लेनी चाहिए ॥१॥

भाष्यार्थ:- *(द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम्)* द्रव्य अर्थात पृथ्वी से लेकर मन पर्यन्त सभी द्रव्यों में ज्ञान होता है, इन सबमें प्रत्यक्षीक ज्ञान या अनुमानिक ज्ञान होता है ऐसी व्याख्या वर्णित कर दी गयी है, जैसे इनमें प्रत्यक्षीक ज्ञान होता है *"महत्त्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः" (४।१।६)* "जो महत परिमाण वाला होता है, अनेक द्रव्य वाला होता है, और रूप वाला होता है उसकी उपलब्धि होती है"। *"रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी, रूपरसस्पर्शवत्य आपः, तेजो रूपस्पर्शवत्" (२।१।१-३)* "ऐसे रूप रस स्पर्श गंध वती

पृथ्वी लक्षण बताया जहां पर, ऐसे ही रूप रस स्पर्श वाला जल होता है, अग्नि रूप और स्पर्श वाली होती है ये सब प्रत्यक्ष होने वाले ज्ञान वाले द्रव्य हैं " । अनुमानिक ज्ञान के विषय में बताया कि *"स्पर्शवान् वायुः" (२।१।४)* "वायु स्पर्श वाला है" । शब्द लक्षण वाला आकाश है *परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य (२।१।२७)* "परिशेष से आकाश का लिंग है शब्द" ऐसा सूत्र बनाया । वायु और आकाश ये अनुमानिक ज्ञान से सिद्ध होने वाले पदार्थ हैं, वैसे ही (और भी बताया ज्ञान के विषय में) *"इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः" (३।१।२)* इंद्रिय और उसके अर्थों कि प्रसिद्धि या ज्ञान है वह इंद्रिय और अर्थों से भिन्न पदार्थ का कारण है । *"आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत्" (३।१।१८)* आत्मा इंद्रिय के सन्निकर्ष से जो उत्पन्न होता है वो आत्मा और इंद्रिय से भिन्न है कुछ, वो ज्ञान है । इसमें भी बोला ज्ञान के विषय में – *आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् (३।२।१)* आत्मा इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष होने पर ज्ञान का होना और नही होना होता है ये मन का लिंग है । इंद्रियों का भोग का करण अर्थात साधन होना और अर्थों के भोग का भाव होना और इंद्रिय से अर्थ का ज्ञान होना, आत्मनिष्ठ होने के कारण ये आत्मा के ज्ञान में ये कारण बनता है। इसलिए ये लैंगिक ज्ञान है आत्मा की दृष्टि से, इन सबको देखकर के ज्ञान हो जाता है । ज्ञान का जो साधन है वो मन है। उस मन से युक्त अर्थात आत्मा के साथ मन, मन के साथ इंद्रिय और इंद्रिय के साथ विषय का सन्निकर्ष होने पर ज्ञान होता है । अन्यथा नहीं होता है, उसका ज्ञान का करण होने के कारण ही इसलिए ये ज्ञान लैंगिक है ।

अतएव

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥२॥

(तत्रआत्मा मनः च अप्रत्यक्षे) तत्र द्रव्येषु खल्वात्मामनश्चाप्रत्यक्षे लैङ्गिकज्ञानके द्रव्ये, चकारोऽत्र प्रकारार्थकः, लैङ्गिकज्ञानवन्त आकाशादयश्च निरवयवाः पदार्थाः सन्ति ॥२॥

इसलिए-

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥२॥

सूत्रार्थः- उन पृथ्वी आदि द्रव्यों में आत्मा और मन आँखा से दिखने वाले पदार्थ नहीं हैं ॥२॥

भाष्यार्थः- *(तत्रआत्मा मनः च अप्रत्यक्षे)* उस ज्ञान के क्षेत्र में उन द्रव्यों में तो आत्मा और मन प्रत्यक्ष वाला नहीं है अप्रत्यक्ष वाला है। हेतु ज्ञान वाला लैंगिक ज्ञान वाला विषय है द्रव्यों में। चकार शब्द यहाँ प्रकार अर्थ में है जिससे आकाश,मन, आत्मा आदि का ग्रहण होता है। आत्मा मन आकाश ये निरवयव वाले पदार्थ हैं जो कि आनुमानिक ज्ञान से ज्ञात होने वाले पदार्थ हैं ॥२॥

तच्च ज्ञानं कथं निष्पद्यते ? इति स्मार्यते ----

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥३॥

(ज्ञाननिर्देशे) प्रात्यक्षिकज्ञानस्य लैङ्गिकज्ञानस्य च निर्देशे निर्देशनप्रकरणे (ज्ञाननिष्पत्तिविधिः उक्तः) ज्ञानस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य प्राप्तिविधिरिन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽथानुमानज्ञानस्य लिङ्गदर्शनविधिस्तत्रोक्तस्तत्रैव ॥३॥

और वह ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? अब इसका स्मरण कराते है-

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥३॥

सूत्रार्थः- प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान कैसे होते हैं इस प्रसंग में इन ज्ञानों की उत्पत्ति प्रक्रिया पहले बताई जा चुकी है ॥३॥

भाष्यार्थः- *(ज्ञाननिर्देशे)* जहां पर प्रत्यक्ष ज्ञान का और लैंगिक ज्ञान का (आनुमानिक ज्ञान का) निर्देश किया गया है, उस निर्देश के प्रकरण में *(ज्ञाननिष्पत्तिविधिः उक्तः)* प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति की जो विधि है अर्थात इंद्रिय अर्थ का सन्निकर्ष आनुमानिक ज्ञान के लिए लिंग का दिख जाना वहाँ पर ही कह दिया गया है, (जैसे स्पर्श के कारण वायु का बोध हो जाता है) ॥३॥

द्रव्याणांज्ञानप्रकारं निर्दिश्य गुणकर्मणां ज्ञानं कथं भवतीत्युच्यते ----

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम् ॥४॥

(गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेः द्रव्यं कारणम्) इन्द्रियैर्गुणाः रूपादयः कर्माणि चोत्क्षेपणादीनि सन्निकृष्यन्ते तेषु सन्निकृष्टेषु सम्बद्धेषु संयुक्तेषु ज्ञानस्य तत्तज्ज्ञानस्य निष्पत्तिर्भवत्यात्मनि, तज्ज्ञाननिष्पत्तेः कारणं द्रव्यमस्ति, यतो हि गुणकर्मणि न स्वतन्त्रे स्तस्तयोर्द्रव्याश्रितत्वाद् द्रव्यनिष्ठे हि गुणकर्मणि सन्निकृष्येते । तस्मात् तयोर्ज्ञानं द्रव्याश्रितं यतो द्रव्यं तयोः समवायसम्बन्धेन विद्यमानत्वात्, गुणकर्मणि न द्रव्यं व्यभिचरतः ॥४॥

द्रव्यों के ज्ञान के प्रकार को विधि को बता करके गुण और कर्मों का ज्ञान कैसे होता है? इसको कहते हैं-

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम् ॥४॥

सूत्रार्थ:- इंद्रियों के साथ गुण और कर्मों का संबंध होने पर उस गुण कर्मों का ज्ञान उत्पन्न होने से उस प्रक्रिया में उन गुण कर्मों का धारक द्रव्य ही कारण होता है ॥४॥

भाष्यार्थ:- *(गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेः द्रव्यं कारणम्)* इंद्रियों के साथ गुण अर्थात रूप आदि और उत्क्षेपण आदि कर्म सन्निकृष्ट सम्बद्ध होते हैं उनके सन्निकृष्ट होने पर जुड़ने पर संयुक्त होने पर आत्मा में ज्ञान की निष्पत्ति हो जाती है, उस ज्ञान की उत्पत्ति का कारण द्रव्य होता है क्योंकि गुण और कर्म स्वतंत्र नहीं होते हैं, उनके (गुण और कर्म के) द्रव्य के आश्रित होने से, द्रव्य में स्थित होते हुए ही गुण और कर्म नेत्र इंद्रिय से सन्निकृष्ट होते हैं। इसलिए उन दोनों का भी ज्ञान द्रव्य के आश्रित होता है क्योंकि द्रव्य उन दोनों का समवायि कारण होता है। वहाँ द्रव्य में गुण और कर्म का समवायि संबंध से विद्यमान होने के कारण गुण और कर्म द्रव्य से अलग नही होते हैं। गुण और कर्म के ज्ञान का कारण द्रव्य होता है ॥४॥

द्रव्यगुणकर्मणामर्थपदवाच्यानां ज्ञानं प्रदर्श्य सामान्यविशेषयोः कथं ज्ञानं भवतीत्यप्युच्यते -

सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात् तत एव ज्ञानम् ॥५॥

(सामान्यविशेषेषु) सामान्ये परसामान्ये सत्तायां पृथिव्यादिषु रूपादिषूत्क्षेपणादिषु विशेषेषु खल्वन्त्यविशेषेषु ज्ञानं तु (ततः एव) सामान्यतो विशेषतश्च तत्स्वरूपतः स्वत एव भवति तदधीनमेव तयोर्ज्ञानम्। यतः (सामान्यविशेषाभावात्) द्रव्यगुणकर्मणां ज्ञानं तु सामान्यविशेषापेक्षं भवति, तेषु सामान्यविशेषौ लक्ष्येते, परन्तु सामान्ये नितान्तसामान्ये परसामान्ये सत्तायां सामान्यं नास्ति तथा विशेषेऽन्त्यविशेषे विशेषो नास्ति। सामान्यं परसामान्यं सत्ता तुसामान्यरूपेणैवावतिष्ठते न पुनर्विशिष्यतेऽथ च विशेषोऽन्त्यविशेषो न समीक्रियते तस्मात् सामान्यं विशेषश्च स्वरूपत एव ज्ञायते। शङ्करमिश्रादिभिरसम्बद्धंव्याख्यातं सूत्रं तत्र "सामान्यविशेषाभावात्" वचनस्याचरितार्थत्वात् ॥५॥

अर्थ पद से जो कहा गया है द्रव्य गुण और कर्म उनका ज्ञान दिखा करके अब सामान्य का ज्ञान और विशेष का ज्ञान कैसे होता है? उसको बता रहे हैं-

सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात् तत एव ज्ञानम् ॥५॥

सूत्रार्थ:- पर सामान्य (सत्ता) और अंतिम विशेषों का उनके अपने ही स्वरूप से ज्ञान होता है उनमें सामान्य और अन्य विशेष का अभाव होने से ॥५॥

भाष्यार्थ:- *(सामान्यविशेषेषु)* सामान्य अर्थात पर सामान्य में सत्ता है पृथ्वी आदि में रूप आदि में और उत्क्षेपण आदि कर्म में ये जो विशेष है और अन्त्य विशेष में जो ज्ञान होता है । *(ततः एव)* सामान्य वाले और विशेष वाले का उसी के स्वरूप से अपने आप ही होता है, उन दोनों का ज्ञान उन्हीं के अधीन होता है । *(सामान्यविशेषाभावात्)* क्योंकि द्रव्य गुण कर्म का ज्ञान तो सामान्य विशेष की अपेक्षा से होता है, क्योंकि उनमें सामान्य और विशेष दोनों दिखते हैं । परंतु जो सामान्य है नितांत सामान्य है अंतिम सत्ता है उसमें कोई सामान्य नहीं होता है और जो अंतिम भेद होता है उसमें भी विशेष नहीं होता है। इसलिए सामान्य अर्थात परसामान्य सत्ता तो सामान्य रूप में ही रहती है वो विशिष्ट नहीं होता है । और जो अन्त्य विशेष होता है वह भी सामना भाव को नहीं प्राप्त होता है, पृथक ही रहता है इसलिए सामान्य और विशेष अपने ही स्वरूप से जाने जाते हैं । शंकर मिश्र आदि ने सूत्र की व्याख्या असम्बद्ध रूप में की है "सामान्य विशेष भाव" वचन का उसमें चरितार्थ= संगति न लगने से ॥५॥

सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ॥६॥

(द्रव्यगुणकर्मसु सामान्यविशेषापेक्षम्) द्रव्ये गुणे कर्मणि च ज्ञानं सामान्यविशेषापेक्षं भवति । द्रव्ये खलु सामान्यं द्रव्यत्वम्, विशेषः पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाः, गुणे सामान्यं गुणत्वम्, विशेषो रूपरसगन्धस्पर्शादयः, कर्मणि सामान्यं कर्मत्वम्, विशेषः खलूत्क्षेपणादीनि ॥६॥

सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ॥६॥

सूत्रार्थ:- द्रव्य और गुण कर्मों में सामान्य और विशेष से ज्ञान होता है ।

भाष्यार्थ:- *(द्रव्यगुणकर्मसु सामान्यविशेषापेक्षम्)* यहाँ के जितने भी द्रव्य हैं इनमें अकेले अकेले किसी का ज्ञान नहीं होता है यहाँ सामान्य विशेष दोनों मिलाकर के होता है । द्रव्य में जो द्रव्यत्व है वो सामान्य होता है और विशेष अर्थात जल को जानने के लिए पृथ्वी आदि को जब देखते हैं तब जल को ज्ञान पाएंगे (केवल जल को देखते रहने से ज्ञान नहीं होता है) इसमें द्रव्यत्व सामान्य है और पृथ्वी जल आगनी वायु आदि विशेष है । गुण में वैसे ही गुणत्वम सामान्य है और रूप रस गंध आदि विशेष हैं, कर्म में कर्मत्व सामान्य है और उत्क्षेपण आदि विशेष है ॥६॥

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥७॥
(द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम्)कार्यद्रव्येज्ञानं द्रव्यापेक्षं गुणापेक्षं कर्मापेक्षं च भवति । तद्यथा या सास्नावती यद्वा घण्टावती पीतवर्णा गच्छति सा गौः ॥७॥

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥७॥
सूत्रार्थ:- कार्य द्रव्यों में द्रव्य गुण और कर्म की अपेक्षा से भी ज्ञान होता है ॥७॥
भाष्यार्थ:- कार्य द्रव्य में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसके लिए द्रव्य की गुण की और कर्म की तीनों की अपेक्षा होता है, जैसे गौ का ज्ञान करने के लिए गल कंबल वाली है या घंटी जिसके गले में है और पीले रंग की है वह गौ है, (ऐसा कोई लक्षण विशेष जबतक उत्पन्न नहीं होगा तब तक यह ज्ञान नहीं होगा कि यह गौ है) ॥७॥

परन्तु—

गुणकर्मसु गुणकर्माभावात् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥८॥
(गुणकर्मसु गुणकर्माभावात् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते) गुणेषु गुणापेक्षं कर्मापेक्षं ज्ञानं न विद्यते तत्र गुणे गुणाभावात् कर्माभावाच्च । गुणो हि "अगुणवान्" (१/१/१६) तथा कर्म न गुणे न गुणाश्रयि "एकद्रव्यम्" (१/१/१८) द्रव्याश्रयित्वात् कर्मणः । अथ च कर्मसु ज्ञानं न गुणापेक्षं तस्यागुणत्वात् "अगुणम्....." (१/१/१८) तथा न कर्मापेक्षं न कर्मणि कर्म भवति तस्य द्रव्याश्रयित्वात् "एकद्रव्यम्" (१/१/१८) किन्तु द्रव्यापेक्षं गुणकर्मसु ज्ञानं भवति यथायोग्यं प्रात्यक्षिकं लैङ्गिकं वा यथोक्तं च पूर्वम् । अन्यभाष्यकारैः सूत्रमेकाङ्गित्वेन व्याख्यातम् ॥८॥

परंतु-

गुणकर्मसु गुणकर्माभावात् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥८॥
सूत्रार्थ:- गुण कर्मों में गुण कर्मों का अभाव होने से गुण कर्मों का ज्ञान गुण कर्मों की अपेक्षा से नहीं होता है, द्रव्य की अपेक्षा से होता है ॥८॥
भाष्यार्थ:- *(गुणकर्मसु गुणकर्माभावात् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते)* गुणों में गुण की अपेक्षा से और कर्म में कर्म की अपेक्षा से ज्ञान नही होता है क्योंकि "अगुणवान्" (१/१/१६) गुण में गुण होता ही नही कर्म में कर्म होता ही नहीं अकेला होता है । गुण में गुण न होने से उसी प्रकार कर्म न गुण होता है और न ही गुण के आश्रित होता है "एकद्रव्यम्" (१/१/१८) द्रव्य के आश्रित होता है, कर्म द्रव्य के आश्रित होता है । इस तरह से कर्म को जानने के लिए गुण की अपेक्षा नहीं होती है अपितु द्रव्य की होती है, उसके गुण

रहित होने से। "अगुणम्....." (१/१/१८) और कर्म में कर्म की अपेक्षा से नहीं होता है, उसके द्रव्य आश्रित होने से "एकद्रव्यम्" (१/१/१८) कहा है। किन्तु गुण कर्मों मे जो ज्ञान होगा उसमें द्रव्य की अपेक्षा तो रहेगी, गुण कर्मों की नहीं। जैसा भी ज्ञान हो चाहे प्रात्यक्षिक हो या अनुमानिक है उनमें ये स्थित रहेगी गुण को जानने के लिए केवल गुण की अपेक्षा नहीं, द्रव्य की अपेक्षा होती है। ऐसे ही कर्म को जानने के लिए द्रव्य की ही अपेक्षा रहेगी। अन्य भाष्यकारों ने सूत्र के एक अंग को लेकर व्याख्यान किया है॥८॥

तथा --

समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेतेबुद्धिस्ते कार्यकारणभूते॥९॥

(समवायिनः) समवायोऽविनाभावसम्बन्धोऽस्यास्तीति समवायी तस्य समवायिनो गुणसमवायिनो यथा (श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेः च) श्वेतसमवायिनः शङ्खस्य श्वेतत्वाद् गुणात् तथा श्वैत्यबुद्धेः श्वेतत्वज्ञानादपि (श्वेते बुद्धिः) श्वेते शङ्खे श्वेतत्वसमवायिनि द्रव्ये श्वेतोऽयं ज्ञानं भवति (ते एते कार्यकारणभूते) श्वैत्यं गुणः, तथा श्वैत्यबुद्धिश्च श्वेतोऽयमिति ज्ञानं ते एते उभे कारणकार्ये भवतः, तत्र श्वैत्यं गुणः कारणं श्वैत्यबुद्धिः श्वेतोऽयमिति ज्ञानं कार्यम्, अत्र गुणेन गुणो न ज्ञायते किन्तु गुणेन गुणसमवायी गुणी ज्ञायते खल्वेष निष्कर्षः॥९॥

और भी कारण बता रहे हैं-

समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेतेबुद्धिस्ते कार्यकारणभूते॥९॥

सूत्रार्थः- श्वेत रूप से युक्त शंख द्रव्य के श्वेत्य श्वेतत्व रूप गुण से और मस्तिष्क में स्थित श्वेतत्व ज्ञान से यह शंख सफेद है ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ श्वेतत्व और शंख कार्यकारण है॥९॥

भाष्यार्थः- *(समवायिनः)* समवाय= अविनाभाव संबंध जिसका है वह समवायी है, उस समवायी का गुण समवायिका (जिसका गुण अनिवार्य संबंध है ऐसा द्रव्य का) *(श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेः च)* जैसे श्वेत समवायी (अनिवार्य संबंध) है जिस शंख का उस शंख का श्वेतत्व गुण होने से तथा *(श्वेते बुद्धिः)* श्वेतय बुद्धि होने से या श्वेतत्व ज्ञान होने से भी श्वेत शंख मेन श्वेतत्व समवायी संबंध है (जिस द्रव्य का) उस द्रव्य में यह श्वेत है ऐसा ज्ञान होता है *(ते एते कार्यकारणभूते)* श्वेत्य गुण है तथा श्वेत्य बुद्धि= यह श्वेत है ऐसा ज्ञान ये दोनों कारण कार्य होते हैं, वहाँ श्वेत्य गुण कारण है श्वेत्य बुद्धि= यह श्वेत है ऐसा ज्ञान कार्य है, समवायी (अनिवार्य) संबंध है (जिस गुणी का वह) गुणी जाना जाता है यह निष्कर्ष है॥९॥

अथ च यथा गुणगुणिनोः पौर्वापर्यव्यवहारे कारणकार्यबुद्धयो भवन्ति तथा द्रव्येषु नेत्याह----

द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः ॥१०॥

(द्रव्येषु अनितरेतरकारणाः) द्रव्येषु तु खलु द्रव्यबुद्धयो द्रव्यज्ञानानि घटः पटः कटः, इत्यादि ज्ञानानि बुद्धयो वा न खल्वन्योऽन्यकारणाः परस्परकारणीभूता वा, यत्र हि द्रव्यं लिङ्गत्वेनोपादीयते तत्रैव तत् कारणत्वं भजते ज्ञाने नान्यत्र, यथाऽयं दण्डी दण्डेन लिङ्गेन हस्ती हस्तेन तदुक्तमेव "द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षं ज्ञानम्" (८/१/७) ॥१०॥

और जैसे गुण गुणी का पूर्वापर व्यवहार में कारण कार्य बुद्धि होती है वैसे द्रव्य में नहीं होती है यह कहते हैं-

द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः ॥१०॥

सूत्रार्थः- दो स्वतंत्र द्रव्यों में एक दूसरे के कारण से ज्ञान नहीं होता ॥१०॥

भाष्यार्थः- *(द्रव्येषु अनितरेतरकारणाः)* द्रव्य में तो द्रव्य बुद्धि= द्रव्य का ज्ञान होता है जैसे यह घट-पटकट है, इत्यादि ज्ञान= बुद्धि एक दूसरे के कारण=परस्पर कारणी भूत नहीं है, जहां द्रव्य लिंग के द्वारा ग्रहण किया जाता है वहीं ज्ञान में वह कारणत्व का ग्रहण होता है अन्यत्र नहीं, जैसे यह दण्डी है दण्ड के लिंग से हाथी हाथी के लिंग से जाना जाता है वह जो पूर्व में कहा ही है *"द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षं ज्ञानम्" (८/१/७)* ॥१०॥

यः खलु घटपटकटादीनां क्रमेण ज्ञानं भवति तत्कथञ्जातीयं किं कारणकं वेत्यत्रोच्यते---

कारणायौगपद्यात् कारणक्रमाच्च घटपटादिबुद्धीनां क्रमो न हेतुफलभावात् ॥११॥

(घटपटादिबुद्धीनां क्रमः) अयं घटोऽयं पटोऽयं कटः इत्यादि ज्ञानानां यः क्रमो लभ्यते स खलु (कारणायौगपद्यात्) सन्निकर्षादीनां ज्ञानकारणानां युगपत्प्रवृत्त्यभावात् "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" तथा (कारणक्रमात्) इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणस्य क्रमात् पृथक् – पृथक् क्रमेण प्रवर्त्तनात् पौर्वापर्यं भवति (न हेतुफलभावात्) न तु कारणकार्यभावात् । तत्र पूर्वं घटज्ञानं स्वोत्तरस्य पटज्ञानस्य न कारणं न वोत्तरं पटज्ञानं पूर्वस्य घटज्ञास्य कार्यम्, तत्र पौर्वापर्यं ज्ञानस्य न नियतं घटज्ञानात् पूर्वमपि पटज्ञानं भवति तत्र घटपटादिज्ञानेषु न परस्परज्ञानापेक्षा ॥११॥

जो घट पट आदि का क्रम से ज्ञान होता है वह किस प्रकार का या किस कारण वाला होता है यहाँ उसको कहते हैं-

कारणायौगपद्यात् कारणक्रमाच्च घटपटादिबुद्धीनां क्रमो न हेतुफलभावात् ॥११॥

सूत्रार्थ:- ज्ञान के कारण इंद्रिय संनिकर्षादि अनेक वस्तुओं के साथ एक ही समय में न होने के कारण और ज्ञान का कारण संनिकर्ष का क्रम होने से घटपटादि पदार्थों के ज्ञानों का क्रम होता है ॥११॥

भाष्यार्थ:- *(घटपटादिबुद्धीनां क्रमः)* यह घट है यह पट है यह कट है इत्यादि ज्ञान का जो क्रम पाया जाता है *(कारणायौगपद्यात्)* वह ज्ञान का कारण सन्निकर्ष आदि का एक साथ प्रवृत्ति का अभाव होने से "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" तथा *(कारणक्रमात्)* ज्ञान के कारण इंद्रिय अर्थ सन्निकर्ष का क्रम से=पृथक-पृथक क्रम से प्रवृत्ति होने से पूर्वापर होता है किन्तु कार्य कारण के होने से नहीं है । *(न हेतुफलभावात्)* वहाँ पूर्व घट का ज्ञान अपने से उत्तर पर ज्ञान का कारण नहीं होता है और न ही उत्तर पर ज्ञान पूर्व घट ज्ञान का कार्य है वहाँ ज्ञान का पूर्वापर नियत नहीं है घट ज्ञान से पूर्व भी पट ज्ञान होता है वहाँ घट पटादि ज्ञानों में परस्पर ज्ञान की अपेक्षा नहीं है ॥११॥

प्रथमाह्निकं समाप्तम् ।

अष्टमोऽध्यायः तत्र द्वितीयाह्निकम्

प्रात्यक्षिकं लैंगिक च ज्ञानं विधाय संप्रति सांङ्केतिकं बुध्यपेक्षं ज्ञानमाचष्टे-

अयमेष त्वया कृतं भोजयेनमिति बुध्यपेक्षं ॥ १॥

(अयम्-एषः) अयं देवदत्तः, एष महाविद्वान् । अत्र 'अयम्' इति बुद्धया देवदत्त संज्ञाया ज्ञानं भवति, 'एषः' इति निर्देशबुद्धया तत्र महती विद्वता ज्ञायते ज्ञाप्यते वा (त्वया कृतम्) 'त्वया' युष्मद्बुद्धिकं कर्तृ ज्ञानमुक्तं भवति (भोजय-एनम्) भुजक्रियायां 'एनम्' इति संङ्केत्युक्तं सांङ्केतिकं ज्ञानम् (बुद्ध्यपेक्षम्) निर्देशकृतां बुद्धिमपेक्षते बुद्धावेव स्थितं न प्रात्यक्षिकं न च लैंगिकं ॥१॥

प्रात्यक्षिक और आनुमानिक ज्ञान का विधान करके अब सांकेतिक बुद्ध्यपेक्ष ज्ञान को कहते हैं-

अयमेष त्वया कृतं भोजयेनमिति बुध्यपेक्षं ॥१॥

सूत्रार्थः- अयमेष इत्यादि यह ज्ञान संकेत से होनेवाला है॥१॥

भाष्यार्थः- *(अयम्-एषः)* यह देवदत्त है, यह महाविद्वान है। यहाँ "यह" बुद्धि से देवदत्त संज्ञा का ज्ञान होता है, "यह" इस प्रकार का निर्देश बुद्धि वहाँ महान विद्वता जानी जाती है या जनाई जाती है *(त्वया कृतम्)* "त्वया" यूष्मद बुद्धि वाला कर्ता का ज्ञान कहा गया है *(भोजय-एनम्)* भुजिक्रिया का 'एनम्' इस संकेत से विशिष्ट कर्म कारक का ज्ञान होगा है। वह यह सारा संकेत युक्त सांकेतिक ज्ञान निर्देश कृत *(बुद्ध्यपेक्षम्)* बुद्धि की अपेक्षा से होता है बुद्धि में ही स्थित होता है न प्रात्यक्षिक और न अनुमानिक होता है ॥ १॥

दृष्टेषु भावाददृष्टे ष्वभावात् ॥ २ ॥

(दृष्टेषु भावात्) ज्ञातेषु प्रत्यक्षीकृतेषु पिण्डेषु अयं 'देवदत्तः' सङ्केतात् संज्ञाज्ञानं भवति (अदृष्टेषु-अभावात्) अज्ञातेषु परोक्षेषु संङ्केतस्याभावादसम्भवात्। तस्मात् प्रत्यक्षीकृते विषये पुनर्यत् संङ्केतकृतज्ञानं बुद्ध्यपेक्षं भवति ॥ २॥

यह ज्ञान कैसे बुद्धि की अपेक्षा रखता है (कहा जाता है) स्वतंत्र या स्वतःउत्पन्न क्यों नहीं होता है इस विषय में कहते हैं-

दृष्टेषु भावाददृष्टे ष्वभावात् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ:- सांकेतिक ज्ञान प्रत्यक्ष पदार्थो में संभव होता है। अप्रत्यक्ष पदार्थो में संभव न होने से वह प्रत्यक्ष और अनुमानिक ज्ञानों से भिन्न है॥ २॥
भाष्यार्थ:- *(दृष्टेषु भावात्)* ज्ञात= प्रत्क्षीकृत पिण्ड में यह देवदत्त है संकेत से संज्ञा का ज्ञान होता है *(अदृष्टेषु अभावात्)* अज्ञात= परोक्ष में संकेत का अभाव होने से असंभव होने से इसलिए प्रत्यक्षीकृत विषय में पुन: जो संकेत कृत ज्ञान बुध्यपेक्ष्य होता है ॥ २॥

द्रव्यगुणकर्मणां पृथक् पृथक् स्वस्वविषयकं ज्ञानं तूक्तम्। इदानीं सर्वेषां द्रव्यगुणकर्मणां प्रात्यक्षिकं ज्ञानं निर्विशिष्टमुच्यते-

अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥३॥

(अर्थ:- इति द्रव्यगुणकर्मसु) अस्मिन् शास्त्रे 'अर्थ' इति शब्द: खलु द्रव्यगुणकर्मसु प्रयुक्तो वेदितव्य: "इंद्रियार्थसन्निकर्ष " इत्यादि कथने द्रव्यगुणकर्माणि त्रोण्यपि गृह्यन्ते अर्थपदेन प्रत्यक्षीकरणे प्रात्यक्षिकज्ञाने वा त्रयाणां प्रात्यक्षिकं ज्ञानं भावतीति यावत् ॥ ३॥

द्रव्य गुण कर्मों का पृथक्- पृथक् अपने अपने विषयक ज्ञान को तो कहा है। अब सभी द्रव्य गुण कर्मों का प्रात्यक्षिक ज्ञान को बताया जाता है-

अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥३॥

सूत्रार्थ:- अर्थ शब्द द्रव्य गुण कर्म तीनों के लिए एक साथ प्रयोग होता है॥ ३॥
भाष्यार्थ:- (अर्थ:- इति द्रव्यगुणकर्मसु) इस शास्त्र में "अर्थ" यह शब्द द्रव्य गुण कर्मों में प्रयुक्त होता है ऐसा जानना चाहिए, "इंद्रियार्थ सन्निकर्ष ..." इत्यादि कथन में द्रव्य गुण कर्म तीनों का ही ग्रहण होता है अर्थ पद से प्रत्यक्ष करने में या प्रात्यक्षिक ज्ञान में तीनों का प्रात्यक्षिक ज्ञान होता है यहाँ तक अर्थ ले सकते हैं ॥ ३॥

द्रव्य विषये – कार्य द्रव्य विषये किमपि विशिष्टमुच्यते-

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम् ॥४॥

(द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम्) कार्यद्रव्येषु शरीरादिषु पञ्चात्मकत्वं पञ्चभूतोपादन्त्वं प्रतिषिद्धम् । "प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्या प्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकत्वं न विद्यते" (४/२/२) एकाकोपादानकं शररादि द्रवयम् ॥ ४॥

द्रव्य के विषय में- कार्य द्रव्य के विषय में कुछ विशिष्ट कहा जाता है-

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम् ॥४॥

सूत्रार्थ:- शरीरादि इन्द्रिय द्रव्यों में पांचो या अनेक तत्व उपदान रूप में नहीं है॥ ४॥

भाष्यार्थ:- (द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम्) कार्य द्रव्यों में शरीरादि पंचात्मकत्व= पाँच भूत उपादान वाला होना प्रतिषेध किया गया है। "प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्या प्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकत्वं न विद्यते" (४/२/२) उपादान वाले शरीरादि द्रव्य हैं॥ ४॥

ननु तत्र शरीरे वर्तमानं भिन्नभिन्नविषयकंग्राहकं नासिकादीन्द्रियं किं शरीरोपादानोपादानकमन्योपादानकं वा ? अत्रोच्यते –

भूयस्त्वाद् गन्धवत्वाच्च पृथ्वी गन्धज्ञाने प्रकृति: ॥५॥

(गन्धज्ञाने प्रकृति: पृथ्वी) गन्धस्य ज्ञानं ज्ञानकरणं घ्राणम्, ज्ञायतेऽनेनेति करणे ल्यूट् । गन्धज्ञाने घ्राणेंद्रिय प्रकृतिरुपादानं पृथ्वी खल्वस्ति । यत: (भूयस्त्वात्-गन्धवत्वात्-च) तत्र पृथिव्या बाहुल्यात्, यथा शरीरमस्थिमयं पृथिवीभूय: पृथिवीप्राकृतिकं तथा घ्राणम्प्यस्थिमयं पृथिवीभूय: पृथिवीप्राकृतिकं तथा गन्धवदपि घ्राणं गन्धोऽस्यास्ति विषयतस्मात् गन्धवत्वात् गन्धग्राहकत्वात्, कार्यमनुगृह्णाति कारणम्, तथा "नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्" (योग० ०१/३५ व्यासभा०) घ्राणे गन्धसंविदस्ति । तस्मादपि पृथिवी प्रकृतिरूपादानं वा घ्राणस्य ॥ ५॥

अच्छा, उस शरीर से वर्तमान भिन्न-भिन्न विषय को ग्रहण करने वाले नासिकादि इंद्रियां क्या शरीर उपादान के उपादान वाला है अथवा अन्य उपादान वाले हैं ? यहाँ बताते हैं-

भूयस्त्वाद् गन्धवत्वाच्च पृथ्वी गन्धज्ञाने प्रकृति: ॥५॥

सूत्रार्थ:- गन्ध का ग्रहण करानेवाले साधन नासिका इन्द्रिय में पृथ्वी उपदान कारण है। उसमें पृथ्वीतत्व प्रधान होने से तथा गन्ध को ग्रहण करानेवाली होने से॥५॥

भाष्यार्थ:- *(गन्धज्ञाने प्रकृति: पृथ्वी)* गंध का ज्ञान= ज्ञान करने का साधन घ्राण है, जिससे जाना जाता है इस प्रकार करण में ल्यूट प्रत्यय है। गन्ध ज्ञान ज्ञान में घ्राण इंद्रिय में उपादान कारण पृथ्वी है क्योंकि *(भूयस्त्वात्-गन्धवत्वात्-च)* उसमें पृथ्वी की बहुलता होने से, जैसे शरीर जो कि अस्थिमय है (इसलिए) वह पृथ्वी अधिक वाला है अर्थात पृथ्वी उपादान वाला है वैसे गन्ध के समान भी घ्राण है अर्थात गन्ध जिसका विषय है इसलिए गन्ध वाला होने से= गन्ध को ग्रहण करने वाला होने से, कार्य की सहायता कारण कर्ता है । तथा "नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्" (योग० ०१/३५ व्यासभा०) नासिका के अग्रभाग मे धारण करने वाले का दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है । घ्राण में गन्ध की अनुभूति होती है इसलिए भी पृथ्वी घ्राण का उपादान कारण है ॥५॥

तथापस्तेजोवायुश्च रसरुपस्पर्शाविशेषात् ॥६॥

(तथा-आप:-तेज: -वायु:-च) तथा आप:, तेज:, वायु:, प्रत्येकम् (रसरुपस्पर्शा विशेषात्) रसज्ञानकरणे रसनायामाप: प्रकृति:, रूपज्ञानकरणे नेत्रे तेज: प्रकृति:, स्पर्शज्ञानकरणे त्वचि वायु: प्रकृति। तत्र तत्र तत्तद्भुयस्त्वात् तथा रसवत्वात् रूपवत्वात् स्पर्शवत्वात्। रसनायामपाभूयस्त्वं सर्वदा जलमया रसनाऽस्थिरहिता, नेत्रे तेजो भूयत्वं ज्योतिर्भूयस्त्वं स्पष्टम् लक्ष्यते, त्वचि वायुभूयस्त्वं वायुतन्तुजालवत्। रस विषय ग्राहकत्वाद् रसना रसवती रससंविदस्यां तथा च रसवती, रूपविषयग्राहकत्वाद् रूपवन्नेत्रं रूपसंविदस्मिन् तथा च रूपवत्, स्पर्शविषयोऽस्या: स्पर्शवती त्वक् स्पर्श संविदस्यां तथा च स्पर्शवती। एवमेकप्रकृतिकेऽपि शरीरे घ्राणादीनीन्द्रियाणि भिन्नभिन्नप्रकृतीनि स्वग्राह्यविषयानुसारीणि ॥६॥

तथापस्तेजोवायुश्च रसरुपस्पर्शाविशेषात् ॥६॥

सूत्रार्थ:- वैसे ही जलाग्नि वायु उपादान है रसना नेत्र और त्वगिन्द्रिय का तथा पूर्वोक्त हेतु से॥ ६॥

भाष्यार्थ:- *(तथा-आप:-तेज: -वायु:-च)* तथा प्रत्येक जल, अग्नि और वायु *(रसरुपस्पर्शा विशेषात्)* रस अग्नि का साधनों= रसना में जल उपादान है, रूप ज्ञान का साधन में=नेत्र में अग्नि उपादान है, स्पर्शज्ञान का साधन में =त्वचा में वायु उपादान है। उन-उन में उस-उस की अधिकता होने से तथा रस विषय वाला होने से रूप विषय वाला होने से स्पर्श वाला होने से। रसना में जल की अधिकता है, रसना सर्वदा जल मय और अस्थि रहित है, नेत्रा में अग्नि की अधिकता है ज्योति की अधिकता स्पष्ट लक्षित होती है, त्वचा मे वायु की अधिकता है वायु के तन्तु के जाल के समान। रस विषय को ग्रहण करने वाली होने से रसना रसवती (जल के उपादान वाली है) और रस की अनुभूति जिसमें होती है वह रसवती है। रूप विषय को ग्रहण करने वाली होने से अग्नि के समान नेत्र है, और रूप की अनुभूति जिसमें होती है वह रूपवाला है। स्पर्श विषय जिसका है वह स्पर्शवती त्वचा है और स्पर्श की अनुभूति जिसमें होती है वह स्पर्श वाली है इस प्रकार से एक उपादान वाले शरीर में भी घ्राण आदि इंद्रियां भिन्न-भिन्न उपादान वाले अपने ग्राह्य विषय के अनुसार सहायक होते हैं॥ ६॥

॥ द्वितीयाह्निकम् समाप्तम् ॥

नवमोऽध्याय: तत्र प्रथमाह्निक

पृथिव्यादि भूयस्त्ववतां कार्य द्रवयाणां भावं सत्वं परीक्ष्येदानीं तेषामभावमसत्वं परीक्षते सूत्रकृदाचार्य: -

क्रियागुणव्यपदेशाभवात् प्रागसत् ॥ १॥

(क्रियागुणव्यपदेशाभवात् प्रागसत्) क्रियया गुणेन च भावो द्रव्यं कार्यद्रव्यं लक्ष्यते, क्रियाया गुणस्य च व्यवहाराभावाद प्रवर्तनात् खलु तस्याभाव: प्रागसत् प्रागभावनामकोऽभाव: ॥१॥

पृथ्वी आदि अधिकता वाले कार्यद्रव्यों का भाव= सत्ता की परीक्षा करके अब इनके अभाव=असत्ता की परीक्षा सूत्र कृत आचार्य करते हैं-

क्रियागुणव्यपदेशाभवात् प्रागसत् ॥ १॥

सूत्रार्थ:- द्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व द्रव्य के क्रिया और गुण का व्यवहार न होने से उस द्रव्य का (घटदिका) प्रागभाव कहा जाता है॥१॥

भाष्यार्थ:- *(क्रियागुणव्यपदेशाभवात् प्रागसत्)* क्रिया से और गुण से भाव द्रव्य=कार्य द्रव्य लक्षित होते है क्रिया के और गुण के व्यवहार का अभाव होने से अप्रवर्तनात्= बनने से पहले व्यवहार न होने से उसका अभाव प्रागसत्= प्रागभाव नामक अभाव होता है॥ १॥

द्वितीय: -

सदसत् ॥२॥

(सदसत्) सद् द्रव्यं केनापि कारणेन सतो विद्यमानस्य घटादिकस्य कार्य द्रव्यस्य य: खल्वभाव: स प्रध्वंसाभावो द्वितीयोऽभाव: ॥२॥

सदसत् ॥२॥

सूत्रार्थ:- सत्तात्मक घटादि वस्तु के नष्ट हो जाने के बाद जो उसका अभाव हो जाता है वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है॥ २॥

भाष्यार्थ:- *(सदसत्)* विद्यमान द्रव्य किसी भी कारण से सत:=विद्यमान घटादि का कार्य द्रव्य का जो अभाव है वह प्रध्वंसाभाव नामक दूसरा अभाव है ॥ २॥

ननु प्राग भावो व प्रध्वंसाभावो वा खल्वेकस्यैव द्रव्यस्याभावरूपस्वरूपतया त्वेकमेव वस्तु कथं पूर्वाभावतो भिन्नत्वमस्योच्यते, अत्र प्रति विधीयते-

असत: क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थांतरम् ॥ ३॥

(क्रियागुणव्यपदेशाभावाद्-असत: -अर्थांतरम्) य: खलु प्रागभाव उक्त स तु क्रियागुणव्यपदेशाभावादुक्तस्तास्मादसत: प्रागभवात् प्रध्वंसाभावोऽर्थांतरं भिन्न वस्तु । यत: प्रागभावस्तु क्रियागुणाप्रादुर्भावपूर्वक: शून्यरूप: प्रध्वंसाभावश्च क्रियागुण प्रादुर्भावान्तर: संस्काररूप: ॥ ३॥

अच्छा, प्रागभाव अथवा प्रध्वंसाभाव एक ही द्रव्य का अभाव रूप स्वरूप से तो एक ही वस्तु है तो पूर्व अभाव से भिन्न इस को कैसे कहा जाता है, यहाँ कहा जाता है-

असत: क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थांतरम् ॥ ३॥

सूत्रार्थ:- क्रिया और गुण की उत्पत्ति ही न होने से प्रागभाव की अपेक्षा प्रध्वंसाभाव भिन्न है। (प्रध्वंसाभाव उत्पन्न होकर क्रिया गुण नष्ट हो चुके का होता है।)॥ ३॥

भाष्यार्थ:- *(क्रियागुणव्यपदेशाभावाद्-असत: -अर्थांतरम्)* जो प्रागभाव कहा है वह तो (द्रव्य के उपस्थित से पूर्व) क्रिया गुण के व्यवहार के अभाव से कहा था इसलिए असत=प्रागभाव से प्रध्वंसाभाव अर्थान्तर= भिन्न वस्तु है क्योंकि प्रागभाव तो क्रिया गुण के उत्पन्न होने से पूर्व वाला शून्य रूप है और प्रध्वंसाभाव क्रिया गुण के उत्पन्न होने से अनंतर संस्कार रूप है॥ ३॥

तृतीय: -

सच्चासच्च ॥४॥

(सत्-च-असत्-च) भावश्चासावभावश्चेति खलु भय विधोऽन्योन्याभाव:। अगौरश्व, अनश्वो गौ:। अपटो घट:, अघट: पट:। इत्यन्योऽन्याभावस्तृतीय: ॥ ४॥

सच्चासच्च ॥४॥

सूत्रार्थ:- जो वस्तु गौ आदि होवे और उसमें अन्य वस्तु अश्वादि का अभाव होवे तो यो यह अन्योन्याभाव कहलाता है॥ ४॥

भाष्यार्थ:- *(सत्-च-असत्-च)* एक वस्तु अपने स्वरूप में है और उसमें दूसरी वस्तु का अभाव है इस प्रकार दोनों प्रकार का व्यवहार अन्योन्य अभाव है । जैसे- यह अश्व है उसमें गौ का अभाव है, यह गौ है उसमें अश्व नहीं है । यह घट है उसमें पट नहीं है, यह पट है उसमें घट नहीं है । इत्यादि अन्योन्य अभाव तृतीय अभाव है ॥ ४॥

चतुर्थ: -

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥ ५॥

(यत्-च-अन्यत्-असत्-अत:-तत्-असत्) यत् खलु प्रागसत: प्रध्वंसासतोऽन्योऽन्यासतोऽन्यत् तदसत् खलु प्रागभावात् प्रध्वंसाभावादन्योऽन्याभावाद् भिन्नोऽभावोऽत्यन्ताभावश्चतुर्थ: ॥ ५॥

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥ ५॥

सूत्रार्थ:- और जो अभाव पूर्वोक्त तीनों प्रकार के अभाव से भिन्न प्रकार का है वह अत्यन्ताभाव कहलाता है।

भाष्यार्थ:- (यत्-च-अन्यत्-असत्-अत:-तत्-असत्) जो प्रागसत से प्रध्वंसाभाव से और अन्योन्यासत से भिन्न है वह असत्= अभाव है जो प्रागभाव से प्रध्वंसाभाव से अन्योन्य अभाव से भिन्न अभाव है वह अत्यान्ताभाव चतुर्थ अभाव है ॥ ५॥

अभाव: कथ ज्ञायते ? अत्रोच्यते-

असिदिति भूत प्रत्यक्षाभवाद् भूत स्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ॥ ६॥

(असत्-इति) अभाव: खलु (भूतप्रत्यक्षाभवात्- भूतस्मृते:) भूत शब्द: प्रायेण दर्शनशास्त्रे सदर्थक:। सतो भावात्मकस्य प्रत्यक्षानन्तरवर्तिनोऽभावात्, सद्वस्तु घटादि: स न प्रत्यक्षं भवति यथोत्पन्न: सन् प्रध्वंसात् पूर्वं प्रत्यक्षं भवति न तथा प्रध्वस्तसमये, पुन: भूतस्मृते: सद्वस्तुन: स्मृतेश्च, स्मर्यते खलु तत्तत्सद्रूपद्रव्यं तन्नास्ति तस्मात् (विरोधिप्रत्यक्षवत्) अभावस्य विरोधि भावस्तस्य विरोधिनो भावस्य भावात्मकस्य प्रत्यक्षत्वमिव प्रत्यक्षत्वं भवति ह्यभावस्यापि, भावो यथा प्रत्यक्षं भवति तथा ह्यभावोऽपि प्रत्यक्षं भवति, भाव: सदात्मना प्रत्यक्षं भवत्य भावोऽसदात्मना प्रत्यक्षं भवति हि । यदि त्वभाव: प्रत्यक्षं न भवेत् तदा त्वभावो न वक्तुं शक्येत। इति प्रध्वंसाभाव उक्त: ॥ ६॥

उस अभाव को कैसे जाना जाता है ? यहाँ कहते हैं-

असिदिति भूत प्रत्यक्षाभवाद् भूत स्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ॥ ६॥

सूत्रार्थ:- प्रध्वंसाभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से जाना जाता है। उसका कारण विद्यमान वस्तु के प्रत्यक्ष न होने से तथा उस वस्तु की स्मृति होने से॥ ६॥

भाष्यार्थ:- *(असत्-इति)* अभाव *(भूतप्रत्यक्षाभवात्- भूतस्मृते:)* भूत शब्द प्राय: दर्शन शास्त्र मे सद् अर्थ वाला होता है (वर्तमान अर्थ में) सत= भावात्मक वस्तु का प्रत्यक्ष के

पश्चात (टूट फुट होने से) अभाव होने से, सद् वस्तु घट आदि वह प्रत्यक्ष नहीं होता है जैसे उत्पन्न हुए प्रध्वंस से पूर्व प्रत्यक्ष होता है वैसा प्रध्वंस समय में नहीं होता है पुन: भूत स्मृते=सद् वस्तु की स्मृति से स्मरण करता है कि वह सद् रूप वाली वस्तु वह नहीं है इसलिए *(विरोधिप्रत्यक्षवत्)* अभाव का विरोधी भाव है उस विरोधी भाव के= भावात्मक के प्रत्यक्ष के समान प्रत्यक्ष होता है अभाव का भी, भाव जैसे प्रत्यक्ष होता है वैसा ही अभाव भी प्रत्यक्ष होता है, भाव का सत्ता वाले स्वरूप से प्रत्यक्ष होता है अभाव असद् स्वरूप से प्रत्यक्ष होता है। यदि अभाव का प्रत्यक्ष न होवे तो अभाव को नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार प्रध्वंसाभाव कहा गया है ॥६॥

अथ च-

तथाऽभावे भाव प्रत्यक्षत्वात्च्च ॥ ७॥

(तथा-अभावे भाव प्रत्याक्षत्वात-च) तथा प्रत्यक्षात् पूर्वं प्रागभावेऽपि प्रत्यक्षत्वं विज्ञेयं भावप्रत्यक्षत्वात्-भावात्मकस्य घटादेर्जातिस्य प्रत्यक्षत्वात्। यथा हि जातो घट: प्रत्यक्षं भवति तथा तत्प्रागभावोऽपि प्रत्यक्षं भवति हि। इति प्रागभाव उक्त:॥७॥

षष्ठसप्तमयो: सूत्रयोरन्यो व्याख्यामार्ग: - भावाभावौ प्रत्यक्षविषयकौ तत्र "असदिति भूत प्रत्यक्षा...." (६) सामान्येनभावस्य प्राक्प्रध्वंसोभयविधस्य प्रत्यक्षत्वं दर्शयति विरोधिप्रत्यक्षवत्- भावप्रत्यक्षवत्। सप्तमं सूत्र भाव विषयकं स्यात् तत्र भाव प्रत्यक्षत्वमभाव प्रत्यक्षवदुच्यते। सूत्र पाठश्च सन्धिमवलम्बय "तथा भावेऽभावप्रत्यक्षवत्" भावे भावात्मके द्रव्ये प्रत्यक्षत्वं खलु भवत्वभावप्रत्यक्षवत्, यथाऽभावात्मकतयाऽभाव: साक्षात् प्रत्यक्षं भवति पुनर्भवात्माकतया भावोपि प्रत्यक्षं भवति हि, तत्र भावाभावौ प्रत्यक्षौ ॥ ७॥

और –

तथाऽभावे भाव प्रत्यक्षत्वात्च्च ॥ ७॥

सूत्रार्थ:- और उसी प्रकार से घट के प्रागभाव में ज्ञान होता है प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न घट का प्रत्यक्ष होने से॥७॥

भाष्यार्थ:- *(तथा-अभावे भाव प्रत्याक्षत्वात-च)* वैसे प्रत्यक्ष से पूर्व प्रागभाव भी प्रत्यक्षत्व जानना चाहिए, भाव के प्रत्यक्ष होने से-भावात्मक का=घटादि उत्पन्न हुए का प्रत्यक्ष होने से। जैसे घट उत्पन्न हुआ उसका प्रत्यक्ष होता है वैसे उस प्रागभाव का भी प्रत्यक्ष होता ही है। इस प्रकार प्रागभाव कहा ॥

छठे और सातवें सूत्रों की अन्य व्याख्या का मार्ग है- भाव और अभाव प्रत्यक्ष का विषय है वहाँ "असदिति भूत प्रत्यक्षा...." (६) सामान्य अभाव का और प्रागध्वंस दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष दिखाता है विरोधी प्रत्यक्ष के समान-भाव प्रत्यक्ष के समान सातवाँ सूत्र भाव विषय होवे उसमें भाव का प्रत्यक्ष अभाव का प्रत्यक्ष के समान कहा गया है । और संधि का अबलम्बन करके सूत्र का पाठ "तथा भावेऽभावप्रत्यक्षवत्" भाव प्रत्यक्षवत् भाव ममें =भावात्मक द्रव्य में प्रत्यक्षत्व होता है। अभाव के प्रत्यक्ष के समान, जैसे अभाव स्वरूप से भाव का साक्षात प्रत्यक्ष होता है पुन: भाव स्वरूप से भाव का भी प्रत्यक्ष होता ही है, वहाँ भाव अभाव प्रत्यक्ष होता है ॥ ७॥

अन्योऽन्याभाव: कथञ्जातीय: ? उच्यते-

एतेनघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यात: ॥ ८॥

(एतेन) एतेन भावाभावयो: प्रत्यक्षत्वनिर्देशनेन (अघट:- अगौ: - अधर्म: - च व्याख्यात:) अघटो घटाभाव: पटादौ, अगौर्गोभावोऽश्वादौ, अधर्मो धर्माभावोऽधर्मे प्रत्यक्षं भवत्यन्योऽन्याभावो भावप्रत्यक्षवत् ॥ ८॥

अन्योन्यभाव किस प्रकार का होता है? बताते हैं-

एतेनघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यात: ॥ ८॥

सूत्रार्थ:- पूर्वोक्त प्रक्रिया अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से ही पट में घट का अभाव, अश्व में गौ का अभाव और धर्म में अधर्म का अभाव जाना जाता है।

भाष्यार्थ:- *(एतेन)* इस भाव और अभाव का प्रत्यक्ष निर्देश से *(अघट:- अगौ: - अधर्म: - च व्याख्यात:)* अघट=घट का अभाव पटादि में, अगौ= गौ का अभाव अश्व आदि में, अधर्म=धर्म का अभाव अधर्म में अन्योन्य भाव प्रत्यक्ष होता है, भाव प्रत्यक्ष के समान ॥ ८॥

यस्याभावस्य प्रत्यक्षत्वं प्रदर्शितं तस्य स्वरूपमुच्यते-

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥ ९॥

(अभूतं न- अस्ति-इति- अनर्थांतरम्)'अभूतम्-असद् यद्वा न विद्यते' इति त्वभिन्नार्थकमेकार्थकमस्ति। भूतं सद्वस्तुरूपम्, अभूतमसदभाव:। यद्वा न-अस्ति, यत् सत् तदस्ति यन्न सत् खल्वसत् तन्नास्ति-अभाव:। अभूतमिति त्वभाव: सदात्मना, नास्तीति त्वभाव: प्रवर्तनक्रियया। भवतीति भाव: सदात्मना प्रवर्तनक्रियया चोभयव्युत्पत्त्या। अभूतं वा नास्तीति वाऽभावपर्यायोऽभावस्वरूपं वा ॥ ९॥

जिस अभाव का प्रत्यक्ष दिखाया गया है उसका स्वरूप बताते हैं –

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥ ९॥

सूत्रार्थ:- नहीं रहा 'अभी उत्पन्न नहीं हुआ' इस प्रकार से न होना अभाव का स्वरूप है।

भाष्यार्थ:- *(अभूतं न- अस्ति-इति- अनर्थांतरम्)* "नहीं रहा=असद् अथवा नहीं है" इस प्रकार तो अभिन्न अर्थ= एक अर्थ वाले (शब्द) हैं। भूत= सत्ता रूप वस्तु अभूत=असद्= अभाव होता है। अथवा नहीं है, जो सत् है वह है और जो सत् नहीं है वह नहीं है=अभाव है। अभूत इस प्रकार तो अभाव सत् स्वरूप का होता है, नहीं है इस प्रकार तो वर्तमान क्रिया से अभाव होता है। इस प्रकार का भाव सत् स्वरूप से (वर्तमान) और वर्तमान क्रिया से दोनों प्रकार की व्युत्पत्ति से अर्थ हो सकता है। अथवा अभूत अथवा ही है इस प्रकार अभाव या अभाव स्वरूप पर्यायवाची है ॥ ९॥

यद्येवं नास्तीति पदेनाभावोऽभावस्वरूपं वा ग्रह्यते, तर्हि-

नास्ति घटो गेहे, इति सतो घटस्य गेहसंसर्ग प्रतिषेध: ॥ १०॥

(गेहे घट: - न ० अस्ति इति) गृहो घटो नास्ति, इति वाक्ये नास्ति वचनेन किं प्रागभाव: प्रध्वंसाभावोऽन्योऽन्याभावो वा लक्ष्यते । उच्यते (सत: - घटस्य गेह संसर्गप्रतिषेध:) सद्रूपस्य भावात्मकस्य विद्यमानस्य घटस्य गृहसंसर्गप्रतिषेधो विज्ञेयो न प्रागभावादय:, तस्य गृहादन्यत्र विद्यमानत्वात् सत्तवात्। न ह्यत्र घटप्रतिषेध: किन्तु घटगृहयो: संसर्ग प्रतिषेध: संसर्गाभावो न तु घटाभाव: ॥ १०॥

यदि इस प्रकार नहीं है इस पद से अभाव या अभाव स्वरूप ग्रहीत होता है, तो-

नास्ति घटो गेहे, इति सतो घटस्य गेहसंसर्ग प्रतिषेध: ॥ १०॥

सूत्रार्थ:- घर में घड़ा नहीं है इस वाक्य में विद्यमान घट का घर के साथ केवल संसर्ग का अभाव कहा गया है घट का सर्वथा अभाव नही॥ १०॥

भाष्यार्थ:- *(गेहे घट: - न ० अस्ति इति)* घर में घट नहीं है, इस वाक्य में 'नहीं है' इस वचन से क्या प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव अथवा अन्योन्याभाव लक्षित किया जाता है। बताते हैं- *(सत: - घटस्य गेह संसर्गप्रतिषेध:)* सद् रूप का=भावात्मक वस्तु का=विद्यमान घट का घट के साथ संसर्ग का प्रतिषेध जानना चाहिए न कि प्रागभाव आदि, उसके घट से अन्यत्र विद्यमान होने से सत्ता होने से। यहाँ घट का प्रतिषेध नहीं है

किन्तु घट और घट के संसर्ग का प्रतिषेध है संसर्ग का अभाव है किन्तु घट का अभाव नहीं॥ १०॥

एंद्रियिकं बाह्य प्रत्यक्षमूक्त्वाऽऽत्मप्रत्यक्षमान्तरिकप्रत्यक्षमुच्यते-

आत्मन्याऽत्ममनसो: संयोग विशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥ ११॥

(आत्ममनसो: संयोग विशेषात्) आत्मनो मनश्चैव विशिष्ट संयोगात् किलेन्द्रियाणामर्थानां च संयोगमनपेक्ष्यात्मनो निरुद्ध मनसश्च संयोगदेवेत्यर्थ: (आत्मनि) निमित्त सप्तमी। आत्मनिमित्तमात्मार्थं स्वात्मार्थं परमात्मार्थं च यत्प्रत्यक्षां तत् (आत्म प्रत्यक्षम्) अध्यात्म प्रत्यक्षमान्तरिकप्रत्यक्षमिनिन्द्रियप्रत्यक्षं साधनमस्ति ॥ ११॥

ऐंद्रियिक और बाह्य प्रत्यक्ष को कह करके आत्मा प्रत्यक्ष=आंतरिक प्रत्यक्ष को बताते हैं-

आत्मन्याऽत्ममनसो: संयोग विशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥ ११॥

सूत्रार्थ:- आत्मा परमात्मा के प्रत्यक्ष के लिए आत्मा और मन के विशिष्ट संयोग से आन्तरिक प्रत्यक्ष साधन होता है॥ ११॥

भाष्यार्थ:- *(आत्ममनसो: संयोग विशेषात्)* आत्मा का और मन के ही विशिष्ट संयोग से और इंद्रियों का और अर्थों का संयोग की अपेक्षा न करके आत्मा और निरुद्ध मन के संयोग से ही यह अर्थ है *(आत्मनि)* निमित्त सप्तमी है । आत्मा निमित्त= आत्मा के लिए=अपने आत्मा के लिए और परमात्मा के लिए जो प्रत्यक्ष है वह अध्यात्म प्रत्यक्ष=आन्तरिक प्रत्यक्ष=अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष साधन है ॥ ११॥

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥ १२॥

(तथा प्रत्यक्षम्) यथा खवात्मनि-आत्मनिमित्तमात्मार्थमात्मप्रत्यक्षं भवति तथाप्रत्यक्षं तथैव प्रत्यक्षमात्मप्रत्यक्षमद्यात्मप्रत्यक्षमात्ममनसो: संयोगविशेषाद् योगिनो भवति (द्रव्यान्तरेषु) आत्मभिन्नेषु जडेषु सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेषु खल्वतीन्द्रियेषु तन्निमित्तमित्यर्थ: । उक्तं हि तंत्रातरेषु "लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोष:" प्रत्यक्षलक्षणे (सांख्य० १/९१) परमाणुपरमहत्वान्तोऽस्य वशीकार: (योग० ०१/४०)॥ १२॥

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥ १२॥

सूत्रार्थ:- वैसे ही अर्थात् आत्मा और मन के विशेषसंयोग से सूक्ष्म जड द्रव्यों का भी आन्तरिक प्रत्यक्ष होता है॥ १२॥

भाष्यार्थ:- *(तथा प्रत्यक्षम्)* जैसे आत्मा में आत्मा निमित्त= आत्मा के लिए प्रत्यक्ष होता है वैसा प्रत्यक्ष=वैसा ही प्रत्यक्ष=आत्म प्रत्यक्ष=अध्यात्म प्रत्यक्ष आत्मा मन के संयोग विशेष से योगियों का होता है, *(द्रव्यान्तरेषु)* आत्मा से भीं सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृत्ष्ट जड़ वस्तु में अत्तींद्रियों में उस (आत्मा मन के संयोग) निमित्त से होता है यह अर्थ है, कहा भी गया है दूसरे शास्त्रों में "लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः" प्रत्यक्ष लक्षण में (सांख्य० १/९१) परमाणुपरमहत्वान्तोऽस्य वशीकारः (योग० ०१/४०) ॥ १२॥

आत्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षमध्यात्मप्रत्यक्षमं केषां जनानां भवतीत्यत्राचष्टे स्वयमाचार्यः -

असमाहितान्तःकरणा उपसंहृत समाध्यस्तेषां च ॥ १३॥

(असमाहितान्तःकरणाः - उपसंहृत समाध्यस्तेषांः - च) असमाहितमन्तःकरणं चित्तं येषां यैर्वा तेषामेकाग्रचित्तानां सम्प्रज्ञातसमाधिवतां तथोपसंहृताः समाधयः समाप्ताः समाध्यभ्यासा येषां यैर्वा तेषां च योगिनामसम्प्रज्ञातसमाधिवतां च भवति खल्वात्मप्रत्यक्षमध्यात्मप्रत्यक्षम्। तत्रोपसंहृतसमाधीनां तु परमात्मनि-स्वात्मनि तथान्यत्र सूक्ष्मादिजडेषु च, तथाऽसमाहितान्तःकरणानां द्रव्यान्तरेषु हीतिविवेकः॥ १३॥

आत्मा और मन के संयोग विशेष से आत्म प्रत्यक्ष अध्यात्म प्रत्यक्ष किन जनों को होता है? इसको कहते हैं यहाँ स्वयं आचार्य कहते हैं-

असमाहितान्तःकरणा उपसंहृत समाध्यस्तेषां च ॥ १३॥

सूत्रार्थ:- सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधिवाले तथा समाधि अभ्यास पूर्ण किये दग्ध बीजावस्था वाले योगियों का पूर्वोक्त आन्तरिक प्रत्यक्ष होता है॥ १३॥

भाष्यार्थ:-*(असमाहितान्तःकरणाः-उपसंहृत समाध्यस्तेषांः -च)* असमाहित अन्त:करण=चित्त है जिनका उन के द्वारा=उन एकाग्र चित्त वालों का= संप्रज्ञात समाधि वालों का तथा समाधि का अभ्यास समाप्त हो गया है । जिनका उनके द्वारा और उन असंप्रज्ञात समाधि वाले योगियों का आत्म प्रत्यक्ष अध्यात्म प्रत्यक्ष होता है । वहाँ उपसंहृत समाधि वालों का तो आत्मा में अपने आत्मा में तथा अन्यत्र सूक्ष्मादि जड़ों में तथा असमाहित होती अन्त:करण वाले का द्रव्यान्तरों में अध्यात्म प्रत्यक्ष होता है ऐसा जानना चाहिए ॥ १३॥

नन्वात्मप्रत्यक्षमध्यात्मप्रत्यक्षं प्राप्तसम्प्रज्ञात समाधीनां योगिनां द्रव्यान्तरेषु भवति, तद्गुणकर्मं स्वपि भवति न वात्म प्रत्यक्षम् । अत्रोच्यते-

तत्समवायात् कर्मगुणेषु ॥ १४॥

(तत्समवायात् कर्मगुणेषु) द्रव्यान्तरसमवायाद् द्रव्यान्तरेषु समवेतत्वात् कर्मसु गुणेषु चापि भवति ह्यात्मप्रत्यक्षमध्यात्मप्रत्यक्षम्॥ १४॥

अच्छा, आत्म प्रत्यक्ष=अध्यात्म प्रत्यक्ष संप्रज्ञात समाधि को प्राप्त योगियों का दूसरे द्रव्यों में होता है, क्या उनके (द्रव्ययों) के गुण कर्म का भी आत्मप्रत्यक्ष होता है या नहीं? यहाँ कहते हैं-

तत्समवायात् कर्मगुणेषु ॥ १४॥

सूत्रार्थ:- सूक्ष्म द्रव्यों में सम्बन्ध होने से उनके गुण कर्मो का भी आन्तरिक प्रत्यक्ष होता है॥ १४॥

भाष्यार्थ:- (तत्समवायात् कर्मगुणेषु) द्रव्यान्तरों में समवाय (संबंध) होने से दूसरे द्रव्यों में समवेत (सम्बन्ध) होने से कर्मों में और गुणों में भी आत्मप्रत्यक्ष=अध्यात्म प्रत्यक्ष होता ही है ॥१४॥

तथैव –

आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥ १५॥

(आत्मसमवायात् – आत्मगुणेषु) आत्मनि समवेतत्वात् खलु भवति ह्यात्मगुणेष्वप्यात्मप्रत्यक्षमध्यात्मप्रत्यक्षमसम्प्रज्ञात समाधिवतां मुमुक्षुणां योगिनाम्। त्रयोदशसंख्यात आपंचदश संख्यं सूत्र त्रयमन्यभाष्यकारैर्न सम्यग्व्याख्यातम् ॥ १५॥

वैसे ही-

आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥ १५॥

सूत्रार्थ:- आत्मा में सम्बन्ध होने से आत्मा के गुणों में प्रत्यक्ष होता है॥ १॥

भाष्यार्थ:- (आत्मसमवायात् – आत्मगुणेषु) आत्मा में समवेत होने से ही आत्मा के गुणों में भी आत्म प्रत्यक्ष=अध्यात्म प्रत्यक्ष असंप्रज्ञात समाधि वाले मुमुक्षु योगियों का होता है। तेरहवे संख्या से लेकर पंद्रहवें संख्या तक तीन सूत्रों की अन्य भाष्यकारों ने ठीक से व्याख्या नहीं की ॥ १५॥

॥ प्रथमाह्निकं समाप्तम् ॥

नवमोऽध्याय: तत्र द्वितीयाह्निकं

प्रथमाह्निके बाह्यमाध्यमिकं चोभयविधं प्रात्यक्षिकं ज्ञानं परीक्ष्येदानीं लैङ्गिकमानुमानिकं ज्ञानं परीक्ष्यते, प्रथमं तत्सवरूपमुच्यते-

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥ १॥

(अस्य- इदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि च- इति लैङ्गिकम्) 'अस्य-इदम्' इति प्रत्येकमभिसम्बध्यते । अस्येदं कार्यम्, अस्येदं कारणम्, अस्येदं संयोगि, अस्येदं समवायि । अस्येति साध्यनिर्देशोऽनुमेयनिर्देशो लिङ्गयनिर्देशो वा, इदमिति साधननिर्देशोऽनुमापकनिर्देशो लिङ्गनिर्देशो वा । तत्रोभयत्र व्याप्ति धर्मत्वे यथायोग्यमुदाहरणं कल्पनीयम् । यथा-अस्याभीष्टसाध्यस्यानुमेयस्याग्नेरिदं कार्यं लिङ्ग धूमस्तेनास्त्यग्निरिति ज्ञानं लैङ्गिकं यद्वा स्रोतस: पूर्वोदकवैपरीत्यं दृष्ट्वाऽभूद् वृष्टिरिति लैङ्गिकं ज्ञानम् । अस्य वृष्टिरूपस्य कार्यस्यानुमेयस्येदं मेघवर्धन कारणं दृष्ट्वा भविष्यति वृष्टिरिति लैङ्गिकं ज्ञानम् । अन्धकारे त्वचं स्पृष्ट्वा तत्संयोगि शरीरमनुमीयते कुटया: पृष्ठे स्थितस्य हस्तिन: शुण्डमुत्थितं दृष्ट्वा हस्ती व्यवहितोऽनुमीयते । विस्फुर्जन्तं सर्पं दृष्ट्वा विरोधी नकुलोऽनुमीयते । स्पर्शेन समवायीवायुरनुमीयते, रूपं दृष्ट्वा रूपवति तत्रेकार्थसमवायी स्पर्शोऽनुमीयते स्पर्शेनापि तत्र भवितव्यमेवेति सर्वं ज्ञानं लैङ्गिकमानुमानिकं भवति ॥ १॥

प्रथम आह्निक में बाह्य और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के प्रात्यक्षिक ज्ञान की परीक्षा करके अब लैङ्गिकं=आनुमानिक ज्ञान की परीक्षा की जाती है पहले उसका स्वरूप को बताते हैं –

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥ १॥

सूत्रार्थ:- यह इसका कार्य, यह इसका कारण, सांयोगिविरोधि, समवायि इत्यादि प्रकार का ज्ञान आनुमानिक ज्ञान कहलाता है॥ १॥

भाष्यार्थ:- *(अस्य- इदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि च- इति लैङ्गिकम्)* "यह इसका" यह प्रत्येक के साथ जुड़ा रहेगा । यह इसका कार्य है, यह इसका कारण है, यह इसका संयोगि है, यह इसका विरोधी है, यह इसका समवायि है । इस प्रकार साध्य निर्देश=अनुमेय निर्देश अथवा लिङ्ग निर्देश है, इदम=यह इस प्रकार साधन निर्देश अनुमापक निर्देश अथवा लिङ्ग निर्देश है। वहाँ उभयत्र व्याप्ति धर्म में यथायोग्य उदाहरण की कल्पना करनी चाहिए। जैसे- इस अभीष्ट साध्य का=अनुमेय अग्नि का यह कार्य लिङ्ग धूम है इससे अग्नि का अनुमानिक ज्ञान होता है अथवा शीघ्र बहते हुए

पहले जल से विपरीत जल को देखकर वृष्टि हुई है इस प्रकार आनुमानिक ज्ञान होता है। इस वृष्टि रूप कार्य का=अनुमेय का यह मेघवर्धन कारण को देखकर वृष्टि होगी इस प्रकार आनुमानिक ज्ञान होता है। अंधकार में त्वचा को छूकर उस के संयोगी शरीर का अनुमान होता है दीवार के पीछे स्थित हाथी के उठे हुए सूंड को देखकर छुपे हुए हाथी का अनुमान होता है। फूंफकारता हुआ साँप को देखकर विरोधी नकुल का अनुमान होता है। स्पर्श से समवायि वायु का अनुमान होता है रूप को देखकर रूप वाली उस वस्तु में एकार्थ समवायी स्पर्श का अनुमान किया जाता है कि स्पर्श भी वहाँ होगा ही इस प्रकार का सभी ज्ञान लैंगिक=आनुमानिक होता है ॥ १॥

पूर्वकथने विशिष्टमुच्यते-

अस्येदं कार्यकारणसम्बन्धश्चावयवाद् भवति ॥ २॥

विचित्रा खलु सूत्रकृतिरचार्यस्य तत्र त्रैविध्यमर्थस्य भासते।

१ – (अस्य इद कार्यकारणसम्बन्ध: -च-अवयवात्- भवति) पूर्वसूत्रे 'अस्येदं यल्लैङ्गिकं ज्ञानं' कार्यकारणसंयोगिविरोधि समवायि द्रव्याश्रितमुक्तं तत्र खलु कार्यकारणसंबन्धो लिङ्गलिङ्गसंबन्धोऽनुसन्धेयोऽवात् तंत्रान्तरप्रसिद्धात् पंचावयवगणात् प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनरूपाद् भवति।

२- पूर्वसूत्रे लैङ्गिकं ज्ञानं यदुत्तं तत्र कार्य कारण सम्बन्धो लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धो योजनीयोऽवयवादेकदेशाद् लिङ्गाद् भवति नोचेत् तत्र प्रत्यक्षं प्रात्यक्षिकमेव ज्ञानं स्यात्।

३ – पूर्वसूत्रे तु 'अस्येदं कार्यं कारणम्' कारणत् कार्यस्यानुमानं तथा कार्यात् कारणस्यानुमानमुक्तम्, अत्र सूत्रे-अस्येदं कार्यं कारणं वेति द्वयो:कार्यकारर्णयो: सम्बन्धोऽनुमेयो भवति खल्वयवात्। यथा अवयवा: कार्पासा और्णा: कौशेया: कर्कशा मृदवो गुरवो वा भवन्ति कारणभूतास्तन्तवस्तथा खलु तेषामवयवि वस्त्रं भविष्यति कर्कशं मृदु गुरु लघूष्णं वेत्यनुमेयम्। यथा खलु दृश्यतेऽवयवि वस्त्रं गुरु लघूष्णं कर्कशं मृदु वा तथा तदवयवा: कारणभूता: कार्पासा और्णा: कौशेया: वा सन्तीत्यनुमातव्यम्। शङ्करमिश्रजय नारायराणाभ्यां सूत्रमन्यथा व्याख्यातम् ॥ २॥

पूर्व कथन में विशिष्ट कहा जाता है-

अस्येदं कार्यकारणसम्बन्धश्चावयवाद् भवति ॥ २॥

सूत्रार्थ:- इसका यह कारण है कार्य है ऐसा जो सम्बन्ध है इसका ज्ञान अवयव से होता है। वे तीन है।

(1) पञ्चावयव।

(2) एक देश।

(3) उपादानत्व का एक भाग।

भाष्यार्थ:- १- पूर्वसूत्र में इसका यह जो "लैंगिक ज्ञान" कार्य कारण संयोगि विरोधी समवायि द्रव्य के आश्रित कहा वहाँ कार्य कारण संबंध या लिङ्ग लिंगी संबंध का अनुसंधान (खोज/ज्ञान) अवयवों से होता है दूसरे शास्त्र होने से पंचावयव गणों से= प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय निगमन से (आनुमानिक होता है)।

२- पूर्व सूत्र में लैंगिक ज्ञान जो कहा वहाँ कार्य कारण संबंध लिङ्ग लिंगी संबंध अवयव से=एकदेश से= लिङ्ग से होता है ऐसा जानना चाहिए नहीं तो वहाँ प्रत्यक्ष= प्रात्यक्षिक ज्ञान ही होवे।

३- पूर्व सूत्र में तो "इसका यह कार्य है कारण है " कारण कार्य का अनुमान तथा कार्य से कारण का अनुमान कहा है इस सूत्र में इसका यह कार्य या कारण है इस प्रकार दोनों कार्य कारण का संबंध अवयव से अनुमान होता है। जैसे अवयव कार्पास या और्ण यह कौशीय या कर्कश या मृदु या भारी कारणभूत तन्तु होते हैं वैसे उनके अवयवि वस्त्र कर्कश मृदु भारी लघु उष्ण होगा ऐसा अनुमान से जाना जाता है। जैसे अवयवि वस्त्र गुरु लघु उष्ण कर्कश या मृदु देखा जाता है वैसे उसके कारण अवयव भूत कार्पास और्णा या कौशेय है ऐसा अनुमान करना चाहिए शंकर मिश्र जय नारायण ने इस सूत्र की अन्यथा व्याख्या की है॥ २॥

शब्दं ज्ञानमुच्यते—

एतेन शाब्दं व्याख्यातम्॥ ३॥

(एतेन) अस्येदमिति सम्बन्धप्रकारेण, अस्य शब्दस्यायमर्थः- इति (शाब्दं व्याख्यातम्) शाब्दं ज्ञानं वैदिकं लौकिकं च भवति॥ ३॥

अब शब्द ज्ञान को कहते हैं-

एतेन शाब्दं व्याख्यातम्॥ ३॥

सूत्रार्थ:- पूर्वोक्त प्रकार से अर्थात इस शब्द का यह अर्थ है इस प्रकार से शब्दों से होनेवाला ज्ञान होता है॥ ३॥

भाष्यार्थ:- इसका यह इस प्रकार संबंध के प्रकार से, इस शब्द का यह अर्थ है इस प्रकार शब्द ज्ञान वैदिक और लौकिक होता है॥ ३॥

कथमुच्यते शाब्दं ज्ञानम् 'एतेन' अस्येदमिति प्रकारेण भवति न ह्यत्र लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धोऽस्ति यल्लिङ्गमाश्रित्यार्थः प्रतियेत। अत्रोच्यते—

हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्नर्थान्तरम्॥ ४॥

(हेतुः-उपदेशः-लिङ्गं प्रमाणं करणम्-इति-अनर्थान्तरम्) 'हेतुः, उपदेशः, लिङ्गम्, प्रमाणम्, करणम्' इत्येतानि पदानि सन्त्येकार्थानि। शब्दस्यार्थविधाने हेतुस्तु तत्र समयोऽस्ति सदस्य शब्दस्यायमर्थोऽस्ति नात्य इति, समयं प्रमाणं हेतुमाश्रितार्थो भवति॥ ४॥

शब्द ज्ञान कैसे होता है कि 'एतेन' इसका यह इस प्रकार से होता है ? (इसका) यहाँ लिङ्ग लिंगी संबंध नहीं है जिस लिङ्ग को आश्रित करके अर्थ कि प्रतीति हो- यहा कहा जाता है-

हेतुरपदेशो लिङ्ग प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ॥४॥

सूत्रार्थ:- हेतु, उपदेश, लिङ्ग, प्रमाण, करण ये सब एक ही अर्थ वाले शब्द है॥४॥

भाष्यार्थ:-हेतु उपदेश, लिङ्ग, प्रमाण, कारण इत्यादि पीडी एक अर्थ वाले हैं। शब्द के अर्थ के विधान में हेतु वहाँ समय (संकेत) है कि इस शब्द का यह अर्थ है अन्य नहीं, समय (संकेत) प्रमाण हेतु को आश्रित करके अर्थ होता है ॥ ४॥

अतः—

अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात्॥ ५॥

(अस्य-इदम्-इति बुद्धिपेक्षितत्वात्) अस्य शब्दस्यायमर्थः-इति बुद्ध्यपेक्षितत्वात्, शब्दस्यायमर्थः-इति व्यवहारो बुद्धिमपेशते तस्माद् भवति शाब्दं ज्ञानम्। तत्र शब्दार्थयोः यौगिकी बुद्धिरपेक्षते यद्वा शब्दार्थयो र्यः समयः स बुद्धिमपेक्षते। समयः शब्दस्यार्थविधाने निजशक्त्यभिव्यक्तिर्योगिकसंस्कारो वा। तस्माच्छाब्दं ज्ञानमपि भवति, नह्यनुमानवत् कार्यकारणापेक्षं लिङ्गलिङ्ग्यपेक्षं वा॥ ५॥

अस्येदमिति बुध्यपेक्षितत्वात् ॥ ५॥

सूत्रार्थ:- इस शब्द का यह अर्थ है ऐसा व्यवहार संकेत बुद्धि की अपेक्षा रखने वाला होने से शाब्दिक ज्ञान हो जाता है॥ ५॥

भाष्यार्थ:- इस शब्द का यह अर्थ है यह बुद्धि अपेक्षित होने से, शब्द का यह अर्थ है यह व्यवहार बुद्धि कि अपेक्षा करता है इसलिए शब्द का ज्ञान होता है। वहाँ शब्द और अर्थ मे यौगिक (धातु+प्रत्यय) बुद्धि की अपेक्षा होती है अथवा शब्द और अर्थ का जो समय (संकेत) है वह बुद्धि की अपेक्षा होती है। समय (संकेत) शब्द का अर्थ विधान में अपनी शक्ति अभिव्यक्ति या संस्कार है। इसलिए शब्द का ज्ञान भी होता है, अनुमान के समान कार्य कारण की अपेक्षा या लिङ्ग लिंगी की अपेक्षा से नहीं होती है ॥ ५॥

प्रात्यक्षिकमानुमानिकं शाब्दं च त्रिविधं ज्ञानमुक्त्वा स्मार्तं ज्ञानं प्रदर्शयत्याचार्यः—

आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः॥ ६॥

(आत्ममनसोः संयोगविसेषात्) आत्मनो मनसश्च विशिष्टसंयोगात्-अव्यवहितसंयोगदसमवायिकारणात् (संस्कारात्-च) पूर्वानुभूतवासनामयप्रभावा-न्निमित्तादपि (स्मृतिः) स्मातं ज्ञानं भवति समवायिकारणे खल्वात्मनि॥ ६॥

प्रात्यक्षिक आनुमानिक और शब्द तीन प्रकार के ज्ञान को कह कर अब स्मार्त ज्ञान को आचार्य दिखाते हैं-

आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ:- आत्मा और मन के विशेष संयोग और संस्कार से स्मृतिवाला ज्ञान उत्पन्न होता है।

भाष्यार्थ:- आत्मा और मन का विशिष्ट संयोग से=अव्यवहित संयोग से=असमवायिकारण से पूर्वानुभूत विषयों के वासना संस्कार के प्रभाव से=निमित्त से भी स्मार्त ज्ञान होता है समवायि कारण आत्मा में (आत्मा समवायि कारण होता है) ॥ ६॥

प्रात्यक्षिकमानुमनिकं शाब्दं स्मार्तमिति चतुर्विधं ज्ञानं तु जग्रदवस्थायां भवति, स्वप्नावस्थायां खलु स्वाप्निकं ज्ञानं कथं भवतीत्यत्रोच्यते—

तथा स्वप्नः॥ ७॥

(तथा स्वप्नः) तथाप्रकारात् खल्वात्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च भवति स्वप्नः। बाह्यभोगा-भावे मनसः खल्वात्मनि स्थितत्वात् तथआ भोगसंस्कारवशाच्छयनकाले वासनाप्रभवं काल्पनिकं ज्ञानं स्वप्न उच्यते॥ ७॥

प्रात्यक्षिक आनुमानिक शद्ब और स्मार्त चार प्रकार के ज्ञान तो जागृत अवस्था में होता है, स्वप्न अवस्था में स्वाप्निक ज्ञान कैसे होता है यहाँ कहते हैं-

तथा स्वप्नः ॥ ७॥

सूत्रार्थ:- पूर्वोक्त हेतु से ही स्वप्न का भी ज्ञान होता है।

भाष्यार्थ:- उसी प्रकार से=आत्मा मन के संयोग विशेष से और संस्कार से स्वप्न होता है । बाह्य भोग के अभाव में मन का आत्मा में स्थित होने से तथा भोग संस्कार के कारण शयन काल में वासना के प्रभाव से उत्पन्न काल्पनिक ज्ञान को स्वप्न कहा जाता है॥ ७॥

अथ सुषुप्तावस्थायां कथं स्यादत्रोच्यते—

स्वपानान्तिकम्॥ ८॥

धर्माच्च ॥ ९॥

(स्वप्नान्तिकम्) स्वप्नस्यान्तः सुषुप्तिस्तत्र भवं स्वपानान्तिकं सौषुप्तिं ज्ञानम्, बाह्यभोगाभावे संस्काराभावे चात्मनि मनसो लयरूपात् संयोगविशेषात् तथा धर्माच्चादृष्टात् स्वशक्तिमयाद्भवति बाह्यभोगाभावेऽथान्तरिकसंस्काराभावे चात्मस्वरूपत्वं ह्यदृष्टं तस्मादंदृष्टात् स्वशक्तिरूपाद् दर्मान्नैर्मल्यात् सौषुप्तं ज्ञानमानन्दरूपमनुभवति ह्यन्तरात्मा। “तथा स्वप्नस्वपानान्तिके” इति व्यक्तव्ये पृथग्योगकरणमुत्तारार्थम् “धर्माच्च” इत सूत्रेणातिरिक्तकारणप्रदर्शकेन सहान्वयार्थम्। आत्ममनसोः संयोगस्त्वनिवार्यः, अत्र संस्कारो नावश्यकोऽन्यथा स्वप्नस्वप्नान्तिकयोरभेदः स्यात्, भेदकरणाय सूत्रं पृथक् कृतम् ॥८-९॥

अब सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान कैसे होवे यहाँ कहते हैं-

स्वप्नान्तिकम् ॥८॥

धर्माच्च ॥९॥

इन दोनों सूत्रों की एक वाक्यता है-

सूत्रार्थ:- निद्रा का ज्ञान आत्मा और मन के संयोग विशेष से तथा आत्मा की अपनी शक्ति से होता है॥ ८-९॥

भाष्यार्थ:- स्वप्न का अंत सुषुप्ति है, उसमें होने वाला स्वानन्तिक=सौषुप्त ज्ञान, बाह्य भोग के अभाव में और संस्कार के अभाव होने पर आत्मा में मन का लयरूप =संयोग विशेष से तथा धर्म=अदृष्ट से अपने शक्ति से (ज्ञान) होता है बाह्य भोग के अभाव होने

पर और आंतरिक संस्कार के अभाव होने पर आत्म स्वरूपत्व अदृष्ट उस अदृष्ट स्वशक्ति रूप धर्म नैरमल्य से सौषुप्त ज्ञान=आनंद रूप की अनुभूति अंतरात्मा में करता है। "तथा स्वप्न स्वप्नांतिक के" ऐसा कहने पर जो पृथक सूत्र किया है वह अग्रिम सूत्र के लिए है "धर्माच्च" इस सूत्र से आंतरिक कारण को प्रदर्शित करने वाले के साथ अन्वय के लिए ("स्वनान्तिक" यह अलग सूत्र पढ़ा है) आत्मा और मन का संयोग तो अनिवार्य है, यहाँ संस्कार आवश्यक नहीं है अन्यथा स्वप्न और स्वप्नांतिक में अभेद होवे, भेद करने के लिए यह सूत्र पृथक किया गया है ॥ ८ -९॥

विविधं ज्ञानमुक्त्वाऽधुना खल्वज्ञानमुच्यते सूत्रद्वयेन—

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या॥ १०॥

तद् दुष्टज्ञानम्॥ ११॥

अनयोः सूत्रयोरेकवाक्यताऽस्ति—

(इन्द्रियदोषात्) नेत्रादिन्द्रियविकारादिन्द्रियाणामल्पदर्शनादिशक्तिमत्वात् कामलादिरोग्रस्तत्वात् (संस्कारदोषात्-च) मानसिकवासनादिवशाच्च (अविद्या) अज्ञानं भवति। न च ज्ञानाभावोऽत्राज्ञानं किन्तु (तत्-दुष्टज्ञानम्) तत् खलु दुष्टज्ञानं विपरीतज्ञानं यथा द्विचन्द्रदर्शनं शङ्खपीतत्वदर्शनं दुःखबहुले भोगे सुखज्ञानं हितवचनेऽहितवानसमये भयज्ञानं भयेऽभयभानमित्यादिकम्॥ १०-११॥

विविध ज्ञान को कह कर अब अज्ञान को बताते हैं, दो सूत्रों के द्वारा -

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविदया ॥१०॥

तद् दुष्टज्ञानम् ॥११॥

इन दोनों सूत्रों की एक वाक्यता है-

सूत्रार्थ:- इन्द्रियों की न्यूनतादि दोष और संस्कारों के दोष से मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है।

वह अविद्या दूषित ज्ञान है, दोषयुक्त है ॥ १०-११॥

भाष्यार्थ:-नेत्रादि इंद्रियों के विकार से या इंद्रियों के अल्प दिखने आदि शक्ति के कारण से कामला (पीलिया) आदि रोग ग्रास्त होने के कारण से और मानसिक वासनादि के कारण से अज्ञान होता आई। यहाँ ज्ञान का अभाव अज्ञान नहीं है किन्तु वह दुष्टज्ञान विपरीत ज्ञान है जैसे द्विचन्द्र दर्शन शंख पीतत्व दर्शन अत्यंत दु:ख के भोग में सुख का ज्ञान हित वचन में अहित ज्ञान अभय में भय का ज्ञान भय में अभय का ज्ञान इत्यादि॥१० -११॥

न तथा विद्या, कथं तर्हि ? उच्यते—

अदृष्टं विद्या॥ १२॥

(अदृष्टं विद्या) अदृष्टं ज्ञानं विद्या भवति। न केनापि कारणेन बाधकेन वा दुष्यते बाध्यते वा सर्वत्र सर्वदा तथैवावतिष्ठते॥ १२॥

विद्या वैसी नहीं है, तो कैसी है? कहते हैं-

अदुष्टं विद्या ॥१२॥

सूत्रार्थ:- शुद्ध = दोषरहित ज्ञान विद्या कहलाती है।

भाष्यार्थ:- अदुष्ट ज्ञान विद्या होती है। किसी भी कारण से या बढ़ा से दूषित होता है या बाधित होता है सर्वत्र सर्वदा वैसा ही रहती है ॥ १२॥

अथ खलु सृष्टेरादौ सिद्धानामृषीणां यन्मन्त्रदर्शनं ज्ञानं तत्कथं भवति तदानीं प्रत्यक्षलिङ्गशब्दादीनामभावात्। अत्रोच्यते—

आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्य:॥ १३॥

(सिद्धदर्शनम्-आर्षं च धर्मेभ्य:) सिद्धानां सर्वेभ्यो मानवेभ्योमन्त्राध्येतृभ्यश्च पूर्वेषां सिद्धानां मन्त्रेषु सिद्धिम्प्राप्तानां परमर्षीणां दर्शनं मन्त्रदर्शनरूपज्ञानं तत्खलु धर्मेभ्यस्तेषामन्तरे वर्त्तमानेभ्यो विशिष्टनैर्मल्यादिगुणेभ्यो भवति । एततखलु सिद्धदशनमार्षं ज्ञानं पूर्वोक्तज्ञानविकल्पाद् भिन्नमत एव सर्वान्ते प्रदर्शितम्॥ १३ ॥

अब सृष्टि के आदि में सिद्ध ऋषियों का जो मंत्र दर्शन=ज्ञान है वह कैसे होता है (क्योंकि) तब प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द आदि का अभाव होने से, यहाँ कहते हैं-

आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्य: ॥१३॥

सूत्रार्थ:- सृष्टि के आरम्भ में होनेवाले ऋषियों को ईश्वर से प्राप्त होनेवाला ज्ञान उन ऋषियों के निर्मलतादि गुणों के कारण होता है॥ १३॥

भाष्यार्थ:- सिद्धों का सभी मानवों से और मंत्र का अध्ययन करने वालों से पूर्व सिद्धों का= मंत्र में सिद्धि को प्राप्त परमऋषियों का दर्शन=मंत्र दर्शनरूप ज्ञान वह धर्म से होता है उनके अंदर विद्यमान विशिष्ट निर्मलता आदि गुणों से होता है । यह सिद्ध दर्शन= आर्ष ज्ञान पूर्वोक्त ज्ञान विकल्प से भिन्न है इसलिए सभी के अंत में दिखाया गया है ॥१३॥

द्वितीयाह्निकं समाप्तम् ।

समाप्तश्च नवमोऽध्याय: ॥

दशमोध्याय: तत्र प्रथमान्हिकम्

बुद्धयोऽर्थोन्नानाविधानि ज्ञानानि परिक्षितानि सम्प्रति क्रमप्राप्ते सुखदुःखे परीक्ष्येते-

इष्टानिष्टकारणविशेषाद् विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः॥ १॥

(सुखदुःखयोः-अर्थान्तरभावः) सुखदुःखरुभयोर्भिन्नवस्तुत्वम्, सुखं भिन्नं दुःखं भिन्नम्। यतः (इष्टा-निष्टकारणविशेषात्) इष्टकारणं स्वातन्त्र्यधनसुगन्धस्वादुभोजनादिसम्भारः सुखस्य, अनिष्टकारणं पारतन्त्र्य-निर्धनत्वदुर्गन्धास्वादुभोजनकण्टकादिसामग्री दुःखस्य। इत्थं कारणभेदात्। तथा (मिथः-विरोधात्-च) परस्परं विरोधादपि सुखदुःखे परस्परं विरुध्यते, नह्येकारधिकारणे सुखदुःखे युगपदनुभूयेतेऽथ च प्रत्यय-विरोधात् सुखे प्रसन्नवदनत्वं दुःखे दीनवदनत्वं च भवति। तस्मादपि सुखं भिन्नं दुःखं भिन्नमस्ति॥ १॥

बुद्धियाँ अर्थात् नाना प्रकार के ज्ञानों की परीक्षा कर चुके हैं अब क्रम प्राप्त सुख-दु:ख की परीक्षा की जाती है-

इष्टानिष्टकारणविशेषाद् विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ॥१॥

सूत्रार्थ:- सुख और दु:ख के भिन्न-भिन्न कारण होने से तथा परस्पर सुख और दु:ख विरोधी होने से तथा सुख के लक्षण प्रसन्नता खिन्नतादि भिन्न-भिन्न होने से सुख और दु:ख की अलग अलग सत्ता है॥ १॥

भाष्यार्थ:- सुख-दु:ख दोनों भिन्न वस्तु हैं, सुख भिन्न है दु:ख भिन्न है। क्योंकि दुष्ट कारण=स्वतन्त्रता धन सुगंध स्वाद भोजन आदि सामाग्री सुख का साधन है, अनिष्ट कारण=परतंत्रता निर्धनत्व दुर्गंधत्व अस्वादु भोजन कांटा आदि सामाग्री दु:ख का साधन है। इस प्रकार कारण भेद से (सुख -दु:ख भिन्न है)। तथा परस्पर विरोध से भी सुख-दु:ख परस्पर विरोधी है, एक ही अधिकरण (समय या स्थान) में सुख-दु:ख एक साथ अनुभव नहीं किया जा सकता और प्रत्यय (ज्ञान) का विरोधी होने से सुख में प्रसन्नवदनत्व और दुख में दीनवदनत्व होता है। इसलिए भी सुख भिन्न है दु:ख भिन्न है ॥ १॥

सुखदुःखयोः परोक्षा तयोर्ज्ञानाद् भिन्नत्वं मत्वा क्रियते, परन्तु सुख दुःखे न ज्ञानाद् भिद्येते तद्यथा सुखमहं जाने दुःखमहं जानेऽनुभूतिरेषा पुनः कथं ज्ञानादर्थान्तिरत्वं सुखदुःखयोरात्मगुणप्रसङ्गो। अत्रोच्यते—

संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः॥ २॥

(ज्ञनान्तरत्वे हेतुः) ज्ञानाद् भिन्नत्वे, सुखं दुःखं च न ज्ञानं किन्तु ज्ञानाद् भिन्ने स्त आत्मगुणौ तत्रायं हेतुर्यतो ज्ञाने तु (संशयनिर्णयान्तराभावः-च) संशयनिर्णयान्तरस्याभावोऽस्ति संशयनिर्णयान्तरं संशय-निर्णयाभ्यां भिन्नं न ज्ञानम्, संशयनिर्णयरूपं हि ज्ञानं भवति सांशयिकं ज्ञानं विपरीतज्ञानमथ च निर्णीतं ज्ञानं च भवति हि, उक्तं च पूर्वानिन्तरसूत्रेषु प्रात्यक्षिकादि ज्ञानमदुष्टं ज्ञानं तद्विपरीतं दुष्टज्ञानं च। सूत्रे चकारो निश्चयार्थः। न तथा सुखं दुःखं च ज्ञानविभागौ संशयनिर्णयाविव, अहं जाने यथार्थं विपरीतं वेति ज्ञानविशेषमम्, न तथा सुखं संशयनिर्णयभागथ च न तथा दुःखं संशयनिर्णयभाक्। तस्मात् सुखदुःखेज्ञानाद् भिन्नौ गुणौ खल्वात्मनः। अन्यभाष्यकारैः सूत्रमबुद्ध्वाविपरीतं व्याख्यातं तत्र प्रथमः-अन्तरशब्दोऽभ्यन्तरार्थे कल्पितः, स च बलाज्ज्ञाने योजिताः। न ह्यत्र ज्ञानं लक्षं यत्तस्य भिन्नत्वं सुखदुःखाभ्यां प्रदर्श्येत न च ज्ञानं स्वतन्त्रः शब्दः, ज्ञानात् सुखदुःखयोर्भिन्नत्वं लक्षं सुखदुःखशब्दौ स्वतन्त्रौ तस्मात्तदर्थकल्पना विपरीता॥ २॥

सुख-दु:ख की परीक्षा उन दोनों को ज्ञान से भिन्न मानकर की जाती है, परंतु सुख-दु:ख ज्ञान से भिन्न नहीं है जैसे मैंने जाना मै सुखी हूँ, मैंने जाना मै दु:खी हूँ यह अनुभूति फिर कैसे ज्ञान से भिन्नत्व है सुख-दु:ख आत्मा गुण प्रसंग में। यहाँ बताते हैं-

संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥ २॥

सूत्रार्थ:- संशय और निर्णय से भिन्न ज्ञान का अभाव होना निश्चय से ज्ञान से सुख दु:ख गुणों के भिन्न होने में हेतु है॥ २॥

भाष्यार्थ:- ज्ञान से भिन्नत्व में, सुख और दु:ख ज्ञान नहीं है किन्तु ज्ञान से भिन्न आत्मा के गुण हैं वहाँ यह हेतु है क्योंकि ज्ञान में तो संशय निर्णय से भिन्न का अभाव है संशय निर्णयान्तर=संशय निर्णय से भिन्न ज्ञान नहीं है, संशय निर्णय रूप ही ज्ञान होता है, सांशयिक ज्ञान विपरीत ज्ञान और निर्णीत ज्ञान होता ही है, और कहा भी है पूर्व सूत्रों में प्रात्यक्षिक ज्ञान अदुष्ट ज्ञान और उसके विपरीत दुष्टज्ञान। सूत्र में चकार निश्चय अर्थ में है। संशय निर्णय के समान वैसा सुख और दु:ख में ज्ञान का विभाग नहीं है, मैंने

यथार्थ या विपरीत जाना इस प्रकार ज्ञान का विशेषण है, वैसे सुख संशय निर्णय का भाव नहीं होता है । इसलिए सुख और दु:ख ज्ञान से भिन्न गुण आत्मा का है । अन्य भाष्यकारों ने सूत्र को न समझ कर विपरीत व्याख्या की है, पहला- अंतर शब्द अभ्यंतर अर्थ में कल्पना की है, और वह बलपूर्वक ज्ञान में जोड़ दिया । यहाँ ज्ञान लक्ष्य नहीं है कि उनका भिन्नत्व सुख-दु:ख से प्रदर्शित किया जाए और न ही ज्ञान स्वतंत्र शब्द है, ज्ञान से सुख-दु:ख कि भिन्नता लक्ष्य है, सुख-दु:ख स्वतंत्र शब्द है, इसलिए उस जैसा अर्थ की कल्पना विपरीत है ॥ २॥

हेत्वन्तरमाह—

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम्॥ ३॥

(तयोः-निष्पत्तिः) तयोः प्रथमसूत्रतः प्रकृतयोः सुखदुःखयोरुत्पत्तिः प्राप्तिर्वा (प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्यां) प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्यां ज्ञानाभ्यां भवति। खल्विन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानं जायते तदा हि तज्ज्ञानस्यानुकूल्ये सुखं प्रातिकुल्ये दुखं साक्षादनुभूयते। तथैव लिङ्गदर्शनाल्लैङ्गिकं ज्ञानं जायते तल्लैङ्गिकज्ञानस्यानुकूल्लयेदुःखं प्रातिकूल्ये दुःखमनुभुयते। न हि ततो जातं तदेव भवति तस्मात् सुखं च न ज्ञानं किन्तु ज्ञानाद् भिन्नमात्मनो गुणान्तरम। इदमपि सूत्रमन्यभाष्यकारैर्भ्रान्त्या पूर्ववद् विपरीतं व्याख्यातम्॥ ३॥

अन्य हेतु कहते हैं-

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ:- सुख और दु:ख की प्राप्ति प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञानों के आधार पर होती है अतः सुख-दुःख ज्ञान से भिन्न है॥ ३॥

भाष्यार्थ:- उन (सुख-दु:ख) दोनों प्रथम सूत्र से अनुवृत्ति आ रही है सुख और दु:ख की उत्पत्ति या प्राप्ति प्रत्यक्ष और आनुमानिक ज्ञान से होता है । जब इंद्रियार्थ सन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है तब ही उस ज्ञान के अनुकूलता में सुख प्रतिकूलता में दु:ख साक्षात अनुभूति होती है । वैसे ही लिंग दर्शन से लैंगिक का ज्ञान होता है उस लैंगिक ज्ञान के अनुकूलता में सुख प्रतिकूलता में दु:ख अनुभव होता है । जिससे उत्पन्न होता है वही नहीं होता है इसलिए सुख और दु:ख ज्ञान नहीं है किन्तु ज्ञान से भिन्न आत्मा का

गुणान्तर है। यह सूत्र भी अन्य भाष्यकारॉन ने भ्रांति से पूर्व के समान विपरीत व्याख्यात किया है ॥३॥

लैङ्गिकात् कथं सुखदुःखे भवत इत्युत्तरमिषतः पुनरपरो हेतुर्दीयते सुखदुखयोर्ज्ञानाद् भिन्नत्वे—

अभूदित्यपि॥ ४॥

(अभूत-इति-अपि) अभूत-इति खलु सुखं दुखं वा गते दिने मासे वाऽभवत् तस्य स्मरणात् पुनः सुखं दुःखमनुभवति जनः, अपि शब्दाद् भविष्यति मे सुखं जलवृष्टितोऽन्नोत्पत्त्या, पुत्रो मे प्रवासादागमिष्यतीत्याशंसनाद् भवति हि सुखं। तथा भोजनप्रापणात् तदास्वादनेनेति संकल्प्य सुखमनुभवति हि जनः, एवं दुःखप्रदं दृष्ट्वाऽनेन दुखं जातं स्मृत्या पुनर्दुःखमनुभवति, उदयतदण्डहस्तं दृष्ट्वा दुःखमनुभवति यद् दुःखयिष्यति खल्वयम्। निवत्तस्य सुखस्य दुःखस्य स्मृतिर्भवति तत् सुखं पुनः प्राप्नुयात् तद् दुःखं नाप्नुयात् सुख्यस्य दुःखस्य चास्थिरत्वात्पुनः स्मरणं भवति पुनस्तत्सुखस्य प्राप्तये तथा दुःखस्यापुनरागमनाय संकल्पो भवति। ज्ञानं तु न क्षणिकमस्थिरं वा, न हि तन्नाशप्रसङ्गो यस्य स्मरणं भवेत् तथा पुनस्तत्पाप्तिप्रसङ्गः खलु यस्य संकल्पो भवेद् यदेतद् ज्ञानं मे गते दिनेऽप्यभूदागामिनि दिनेऽपि भविष्यति वेति व्यवहारो न दृश्यते, अर्थाकारनिर्भासो ज्ञानं भोगाकारनिर्भासः सुखं दुःखं च। अनेकैर्भाष्यकारैः सूत्रमिदमन्यथा व्याख्यातम्॥ ४॥

अनुमान से कैसे सुख-दु:ख होता है इस उत्तर की इच्छा से पुन: दूसरा हेतु दिया जाता है कि सुख और दु:ख के ज्ञान से भिन्नता में-

अभूदित्यपि ॥ ४॥

सूत्रार्थ:- पहिले भी हुआ था यह बात सुख-दुःख पर लागू होती है ज्ञान पर नहीं॥४॥

भाष्यार्थ:- अभूत= सुख या दु:ख पिछले दिनों में अथवा पास में हुआ था उसका स्मरण से पुन: सुख या दु:ख को मनुष्य अनुभव करता है, अपि शब्द से जल वृष्टि होने से अन्न उत्पत्ति से मुझे सुख होगा, मेरा पुत्र विदेश से आएगा इस प्रकार के सांत्वना से सुख होता है । वैसे ही भोजन प्राप्ति से उसके आस्वादन से इस प्रकार संकल्प करके सुख क अनुभव करता है मनुष्य, उसी प्रकार दु:ख दायक घटना देख करके जिससे दु:ख हुआ

था, उसकी स्मृति से पुन: दु:ख को अनुभव करता है, मारने को उद्यत हाथ में डंडा को देखकर दु:ख का अनुभव करता है कि हम लोगों को दु:ख देगा। निवृत सुख और दु:ख की स्मृति होती है वह सुख पुन: प्राप्त होना चाहिए वह दु:ख प्राप्त नहीं होवे सुख और दु:ख के अस्थिर होने से पुन: स्मरण होता है पुन: उस सुख की प्राप्ति के लिए तथा दु:ख की पुन: अप्राप्ति के लिए संकल्प होता है। ज्ञान तो क्षणिक अथवा स्थिर नहीं है और न ही उसके नाश का प्रसंग आता है, जिसका स्मरण होवे तथा पुन: जिसका संकल्प होवे उसकी प्राप्ति का प्रसंग आता है, जो यह ज्ञान मुझे पिछले दिनों में भी हुआ था और आगामि दिनों में भी होगा ऐसा व्यवहार नहीं दिखाई देता है, अर्थ के अनुसार ज्ञान भासित होता है और भोग के अनुसार सुख और दु:ख भासित होता है। अनेक भाष्यकारों ने इस सूत्र की अन्यथा व्याख्या की है ॥ ४॥

पुनरन्यो हेतुरत्रैव दीयते—

सति च कार्यादर्शनात्॥ ५॥

(सत् च) प्रात्यक्षिके लैङ्गिके वा ज्ञाने सति चापि (कारय्दर्शनात्) सुखदुःखयोः कार्यस्य मुखप्रसादस्य मुखदैन्यस्यादर्शनात्, न हि ज्ञानकाले सुखकर्यं मुखप्रसादः दुःखकार्यं मुखदैन्यं दृश्यते तस्मात् सुखदुःखे ज्ञानाद् भिन्ने स्तो नोचेत् सुखकार्यस्य मुखप्रसादस्य दुःखकार्यस्य मुखदैन्यस्य निरन्तरं प्रवृत्तिर्भवेद् ज्ञानस्य स्थिरत्वात्॥ ५॥

पुन: अब हेतु यही दिया जाता है-

सति च कार्यादर्शनात् ॥५॥

सूत्रार्थ:-सामान्य ज्ञान पर सुख-दुःख का कार्य प्रसन्नता खिन्नता न देखे जाने से सुख-दुःख ज्ञान से भिन्न है॥५॥

भाष्यार्थ:- प्रात्यक्षिक या लैंगिक ज्ञान होने पर भी सुख का न देखा जाने से, ज्ञान के काल में सुख का कार्य की प्रसन्नता दु:ख का कार्य खिन्नता नहीं दिखाई देता है इसलिए सुख-दु:ख ज्ञान से भिन्न है, नहीं तो सुख कार्य मुख की प्रसन्नता दु:ख के कार्य मुख की खिन्नता का निरंतर प्रवृत्ति होवे ज्ञान के स्थिर होने से ॥ ५॥

अन्यच्च—

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वत्॥ ६॥

(एकारथसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात्) ज्ञानसुखदुःखानामितिशेषः, ज्ञानमात्मगुणः सुखदुःखे चाप्यात्मगुणौ ते गुणा ज्ञानसुखदुःखानि खल्वेकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृश्यन्ते। एकस्मिनन्नर्थे खल्वात्मनि समवयन्तीति तच्छिलानि कारणान्तराणि भिन्नभिन्नानि कारणानि ज्ञानसुखदुःखानां यानि तेषु दृष्टत्वाज्ज्ञान-सुखदुःखानाम्। ज्ञानस्य कारणानि सन्तीन्द्रियार्थसन्निकर्षो लिङ्गदर्शनं शब्दप्रत्ययः। सुखस्य कारणानि धर्मः सुखरागः सुखसाधनोपार्जनेच्छाप्रयत्नौ, दुःखस्य कारणानि खल्वधर्मौद्वेषो दुःखसाधनपरिग्रहचेष्टा। एतानि भिन्नभिन्नकारणानि खल्वात्मनि समवेतान्याश्रितानि तेषु भिन्नभिन्नेषु दृश्यमानानि ज्ञानसुखदुःखानि भिन्नभिन्न गुणाः सन्त्यात्मनस्तस्माज्ज्ञानाद् भिन्नं सुखं दुःखं चेति निष्कर्षः॥ ६॥

और दूसरा-

एकाथसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥ ६॥

सूत्रार्थ:- ये पदार्थ आत्मा में सम्बन्ध/ संबद्ध भिन्न-भिन्न कारणों से ज्ञान, सुख और दुःख उत्पन्न होता हुआ देखा जाने से सुख-दुःख ज्ञान में / से भिन्न है॥ ६॥

भाष्यार्थ:- ज्ञान सुख-दुःखों का यह शेष है, ज्ञान आत्मा का गुण है और सुख-दुःख भी आत्मा के गुण हैं, वे गुण ज्ञान सुख-दुःख एकार्थ समवायि भिन्न-भिन्न कारणों में देखे जाते हैं । ज्ञान सुख-दुःख के जो स्वाभाविक भिन्न-भिन्न कारण है वे ही एक अर्थ आत्मा में समवेत रहते हैं । उन (कारणों) मे इस सुख-दुःख की उत्पत्ति देखी जाने से। ज्ञान के कारण इंद्रियार्थ सन्निकर्ष लिंग दर्शन और शब्द प्रत्यय है। सुख के कारण धर्म सुख राग सुख-साधनों का उपार्जन इच्छा प्रयत्न, दुःख के कारण अधर्म द्वेष दुःख साधनों का इकट्ठा करना चेष्टा करना ये भिन्न-भिन्न कारण आत्म आमें समवेत आश्रित हैं, उन भिन्न-भिन्न कारणों में दृश्यमान ज्ञान सुख-दुःख भिन्न सुख और दुःख हैं यह निष्कर्ष है ॥ ६॥

ज्ञानसुखदुःखानि कथमेकस्मिन्नर्थे खल्वात्मनि समवेतकारणान्तरेषु दृष्टानि। अत्रोच्यते—

एकदेश इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः॥ ७॥

(एकस्मिन्) एकस्मिन् देहे (शिरः पष्ठम्-उदरं मर्माणि एकदेशः-इति तद्विसेषः) यथाऽस्य देहस्यैक-देशः-एकैकदेशो भन्नभिन्नाङ्ग शिरः पृष्ठममुदरं मर्मादिकं विशिष्टाङ्गम् (तद्विशेषेभ्यः) तद्भिन्नभिन्नकारणेभ्यः सन्ति तथैवैकस्मिन्नात्मनि

भिन्नभिन्नकारणेभ्यो निष्पन्नानि ज्ञान सुखदुःखानि सन्ति, तस्माज्ज्ञानाद् भिन्ने सुखदुःखे खल्वात्मगुणौ॥ ७॥

ज्ञान सुख-दु:ख कैसे एक ही अर्थ आत्मा में समवेत भिन्न-भिन्न कारणों में देखे जाते हैं? यहाँ बताते हैं-

एकदेश इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेष- स्तद्विशेषेभ्यः ॥ ७॥

सूत्रार्थ:- एक ही शरीर में जैसे एक भाग शिर, पीठ पेयादि कोमलाङ्ग अपने अपने भिन्न कारणों = अवयवों से उत्पन्न होता है वैसे ही आत्मा में रहनेवाले ज्ञान – सुख दुःख गुण अपने भिन्न भिन्न कारणों से उत्पन्न होते है। इसलिए सुख-दुःख से भिन्न है॥ ७॥

भाष्यार्थ:- एक ही शरीर में जैसे इस देह के एक देश=एकदेश भिन्न-भिन्न अंग शिर पीठ उदार मर्म आदि विशेष अंग हैं वह भिन्न-भिन्न कारणों (अवयवों) से उत्पन्न होते हैं, वैसे ही एक ही आत्मा में भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न ज्ञान सुख-दु:ख है, इसलिए ज्ञान से भिन्न सुख-दु:ख आत्मा के गुण हैं ॥ ७॥

[सुख-दुःख ज्ञान भिन्न भिन्न यह जाना तथा व्यवहार में लाना।

1. *विषयों का ज्ञान करके परन्तु सुखी दुःखी न हो के यह कहना है।*
2. *यह अज्ञानी स्वार्थी इस प्रकार मुझे कह रहा मै हूँ नहीं। कहता रहे ऐसी उपेक्षा से बच सकता है।*
3. *यह दोष है भी धन्यवाद देना चाहिए। अब बता दिया ?]*

॥ प्रथमाह्निकं समाप्तम् ॥

दशमोध्यायेः द्वितीयान्हिकम्

अधुना सर्वान्ते कारणं परोक्षते—

कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात्॥ १॥

(कार्यसमवायात्) कार्यं हि त्रिविधं भवति द्रव्यं गुणः कर्मेति सज्ञाभेदात्, कार्यद्रव्यं कार्यगुणः कर्यकर्म तेषां कार्याणां कार्यभूतानां द्रव्यगुणकर्मणां समवायः समवेतत्वं समवेतसम्बन्धः समवायसम्बन्धोऽविनाभावसम्बन्धः कार्यसमवायस्तस्मात् (कारमम्-इति) कारमम्-इति व्यवहारः प्रयोगो वा (द्रव्ये) द्रव्ये भवति, नान्यत्र गुणे कर्मणि वा। तस्मात् समवायात् कारणमर्थात् समवायिकारणं द्रव्यमेव भवति स्वकार्यं प्रति स्वकीयं कार्यद्रव्यं कार्यगुणं कार्यकर्म प्रति यथा तन्तवः पटस्य, फलं रसादेः, पादौ गमनस्य हस्तावादानस्य मुसलमुत्क्षेपणस्य समवायिकारणम्॥ १॥

अब सबके अंत में कारण की परीक्षा की जाती है-

कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात् ॥१॥

सूत्रार्थ:- समवायि कारण ऐसा व्यवहार द्रव्य में होता है। कार्य द्रव्य, कार्य गुण, कार्य कर्म का द्रव्य के साथ हो निश्चित सम्बद्ध होने से॥ १॥

भाष्यार्थ:- कार्य तीन प्रकार का होता है, द्रव्य गुण कर्म के संज्ञा भेद से कार्य द्रव्य कार्य गुण कार्य कर्म इनके कार्यों का कार्य भूतों का द्रव्य गुण कर्मों का समवाय समवेत संबंध समवाय संबंध अविनाभाव संबंध कार्य समवाय होता है, अन्यत्र गुण में या कर्म में नहीं होता है इस समवाय संबंध से कारण अर्थात समवायि का द्रव्य ही होता है अपने कार्य के प्रति=अपने कार्य द्रव्य कार्य गुण कार्य कर्म के प्रति जैसे तन्तु पट का (पट का समवायि कारण तन्तु होता है) रसादि के फल, गमन का पाद, आदान का हाथ, उत्क्षेपण का मूसल समवायी कारण होता है ॥ १॥

तथा—

संयोगाद्वा॥ २॥

(संयोगात्-वा) द्रव्ये कारणमिति वर्तते, वाकारः कारमान्तरविधानाय चार्थे। कार्यसमवायात् तु द्रव्ये समवायिकारणमिति व्यवहारः, तथा संयोगादपि द्रव्ये कारणमिति व्यवहारो भवति। समवायाभावात् तत्खल्वसमवायिकारणम्। यथा घटं

प्रति चक्रस्य हस्तस्य वा संयोगात् खलु चक्र हस्तोऽसमवायिकारणम्, पटं प्रति तुर्याः संयोगात् तुरी भवत्यसमवायिकारणम्। यद्वा द्रव्ये कारणमिति व्यवहारो द्विविधो भवति कार्यसमवायात् संयोगाच्च, तत्र प्रथमं समवायिकारणमुत्तरमसमवायिकारणमिति। संयोगाद्वा द्रव्ये कारणत्वमसमवायिकारणत्वं तु वैकल्पिकं द्रव्यादन्यत्रापि तस्य प्रक्रान्तत्वातच्चाग्रे वक्ष्यत्याचार्योऽत एवात्र वा शब्दः प्रयुक्तः, परन्तु कार्यसमवायाद् द्रव्ये समवायिकरणत्वं नित्यमेव सत्य द्रव्यादन्यत्रासम्भवादिति विवेकः॥ २॥

वैसे-

संयोगाद्वा ॥२॥

सूत्रार्थः- अवयव में संयोग के कारण भी तन्तु द्रव्य को समवायि कारण कहते है॥

भाष्यार्थः- द्रव्य में कारण रहता है, वकार दूसरे कारण के विधान के अर्थ में है। कार्य के समवाय (संबंध) से तो द्रव्य में समवायि कारण का व्यवहार होता है, तथा संयोग से भी द्रव्य में कारण का व्यवहार होता है । समवाय (संबंध) के अभाव से वह असमवायि कारण होता है। जैसे घट के प्रति चक्र का या हाथ का संयोग से चक्र हस्त समवायि कारण होता है, पट के प्रति तुरी के संयोग से तुरी असमवायि कारण होता है । अथवा द्रव्य में कारण का व्यवहार दो प्रकार का होता है, कार्य के समवाय से और संयोग से, वहाँ प्रथम समवायि कारण है बाद वाला असमवायि कारण है। संयोग से द्रव्य मेन कारणत्व=असमवायिकारणत्व तो वैकल्पिक द्रव्य से अन्यत्र भी उसका प्रकारांतत्व होने से वह, आगे आचार्य बताएगे इसलिए यहाँ वा शब्द का प्रयोग किया गया है, परंतु कार्य समवाय से द्रव्य मेन समवायिकारणत्व नित्य ही रहता है उस द्रव्य से अन्यत्र असंभव होने से, ऐसा जानना चाहिए ॥२॥

अद्रव्येऽपि भवत्यसमवायिकारणव्यवहारस्तत्र प्रथमं कर्मणि दर्शयति सूत्रकारः—

करणे समवायात् कर्माणि॥ ३॥

(कर्माणि) कर्माणि भवन्त्यसमवायिकारणानि, परन्तु न स्वतन्त्राणि साक्षाद्वा, किन्तु (कारणे समवायात्) वस्तुतः संयोगविभागवेगानां कार्याणां कार्यगुणानां कारणानि कर्माणि, संयोगविभागवेगाश्च कारणे द्रव्ये समवायन्ति तत्रैव कारणे द्रव्ये कर्माण्यपि समवयन्ति, तत्र कारणे द्रव्ये कर्मणां समवायात् समवायसम्बन्धेन वर्तमानत्वात् कर्माणि खल्वपि परम्परया भवन्त्यसमवायिकारणानि। समवायिकारणं तु

तन्तुप्रभृतिकं द्रव्यमेव तत्कार्यद्रव्यस्य पटादिकस्य तथा संयोगादिगुणानां कर्मणां चापि॥ ३॥

अद्रव्य में भी असमवायिकारण का व्यवहार होता है उनमें प्रथम कर्म को दिखाते हैं-

कारणे समवायात् कर्माणि ॥३॥

सूत्रार्थ:- कारण (तन्तु) में सम्बद्ध होने से कर्म संयोगादि गुणों के असमवायि कारण होते है।

भाष्यार्थ:- कर्म असमवायि कारण होता है, परंतु स्वतन्त्र या साक्षात नहीं, किन्तु वस्तुत: संयोग विभाग वेग कार्यों का कार्य गुणों का कारण कर्म है, संयोग विभाग और वेग कारण द्रव्य में समवेत रहते हैं, वहीं कारण द्रव्य में कर्म भी समवेत रहते हैं, उन कारण द्रव्य में कर्मों का समवाय से=समवाय संबंध से वर्तमान होने से कर्म भी परम्परा से असमवायि कारण होते हैं । समवायि कारण तो तन्तु आदि द्रव्य ही होता है उस कार्य द्रव्य का तथा संयोग आदि गुणों का और कर्मों के भी ॥३॥

अथ गुणेऽसमवायिकारमव्यवहारं दर्शयति—

तथा रूपे कारणैकार्थसमवायात्॥ ४ ॥

(तथा रूपे कारणैकार्थसमवायात्) तथा रूपे रूपादौ रूपरसस्पर्शेषु खल्वसमवायिकारणव्यव-हारोऽस्ति। रूपादिकमसमवायिकारणं भवति कार्यरूपादिकस्य, यतो यदवयविद्रव्यं कार्यं तस्यावयविनो द्रव्यस्य कारणमवयवद्रव्यमेकोऽर्थः समानाधिकरणं रूपादिकस्यावयविद्रव्यस्य च तत्र कारणाखैकाधिकरणे द्वयोरपि समवायात् समवायसम्बन्धात् कारणस्थं रूपादिकमसमवायिकारणं भवति कार्यरूपादिकस्यावयवि-द्रव्यस्थितस्य। अन्योव्याख्यामार्ग:-कार्यरूपादिकस्यावयविद्रव्यं समवायिकारणं तेन कारणेनावयविना द्रव्येण सहैवैकस्मिन्नर्थेऽवयवाख्येऽधिकरणे कार्यरूपादिकं समवैति यथाऽवयविद्रव्यं समवैति तथाऽवयवि-रूपादिकमपि समवेति यतोऽवयविद्रव्यस्य कारणमवयवरूपमस्ति तच्चावयवरूपादिकमवयवे समवैति, अवयवे वर्तमानं सदेव रूपादिको गुणोऽवयविनि वर्तते करणैकाथसमवेतत्वेन कारणगुणपूर्वक्त्वेन कार्यगुणप्रादुरभावाद्धेतो रूपादिको गुणोऽसमवायिकारमम्॥ ४॥

अब गुण में असमवायि कारण का व्यवहार को दिखाते हैं-

तथा रुपे कारणैकार्थसमवायात् ॥४॥

सूत्रार्थ:- वैसे ही रूपगुण में असमवायि कारण का व्यवहार होता है दो कारण एक ही वस्तु में सम्बद्ध होने से।

भाष्यार्थ:- वैसे ही रूप में=रूपादि में= रूप रस स्पर्श में असमवायि कारण का व्यवहार होता है। रूप आदि असमवायिकारण होता है कार्य रूप आदि का, क्योंकि जो अवयवि द्रव्य कार्य है उस अवयवी द्रव्य का कारण अवयव द्रव्य होता है यह एक अर्थ है। और समानाधिकरण है रूप आदि का और अवयवि द्रव्य का वहाँ कारण नामक एक अधिकरण में दोनों ही समवाय से=समवाय संबंध से कारणस्थ रूप आदि असमवायि कारण होता है कार्य रूप आदि का अवयवि द्रव्य स्थित का।

व्याख्या का दूसरा मार्ग-कार्य रूप आदि का अवयवि द्रव्य समवायि कारण है उस कारण से अवयवि द्रव्य के साथ एक ही अर्थ में अवयव नामक अधिकरण में कार्य रूप आदि समवेत होता है जैसे- अवयवि द्रव्य समवेत होता है वैसे अवयवि रूप आदि भी समवेत होता है क्योंकि अवयवि रूप आदि अवयव में समवेत रहता है, अवयव में अविद्यमान होता हुआ ही रूप आदि गुण अवयवि में रहते हैं कारण एकार्थ समवेतत्व से=कारण गुण पूर्वक कार्य गुण उत्पन्न होने से इस हेतु से रूप आदि गुण असमवायि कारण है ॥ ४॥

अन्यच्च—

कारणसमवायात् संयोगः पटस्य॥ ५॥

(संयोगः कारमसमवायात् पटस्य) संयोगोऽसमवायिकारणं भवति कारणेषु खल्ववयवेषु समवायात्, यथा-पटस्य पटकारणेषु तन्तुषु समवेतत्वात् संयोगोऽसमवायिकारणं साक्षादस्ति, तन्तुषु संयोगः साक्षाद् दृश्यते हि। अत्र संयोगः कारणवर्ती गुणोऽस्ति न तु कार्यवर्ती, तस्मात् कारणसमवायादुक्तो हेतुः॥ ५॥

और दूसरा-

कारण समवायात् संयोगः पटस्य ॥५॥

सूत्रार्थ:- तन्तुओं में होने से संयोग पट कारण असमवायि कारण होता है।

भाष्यार्थ:- संयोग असमवायि कारण होता है कारण अवयवों में समवेत होने से, जैसे पट का पट के कारणों तंतुओं में समवेत होने से संयोग असमवायि कारण साक्षात है, तंतुओं मे संयोग साक्षात देखा जाता है यहाँ संयोग कारणवर्ती गुण है, न कि कार्यवर्ती, इसलिए कारण के समवाय से हेतु कहा गया है ॥ ५॥

स च संयोगः—

कारमकारणसमवायाच्च॥ ६॥

(कारणकारणसमवायात्-च) क्वचित् संयोगः कारणस्य कारणे समवेतत्वादपि भवत्यसमवायि-कारणम्। यथातुलपिण्डे तुलराशौ वा यन्महत्त्वं महत्परिमाणं तस्य कराणं समवायिकारणं तुलपिण्डस्तुल-राशिर्वा, तुलपिण्डस्य तुलराशेः कारणस्य कारणं समवायिकारणं तुलावयवा तुलांशवस्तेषु कारणभूतेषु तुलावयवेषु समवेतस्तेषां शिथिलसंयोगः, स एष संयोगः कारमस्य कारणे समवेतत्वाद् भवत्यसमवायि-कारणं महत्तुलपिण्डस्य महत्परिमाणस्य च॥ ६॥

और वह संयोग-

कारणाकारणसमवायाच्च ॥६॥

सूत्रार्थ:- कारण के कारण में सम्बद्ध होने से भी संयोग असमवायि कारण कहलाता है। (जैसे तूलांशु तूल तथा महत्परिमाण का)

भाष्यार्थ:- कोई संयोग कारण के कारण में समवेत होने से भी असमवायि कारण होता है । जैसे कपास के पिंड में या कार्पास की राशियों में जो महत्व= महत परिमाण है उसका कारण= समवायिकारण कार्पास के पिण्ड या कपास के राशि है । तूल पिण्ड का या तूल राशि के कारण का कारण समवायि कारण तुलावयव या तुलांश है उन कारणभूत तूल अवयवों में समवेत है । उनका शिथिल संयोग वह यह संयोग कारण के कारण में समवेत होने से महत तूलपिण्ड का और महत परिमाण का असमवाययि कारण होता है ॥ ६॥

अथ च—

संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम्॥ ७॥

(अग्नेः-वैशेषिकम्) अग्नेः खलु वैशेषिकं कारणत्वं समवाय्यसमवायिकारणत्वाभ्यां विशिष्टं भिन्नं कारणत्वं निमित्तकारणत्वं भवति, अग्निर्निमित्तकारणं भवति पाकजधर्माणां रूपादीनामित्यर्थः। कथमित्य-च्यते (संयुक्तसमवायात्) अग्निना संयुक्तेषु घटफलादिषु तद्रूपादीनां समवेतत्वात् तेषामग्निर्निमित्तकारणं। जडेषु, कालोऽपि “कारणेन कालः” (६/१/२६) इत्युक्तत्वात् वैशेषिकमेवात्र निमित्तकारणपरनामकमन्यथा हि भाष्यकारैः कल्पितं निमित्तकारममुत्सूत्रं स्यात्। इत्थमेवान्यत्र तथा तद्गुणा ज्ञानादयश्च निमित्तकारणमि-त्युत्प्रेक्षम्॥ ७॥

संयुक्तसमवायादग्नेवैशेषिकम् ॥७॥

सूत्रार्थ:- अग्नि से संयुक्त घट फलादि में नये लाल रूपादि गुणों के सम्बद्ध रहने से अग्नि द्रव्य रूपादि का निमित्त कारण है।

भाष्यार्थ:- अग्नि का वैशेषिक=कारणत्व=समवायि और असमवायि कारण से विशिष्ट=भिन्न कारणत्व=निमित्त कारणत्व होता है, अग्नि निमित्त कारण होता है पाकज धर्म रूप आदि का। कैसे कहा जाता है? अग्नि से संयुक्त घट फल आदि में उन रूप आदि का समवेत होने से उनका अग्नि निमित्त कारण है। जड़ों में, काल भी "कारणेन काल: " (६-०१-२६)इस प्रकार कहा गया होने से। वैशेषिक का ही यहाँ दूसरा नाम निमित्त कारण है, अन्य भाष्यकारों ने अन्यथा ही कल्पना की है कि निमित्त कारण ही सूत्र होवे। इस प्रकार से अन्यत्र संयुक्त समवेतों में ज्ञान आदि गुणों वाला चेतन जीवात्मा और परमात्मा है तथा उनके ज्ञान आदि गुण निमित्त कारण हैं इस प्रकार जान लेना चाहिए॥ ७॥

अधुना शास्त्रान्ते सूत्रद्वयेन शास्त्रस्योपसंहारः क्रियते—

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय॥ ८॥

(दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगः-अभ्युदयाय) "अथाथो धर्मं व्याख्यायामः" इति धर्मव्याख्यानप्रतिज्ञा, व्याख्यातश्चासौ तत्त्वज्ञानाख्यो विशिष्टधर्मः। "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" इति धर्मात् साध्यं प्रयोजनं द्विविधमभ्युदयो निःश्रेयसश्च, तत्र दृष्टानां कर्मणां दृष्टफलवतां दृष्टप्रयोजनाभावे दृष्टफलाभावे प्रयोगः प्रयोजनं फलमभ्युदयाय-अभिमुखीभूतायदयायोत्कर्षायेह जन्मनि परजन्मनि वा भवति न ह्यत्र फलेऽविश्वासः कार्यः॥ ८॥

अब शास्त्र के अंत में दो सूत्रों के द्वारा शास्त्र का उपसंहार किया जाता है-

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ॥८॥

सूत्रार्थ:- तत्काल फल देनेवाले कर्मों का तत्काल फल प्राप्ति न होने पर उनका फल आगे भविष्य में मिलेगा।

भाष्यार्थ:- "अथातो धर्म व्याख्यास्याम:" इस प्रकार धर्म की व्याख्या करने वाली प्रतिज्ञा है (इस शास्त्र की) और इस व्याख्या से तत्वज्ञान नामक विशिष्ट धर्म का कथन है। "यतोऽभ्युदय नि:ऽश्रेयससिद्धि स धर्म:" इस धर्म सिद्धि करने योग्य प्रयोजन दो प्रकार

का है अभ्युदय और नि:श्रेयस, वहाँ दृष्ट कर्मों का शीघ्रफल वालों का दृष्ट प्रयोजन के अभाव में दृष्ट फल के अभाव में प्रयोग=प्रयोजन फल अभ्युदय के लिए अभिमुख भूत उदय=उत्कर्ष के लिए इस जन्म में या पर जन्म में होता है यहाँ फल में अविश्वास नहीं करना चाहिए ॥ ८॥

यतः—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति॥ ९॥

(तद्वचनात्) अत्र शास्त्रे यदात्मादिद्रव्याणां तद्गुणकर्मणां वैशेषिकधर्माणां विशिष्टधर्मपदवाच्यानां तत्त्वज्ञानानां व्याख्यानं कृत तत्राविश्वासेन न भवितव्य यतोऽत्र व्याख्यातस्य धर्मस्याश्रयः खल्वाम्नायस्त-द्वचनं धर्मप्रवचनशास्त्रं वेदस्तस्माद् धर्मप्रवचनशास्त्राद् धर्मप्रवचनशास्त्रत्वात् (आम्नायस्य) तस्य वेदस्य (प्रामाण्यम्-इति) अत्र वैशेषिकदर्शने प्रमाण्यं कृतम्, वेदं प्रमाणीकृत्य हि व्याख्यातो धर्मो न हि सन्देहावसरोऽत्रेति शुभं शमाप्तं शास्त्रम्॥ ९॥

क्योंकि-

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति ॥९॥

सूत्रार्थ:- धर्म प्रवचन शास्त्र होने से वेद का प्रमाण है इस शास्त्र में बताए गए तत्व ज्ञान के संबंध में।

भाष्यार्थ:- इस शास्त्र में जो आत्मादि द्रव्यों का उनके गुण कर्मों का विशिष्ट धर्मों का विशिष्ट पद वाच्यों का तत्वज्ञानों का व्याख्यान किया गया उनमें अविश्वास नहीं होना चाहिए क्योंकि यहाँ व्याख्यात धर्म का आश्रय आम्नाय (वेद) है उनके वचन धर्म प्रवचन शास्त्र वेद हैं इसलिए धर्म प्रवचन शास्त्र होने से धर्म प्रवचन शास्त्र वाला होने से उस वेद का इस वैशेषिक दर्शन में प्रामाणिकता स्वीकार की गयी है, वेद को प्रमाण मान करके ही धर्म की व्याख्या की गई है संदेह का कोई अवसर नहीं है यहाँ, इस प्रकार शुभ समाप्त शास्त्र का हुआ ॥ ९॥

द्वितीयाह्निकं समाप्तम्।

समाप्तगतश्च दशमोऽध्याय:,

वैशेषिकदर्शनं ब्रह्ममुनिभाष्योपेतं च पूर्तिमगात् ॥

-------x-------